श्री नित्यपाठ दीपिका

ॐ

अवधूत समर्थ श्री नित्यानंदजी
महाप्रभुजी बापजीश्री

के

अनन्य कृपा-पात्र

अनन्त श्रीविभूषित परम वन्दनीय

श्रीमद् जयनारायणजी बापजीश्री

कृत

श्री नित्यपाठ दीपिका

ॐ

श्री सद्गुरुचरण कमलेभ्यो नमः

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी सं. 2063
महाशिवरात्रि, दि. 16 फरवरी 2007

तृतीय संस्करण

ब्रह्म श्रौत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ पूज्यपाद
श्री जयनारायणजी बापजी श्री

आविर्भाव
चैत्र शुक्ल नवमी, रामनवमी
सोमवार, संवत् 1953
दिनांक 23 मार्च 1896
आगर (म.प्र.)

महानिर्वाण
कार्तिक कृष्ण षष्ठी सं. 2002
दिनांक 26 अक्टूबर 1945
श्री नित्यानंद आश्रम धौंसवास (रतलाम)

प्रकाशक
प्रवर समिति
श्री नित्यानंद आश्रम, धार (म.प्र.

मुद्रक
ऋषि ऑफसेट
माहेश्वरी भवन गोलामंडी, उज्जैन
फोन- 0734-2551307, मो. 9425091161
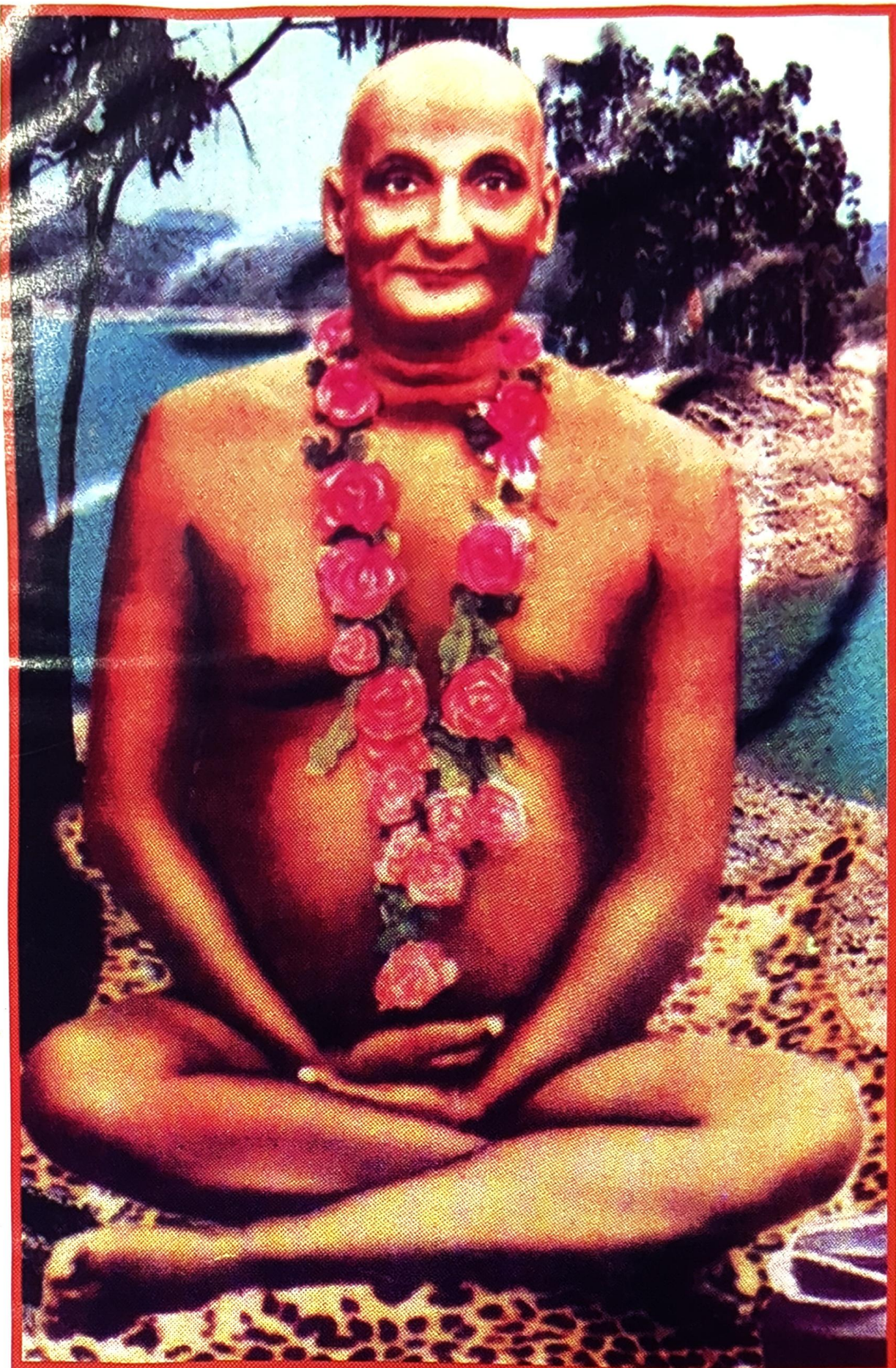
समर्थ अवधूत श्री नित्यानंद जी महाप्रभु जी बापजी

प्रस्तावना

ॐ

अनन्त श्री विभूषित, ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, पूज्यपाद श्रीमद् जयनारायणजी बापजी श्री

परब्रह्म परमात्मा स्वरूप, समर्थ अवधूत सद्गुरुदेव श्री नित्यानंदजी महाप्रभुजी बापजी श्री के अनन्य कृपा-पात्र स्वनाम धन्य, प्रातः स्मरणीय, पूज्यपाद, परम वंदनीय श्री जयनारायणजी बापजी श्री का परम पावन जीवन चरित्र उनकी उच्चकोटि की साधना, कठोर संयम, अपूर्व त्याग, तपस्या, तितिक्षा एवं श्री गुरुदेव के प्रति अनन्य निष्ठा एवं उत्कृष्ट कोटि की गुरु भक्ति तथा सेवा बापजी श्री के भक्तों के लिये प्रकाश स्तंभ की भांति है। उनका जीवन चरित्र तथा अलौकिक दिव्य साधना, गुरु भक्तों के लिये प्रेरणा एवं गुरु भक्ति का अनुपम स्रोत है।

ऐसे दिव्य महापुरुष का आविर्भाव चैत्र शुक्ल नवमी (रामनवमी), सवंत् 2053 तदानुसार 23 मार्च 1896 को मध्यान्ह 12 बजे श्रीराम जन्म के समय आगर जिला शाजापुर (म.प्र.) में हुआ था। आपके पिता पं. बल्देवदासजी उपाध्याय, परम वैष्णव, पुष्टिमार्गीय प्रसिद्ध कीर्तनाचार्य थे। आपकी माता का नाम पुण्यशीला श्रीमती मथुराबाई था।

परिवार के तपोमय आध्यात्मिक वातावरण में ही आपका लालन-पालन हुआ तथा बचपन से ही अनेकों प्रसिद्ध संतों के सम्पर्क में आने का आपको सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आगर में ही अध्ययन करते हुए आपने सभी परीक्षायें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की तथा वकालात करना प्रारंभ कर दिया। इसी बीच सौभाग्य से आप पूज्यपाद पं. श्रीलालजी साहब पण्ड्या के सम्पर्क में आयें। और धार में उनके पास रहते हुए उनके मार्गदर्शन एवं प्रेरणा से गंभीर आध्यात्मिक साधना में जुट गये। श्री पं. श्रीलालजी साहब के सान्निध्य में रहते हुए उन्होनें ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर पंचकेशी धारण की तथा उनके मार्गदर्शन में गायत्री की उपासना प्रारंभ कर दी तथा धार में रहकर ही आपने अनेकों उच्चकोटि के आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया।

यद्यपि बापजी श्री की शरण में आने के बाद समर्थ गुरुदेव की कृपा से आपको परम सिद्धि प्राप्त हुई परंतु पू. श्रीलालजी साहब के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा और पूज्य आदर भाव अन्तिम समय तक बना रहा।

सन् 1911 में आपका विवाह शाजापुर के श्री भीकमजी भट्ट की सुलक्षणा कन्या कलावती देवी के साथ सम्पन्न हुआ परंतु इससे आपकी आध्यात्मिक साधना और प्रगति में कोई बाधा नहीं आई। आध्यात्मिक साधना के साथ साहित्य के क्षैत्र में भी आपकी अद्भुत प्रतिभा थी। सन् 1912 से 1916 की अवधि में आपके कई काव्य संग्रह प्रकाशित हुए तथा उस समय की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं में आपकी अनेकों रचनाएँ भी प्रकाशित हुई थी। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती, मराठी आदि अनेकों भाषाओं के आप प्रकांड पंडित थे।

परम पूज्य श्रीलालजी साहब से मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त कर आपने सन् 1920 से

आगर के प्रसिद्ध बैजनाथ महादेव मंदिर में गायत्री के नियमित अनुष्ठान का श्रीगणेश कर दिया। साधना भी इतनी परिपक्व थी कि स्वयं बैजनाथ महादेव को उनके एक विशेष मुकदमें की जोरदार पैरवी करने अदालत में जाना पड़ा था। जबकि पूज्य श्री जयनारायणजी बापजी श्री उस समय बैजनाथ मंदिर में ध्यानस्थ हो गये थे और समय निकल चुका था।

मई 1927 में पूज्य श्रीलालजी साहब के साथ बापजी श्री के दर्शनों का प्रथम सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ था तभी नजर निहाल गुरुदेव की दृष्टि उन पर पड़ गई थी। समर्थ सद्गुरुदेव बापजी श्री तो अपने नित्यानंद स्वरूप में निमग्न, परम विरक्त, निस्प्रह, निर्द्वन्द, वीतरागी, अवधूत परमहंस थे। परंतु ऐसे दिव्य महापुरुषों को भी अपने सुयोग्य पात्र शिष्यों की प्रतीक्षा रहती है। अतः जब जनवरी माह के अंत में सन् 1932 में जब श्री जयनारायणजी बापजी श्री गुरुदेव के दर्शनार्थ पुनः धौंसवास पधारे तो समर्थ गुरुदेव ने अपनी कृपादृष्टि से आपको निहार कर सदा सर्वदा के लिये अपनी शरण में ले लिया। यह अत्यंत ही विलक्षण संयोग था। श्री पू. जयनारायणजी बापजी श्री ने भी समर्थ गुरुदेव का दृष्टिपात होते ही अपनी युवा पत्नी, घर-बार, परिवार, धन, संपत्ति के रक्षण की चिन्ता किये बगैर तत्क्षण सर्वस्व त्याग कर श्री गुरुदेव के पतित पावन श्री चरणों में हमेशा के लिये अपने आप को पूर्णतः समर्पित कर दिया।

शास्त्र की नीति है कि परमज्ञानी, उग्र तपस्वी और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न महापुरुषों को सद्गुरुदेव इशारे या संकेत से ही सावधान कर देते है। ऐसे महापुरुषों को पोथी पत्रों या प्रवचन और उपदेश की आवश्यकता नहीं होती है। समर्थ गुरुदेव का संकेत पाकर बापजी श्री की शरण में आने के पश्चात् श्री पू. जयनारायणजी बापजी श्री ने बहुत ही अल्प समय में अपनी उत्कृष्ट गुरु भक्ति, कठोर साधना, अनन्य निष्ठा, सेवा, संयम और अपूर्व त्याग के द्वारा समर्थ गुरुदेव की असीम कृपा एवं आशीर्वाद के फलस्वरूप शीघ्र ही परम पद प्राप्त कर लिया। श्रीगुरुदेव ने उन्हें नर से साक्षात् नारायण बना दिया। इतना ही नहीं भक्तों के कल्याणार्थ अपनी समस्त विभूतियाँ भी आपको प्रदान कर दी। अब बापजी श्री और श्री पू. जयनारायणजी बापजी में कोई अतंर नहीं रहा। अब वे छोटे बापजी श्री के रूप में श्रीगुरुदेव के भक्तों के परम आराध्य और वंदनीय बन गए। समर्थ गुरुदेव की कृपा से आप परम सिद्ध हो गये। श्री गुरुदेव ने स्वयं की उनकी महिमा बढ़ाई।

अवतारी महापुरुष, अवधूत श्री गुप्तानंदजी महाराज, अवधूत श्रीकेशव भगवान एवं समर्थ अवधूत श्री नित्यानंदजी बापजी श्री जैसे अलौकिक एवं दिव्य अवधूतों की महान परम्परा में बिना सन्यास लिये सद्गुरुदेव की कृपा से परमपद प्राप्त कर लेना असाधारण बात है। इसीलिये इस परम्परा में बापजी श्री के बाद सर्वप्रथम स्थान श्री पूज्य श्री जयनारायणजी बापजी श्री का ही है।

समर्थ गुरुदेव की कृपा दृष्टि से परम सिद्ध होकर पू. श्री जयनारायणजी बापजी श्री ने बापजी श्री के भक्तों पर कृपा करते हुए अनेकों भक्तों को दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से मुक्त किया। उनकों विभिन्न संकटों से मुक्त कर जीवनदान दिया साथ ही उनके कल्याणार्थ गुरुदेव के आश्रमों को उत्कृष्ट आध्यात्मिक ऊर्जा का केन्द्र बनाया। श्री गुरुदेव की सेवा और भक्ति किस प्रकार हो इसका आदर्श उन्होनें स्वयं प्रस्तुत किया। श्री गुरुदेव की महिमा का विस्तार करते हुए गुरुदेव के अलौकिक दिव्य स्वरूप, महानता और गुरु सेवा की मर्यादाओं से भक्तों को अवगत कराया। श्री गुरुदेव के सान्निध्य में

आश्रम की मर्यादा व्यवस्थित कर भजन, पूजन, जप-तप, हवन, अनुष्ठान आदि के कार्यक्रम प्रारंभ कर भक्तों के आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। श्री गुरुदेव के आश्रमों पर बड़े-बड़े अनेकों यज्ञ-यागादिक विशाल स्तर पर लोक कल्याण हेतु सम्पन्न होने लगे। यह परम्परा अभी भी अनवरत चली आ रही है। अरबों की संख्या में प्रणव मंत्र 'ॐ' भक्तों से लिखवा कर नार और हरिद्वार में प्रणव मंदिर स्थापित करने का अभूतपूर्व कार्य किया।

महान अवधूतों के आत्मविज्ञान से परिपूर्ण आर्ष साहित्य, चौदह रत्न गुप्तसागर, गुप्तज्ञान गुटका, तत्वज्ञान गुटका, श्री नित्यानंद विलास आदि ग्रंथों के पदो का संकलन करवा कर भक्तों के माध्यम से उनका प्रकाशन करवाया।

इन्हीं सब आध्यात्मिक कार्यक्रमों के चलते हुए आपने समर्थ श्री सद्गुरुदेव की उपासना के रूप में भक्तों के कल्याणार्थ 'श्री नित्यपाठ' आरती का क्रम प्रातः एवं सायं नियमित रूप से प्रारंभ किया। बापजी श्री के भक्तों के लिये यह आरती ही सर्वस्व है, जिसे पूज्य जयनारायण बापजी श्री ने प्रारंभ किया था। सद्गुरुदेव की प्रार्थना स्वरूप यह आरती, 'नित्यपाठ' सामान्य आरती नहीं है। इसमें महान अवधूतों की वाणी में समस्त वेद उपनिषद, पुराण एवं महान आध्यात्मिक साधनों का सरल एवं सूक्ष्म रूप में प्रस्तुति करण है। आज 65-70 वर्षो के बाद भी श्री गुरुदेव की आरती सभी आश्रमों पर प्रातः सायं नियमित रूप से की जाती है। हजारों गुरु भक्त भी परिवार सहित इस क्रम को जारी रखे हुए है समस्त ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण यह आरती श्री जयनारायणजी बापजी श्री की गुरुभक्तों को महान देन है।

श्री पू. जयनारायणजी बापजी श्री ने समर्थ गुरुदेव की आराधना स्वरूप न केवल आरती 'नित्यपाठ' का क्रम ही प्रारंभ किया अपितु सम्पूर्ण शास्त्रोंक्त एवं प्रामाणिक व्याख्या के रूप में 'श्री नित्य-पाठ दीपिका' ग्रंथ की रचना कर आरती के परम गोपनीय सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्य से भी भक्तों को अवगत कराया। इस महान ग्रंथ में आपने समस्त वेद, उनिषद, श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के प्रामाणिक उद्धरणों के साथ ही चौदह रत्न गुप्तसागर, श्री नित्यानंद विलास, अवधूत गीता, श्रीमद् भागवत, भगवद्गीता, वेदान्त बालबोधनी, रामायण, योग वशिष्ठ, अध्यात्म रामायण, विवेक चूड़ामणि, महाभारत, आचार्य भाष्य, मनुस्मृति, सार सूक्तावली, ज्ञान माला, योग सूत्र, नारद भक्तिसूत्र, अष्टावक्र गीता आदि अनेकानेक आर्ष ग्रंथों, महान संतों, ऋषियों एवं भक्त कवियों के उद्धरणों के साथ आरती के प्रत्येक पद की अनुपम समीक्षा कर श्री गुरुदेव के भक्तों पर महान कृपा की है। आपका ज्ञान कितना अगाध, असीम और व्यापक था इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

बापजी श्री सेवा में आने के पश्चात् मात्र 2-3 वर्षों में ही उन्होनें कठोर साधना, तितिक्षा, त्याग एवं गुरुभक्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया उसका वर्णन असंभव है। गुरुदेव की निरंतर सेवा, आश्रम एवं भक्तों की निष्काम सेवा तथा कल्याणकारी आध्यात्मिक आयोजनों में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी 'श्री नित्यपाठ दीपिका' ग्रंथ की रचना और उसमें उल्लेखित सभी महान ग्रंथों का आपने कब अध्ययन किया यह बड़े आश्चर्य की बात है। ऐसा कोई उपनिषद एवं ग्रंथ नहीं था जिसका उन्होनें पूर्ण तात्विक विवेचन नहीं किया हो। महापुरुषों के उद्धरण देकर आपने श्री गुरुदेव की महिमा बढ़ाई।

'श्री नित्यपाठ दीपिका' ग्रंथ का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् 1935 में हुआ था। तब अनेकों श्रद्धालु भावुक भक्तों ने इस ग्रंथ को बड़े प्रेम से पढ़ा, यहां तक कि विदेशों में रहने वाले भक्तों ने भी इसे

मंगवाकर पढ़ा। उस समय अनेकों गणमान्य, विद्वान एवं सुहृद भक्तों ने इसकी बहुत प्रशंसा की थी। वेदों के महान विद्वान भारत रत्न श्रीपाद दामोदर सातवलेकर को जब एक गुजराती भक्त के माध्यम से इस ग्रंथ को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो आश्चर्य चकित रह गये। उन्होनें कहा था "मैनें अपना सम्पूर्ण जीवन वेदों के अध्ययन और ब्रह्म की खोज में लगा दिया परंतु ब्रह्म क्या है उसके बारे में कुछ भी नहीं समझ पाया परंतु जिन महापुरुष ने इस ग्रंथ की रचना की है और अपना नाम भी नहीं दिया है वे महान पुरुष परम वंदनीय है।"

वास्तव में श्री पू. जयनारायणजी बापजी श्री गुरुदेव की कृपा से ब्रह्मपद को प्राप्त करने में सफल हुए थे, और ब्रह्म श्रौत्रिय तो वे थे ही। ब्रह्म श्रौत्रिय, ब्रह्म निष्ठ, सद्गुरुदेव अपने प्रिय सुपात्र शिष्य को अभय दान देकर उसे ब्रह्मस्वरूप प्रदान कर अपने समान ही बना लेते है। जिस साधना, तप, त्याग और गुरु भक्ति से पूज्य जयनारायणजी बापजी श्री ने समर्थ गुरुदेव के अनन्य कृपा प्राप्त की थी, उसी साधना मार्ग को आपने गुरुदेव के भक्तों के लिए इस ग्रंथ के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

आपने इस ग्रंथ में आरती की जीवभाव एवं शिवभाव से सम्पूर्ण पदों की विशद व्याख्या की है। एक गुरु भक्त की प्रार्थना होने से 'वंदे गुरुदेव' आरती की विस्तृत समीक्षा नहीं की है। बापजी श्री के भक्तों के लिये यह ग्रंथ अत्यंत प्रेरक एवं मार्गदर्शक है। श्री गुरुदेव की आरती तो हम सब करते है परंतु इसके रहस्य एवं सूक्ष्म तत्वार्थ को समझे बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। ब्रह्मविद्या का अधिकारी एवं सद्गुरु कैसे हो इसको समझे बिना ब्रह्म विद्या को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। समर्थ गुरुदेव की भक्ति उपासना और सेवा किस प्रकार की जाए जिससे हमारा जीवन सफल हो जाए। इन्हीं सब बातों का सार इस ग्रंथ में दिया गया है। आपके द्वारा निर्देशित मार्ग एवं उपासना पद्धति को अपना कर ही हम समर्थ सद्गुरुदेव की कृपा प्राप्त कर सकते है। इसके लिये हमें पूर्ण मनोयोग से इस ग्रंथ का बारम्बार अध्ययन करना चाहिए।

श्री पू. जयनारायणजी बापजी श्री ने पुनः इस ग्रंथ का विस्तार कर सन् 1937 में गुरुभक्त श्री अम्बालाल अम्थालाल गौर नार के माध्यम से प्रकाशित करवाया था। पिछले दिनों समर्थ महाप्रभुजी की असीम कृपा से एवं पूज्य श्री जयनारायण बापजी श्री के आशीर्वाद से धौंसवास आश्रम में बापजी श्री की कुटिया से पू. श्री जयनारायण बापजी श्री की सन् 1942 की हस्त लिखित डायरी के साथ ही 'श्री नित्यपाठ दीपिका' ग्रंथ की मूल प्रति उपलब्ध होने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसमें स्वयं श्री जयनारायण बापजी श्री ने अपने हाथों से अनेकों संशोधन किए थे। उसी के अनुसार इस तृतीय संस्करण को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए क्षमा प्रार्थी है। साथ ही मूल ग्रंथ में 'केशवाष्टक' संध्या आरती के बाद दिया गया है। आरती के क्रम और भक्तों की सुविधा को देखते हुए इसे भी पहले कर दिया है इसके लिए भी क्षमा प्रार्थी है।

मनोराज्यं जितं येन, पार्थेणैव धनुर्भृता।
श्री जयनारायणं नित्यं, नर नारायणं नुमः॥

धनुर्धारी अर्जुन की भांति जिन्होनें अपने मनोराज्य को पूरी तरह जीत लिया है एवं जो स्थित प्रज्ञ है ऐसे साक्षात् नारायण स्वरूप श्री नित्यानंद में निमग्न रहने वाले अनन्त श्री विभूषित श्रीमद जयनारायणजी बापजी श्री को बारम्बार प्रणाम।

श्री जयनारायण पद कमल, धौंसवास

।।ॐ।।

समर्पण

ॐ नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये,

सहस्रपादाक्षिशिरोरुवाहवे।

सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते,

सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः।।१।।

हज़ारों स्वरूप, हजारों चरण, हजारों नेत्र, हजारों मस्तक, हजारों जंघा तथा हजारों बाहुवाले अन्त रहित-परमात्मा को नमस्कार हो, हजारों नाम और सहस्र कोटी युगों को धारण करने वाले शाश्वत पुरुष को नमस्कार हो।

असितगिरिसमंस्यात्, कज्जलं सिन्धुपात्रे,

सुरतरुवरशाखा, लेखनी पत्रमुर्वी।

लिखति यदि गृहीत्वा, शारदा सर्वकालं-

तदपि तव गुणानामीश! पारं न याति।।२।।

नील पर्वत जितना काजल हो, महासागर के समान दावात हो, कल्पवृक्ष की डालियों की कलम हो, पृथ्वी जितना कागज़ हो और उसे लेकर साक्षात् सरस्वती सदा काल लिखती रहे तो भी हे नाथ! हे जगद्गुरु आपके गुणों का पार नहीं आसकता।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव!।।३।।

तुम ही माता और तुमही पिता हो, तुम ही बन्धु हो और सखा भी तुम ही हो, तुम ही विद्या और तुम ही धन हो-हे प्रभो! हे गुरुदेव! हे देवों के देव मेरे एक मात्र सर्वस्व सब कुछ तुम ही हो।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा,

बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात्।

करोमि यद्यत्सकलं परस्मै,

नारायणायेति समर्पयामि।।४।।

काया से, वाणी से, मनसे, इन्द्रियों से, बुद्धि से, चित्त से, अहंकार किंव-प्रकृति के स्वभाव से जो जो कुछ करना है वह सब हे परब्रह्म नारायण! आपके चरण-कमलों में समर्पण करता हूँ।

ॐ तत्सत्

।।ॐ।।

मङ्गल-द्वादशी

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐकार रूपा चिति है सदा **ॐ**

न मूं उसे है सबका निदा **न**

मो दाग्नि में प्राण अपान हो **मो**

भ क्ति प्रिया के प्रिय हो चिदा **भ**

ग ति प्रभावा वह है चिरा **ग**

व शी बनो, शुद्ध करो स्वभा **व**

ते जो मयी में कुछ भी न हो **ते**

वा र्ता, भवार्ता, मय वासना **वा**

सु धाचिति, प्राण परा चिरा **सु**

दे ती सभी वा कुछ भी नहीं **दे**

वा णी परा ॐ चिति भावना **वा**

य श्रेष्ट देवो सबको सहा **य**

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

मङ्गलाचरण

ॐ

ॐकार बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः।।१।।

बिन्दु सहित ॐकार (परब्रह्म परमात्मा का सब से छोटा और सर्वोपरि नाम) जिसका योगी जन नित्य ध्यान करते है और कामादि मोक्ष का दाता है उस परब्रह्म ॐकार को बारंबार नमस्कार हो।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव, ततो जयमुदीरयेत् ।।२।।

अनन्त ब्रह्माण्ड के नाथ श्रीमन्नारायण वीर नरो में उत्तम ऐसे श्रीकृष्ण भगवान् को तथा सन्मार्ग प्रेरक देवी सरस्वती को नमस्कार करके ग्रन्थ का प्रारंभ करना।

सर्वदा सर्व कार्येषु नास्ति तेषाममंगलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान्, मंगलायतनं हरिः ।।३।।

सर्व मंगलों के भण्डार (और उदार-दाता) ऐसे भगवान हरि जिस किसी मनुष्य के हृदय में दर्शन, स्मरण कथा कीर्तनादि द्वारा विराजमान होते हैं, उसका सर्वदा और सर्व कार्यों में अमंगल तो होता ही नहीं, अर्थात् मंगल ही होता है।

व्यासाय विष्णुरूपाय, व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्म विधये, वासिष्ठाय नमोनमः।।४।।

व्यासस्वरूप भगवान् विष्णु को नमस्कार करता हूं, और विष्णुस्वरूप महर्षि व्यास को, जो कि वसिष्ठ कुल में उत्पन्न हुए थे और जिन्होंने वेद के विभाग किए थे, उनको बारंबार नमस्कार करता हूँ।

अचतुर्वदनो ब्रह्मा, द्विवाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शंभुर्भगवान बादरायणाः।।५।।

ये भगवान् बादरायण (व्यासमुनि) चार भुजा वाले नहीं, तो भी साक्षात् ब्रह्मा हैं, दो हाथवालों होते हुए भी साक्षात् श्री हरि हैं, और कपाल पर तीसरा नेत्र नहीं, तो भी साक्षात् शंकर हैं।

ॐ तत्सत्

||ॐ||

विज्ञप्ति

योगी याज्ञवल्क्य राजा जनक के प्रति कहते हैं, 'हे जनक! जिस प्रकार मध्यान्ह काल की तपी हुई रेती में पड़े घी को पीछा उठा लेने के लिए कोई बुद्धिमान पुरुष समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य शरीर नाश हो जाने पर फिर उसकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्य शरीर के सिवाय अन्य सर्व ऊँच नीच शरीरों की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। मनुष्य शरीर में भी भरतखण्ड में मनुष्य शरीरों की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। जिन स्त्री पुत्रादिकों के लिए अधिकारी मनुष्य शरीर को वृथा नष्ट करता है उन स्त्री पुत्रादिकों की प्राप्ति भी कुछ दुर्लभ नहीं है, उनकी प्राप्ति तो स्वर्ग नरक तथा चौरासी लक्ष योनियों में जहाँ तहाँ शरीर समान सब बिना पयत्न भाग्यानुसार हो जाती है'।

"यह अधिकारी शरीर एक बार प्राप्त होकर फिर प्राप्त होना महान् कठिन है। इस भरतखण्ड में जो जीव मनुष्य शरीर पाकर पुण्य कर्म करता है वह स्वर्गादि उत्तम लोक को प्राप्त होता है, जो पाप कर्म करता है वह नरक को प्राप्त होता है, और जो दोनों ओर से लक्ष हटाकर ब्रह्म-विद्या प्राप्त कर आत्म साक्षात्कार कर लेता है, वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसलिए मनुष्य का सर्वोत्तम कर्तव्य है कि वह मनुष्य जन्म पाकर आत्म साक्षात्कार करके जीवन सफल करें"।

- (बृहदारण्यक उपनिषद्)

जो अधिकारी पुरुष मनुष्य-शरीर को पाकर आत्म साक्षात्कार नहीं कर पाता उसकी महान् हानि होती है। श्रुति में कहा है कि - "न चेदवेदीर्महती विनष्टिर्येतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" अर्थात् जो अधिकारी पुरुष शरीर को पाकर आनंद स्वरूप आत्मा को नहीं पहचानता वह अज्ञानी पुरुष जन्ममरणादिक अनेक दुःख पाता है, तथा जो आनंद स्वरूप आत्मा को जानता है वह मोक्ष रूप अमृत को पाता है। यह मोक्ष आत्मज्ञान बिना नहीं होता, श्रुति में कहा है कि - "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः", "नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय", अर्थात् आत्मज्ञान बिना कभी मुक्ति नहीं होती, इसके सिवाय मुक्ति के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। एक आत्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का परम मार्ग है।

आत्मज्ञान श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-गुरु के उपदेश से होता है। श्रुति में कहा है कि - "आचार्यवान् पुरुषो वेद" श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ पुरुष आत्मा को जानते है, इस कारण से मुमुक्षु को ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से ब्रह्मविद्या श्रवण कर, आत्मज्ञान अवश्य संपादन करना चाहिए।

"तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं। शान्तो दांतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्"। अर्थात्:-उस ब्रह्म को जानने के लिए वह अधिकारी समित्पाणि (शिष्य भाव से) हुआ शान्त, दान्त, तितिक्षु, श्रद्धावान्, समाधान युक्त होकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाय और महाकाश विषे घटाकाश की नाईं ब्रह्मरूप आत्मा विषे ही कूटस्थ रूप आत्मा को एक रूप देखे। - (श्रुतिः)

तद्विद्धि प्रणि पातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

वह (ब्रह्मज्ञान) जिस विधि से प्राप्त होता है, (वह) तू जान-सुन। (नम्रतापूर्वक)- आचार्य के समीप जाकर भली भांति दण्डवत् प्रणाम करने एवं (किस तरह बंधन हुआ? कैसे मुक्ति होगी? विद्या क्या है? अविद्या क्या है? इस प्रकार निष्कपट भाव से) प्रश्न करने से और गुरु की यथा योग्य सेवा करने से (ज्ञान प्राप्त होता है)।

अभिप्राय यह है कि-इस प्रकार सेवा और विनय आदि से प्रसन्न हुए- तत्त्वदर्शी, ज्ञानी आचार्य तुझे उपर्युक्त विशेषणों वाले ज्ञान का उपदेश करेंगे।

ज्ञानवान् ही कोई कोई भी यथार्थ "तत्त्व" को जानने वाले होते हैं, सब नहीं। इसलिए ज्ञान के साथ "तत्त्वदर्शी" यह विशेषण लगाया है।

इससे भगवान का यह अभिप्राय है कि -"जो यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले होते हैं, उनके द्वारा उपदेश किया हुआ ही ज्ञान अपने कार्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है, दूसरा नहीं" (गीता)

दोहा- जो अद्वैत अपार सुख, जामे दुःख न लेश।
दृढ़ अनुभव से पाइए, सद्गुरु के उपदेश।।

दोहा- सद्गुरु शरणहिं जायके, विधिवत् मस्तक नाय।
पूछे साधन मोक्ष को, मन एकाग्र लगाय।।

श्लोक- को नाम बन्धः कथमेष आगतः
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः।
कोऽसावनात्मा परमः स्वआत्मा,
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम्।।

अर्थात्ः- बन्ध क्या है? यह कैसे हुआ? इसकी स्थिति कैसे है? अब इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है? अनात्मा कौन है? अपना-वास्तविक आत्मा कौन है? और उनका विवेक (पार्थक्य-ज्ञान) कैसे होता है? कृपया सब कहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम आरती इन्हीं प्रश्नों के सम्बन्ध में है। कोई एक मुमुक्षु जब सांसारिक मायाजाल से अति घबरा जाता है और शांति का कोई मार्ग नहीं पाता, तब सद्गुरु के शरणापन्न हो सुख प्राप्ति का कोई मार्ग पूछता है। उसके उत्तर में गुरुदेव जगत् को मायाजाल; दृश्य प्रपंच को मन का कारण बतला 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश देकर आज्ञा करते हैं कि इस उपदेश को श्रवण करके अब मनन, निदिध्यासन द्वारा पक्का कर तो काल पाकर तुझे दृढ़ अनुभव होगा और सुख शांति प्राप्त होगी"।

* * * * * *

दूसरी आरती सद्गुरु देव की सगुण-निर्गुण रूप में स्तुत्यात्मक है।

* * * * * *

तीसरी आरती में विमल-निर्मलस्वरूप गुरुदेव से 'मल' दूर करने के लिए प्रार्थना है। इसी प्रकार चौथी आरती में अचल स्वरूप सद्गुरु से चित्त की चंचलता रूप 'विक्षेप' को दूर करने की और आरती नं. ५ में केवल ज्ञानस्वरूप गुरुदेव से 'आवरण' (अज्ञान) दूर करके निज चरण-कमलों में स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।

* * * * * *

यह तीनों आरतियाँ, साधारण आरतियाँ नहीं हैं, वरन् वेदादि ग्रन्थों के "सूत्र सूक्तादि" की तरह हैं कि जिनमें थोड़े से थोड़े शब्दों में महान् अर्थ भरा होता है तथा एक ही शब्द जीवात्मा की ओर से प्रार्थना रूप में और परमात्मा की ओर से

आश्वासन प्रद तथा बोधगम्य-मार्गदर्शक होता है जैसा कि ईशोपनिषदादि में कई जगह आया है।

अतएव ये तीनों आरतियाँ "सूक्त" रूप हैं। शिष्य गुरु से "मल" "विक्षेप" तथा "आवरण" को दूर करने की प्रार्थना करता है, और गुरु शिष्य को आश्वासन के साथ-साथ श्रवण मनन-निदिध्यासन का मार्ग बतलाते हैं। साथ ही यह भी बतलाते हैं कि "ब्रह्म विद्या का अधिकारी शिष्य और गुरु कैसे होने चाहिए, श्रुति स्मृति में क्या लक्षण लिखे हैं, साथ ही ब्रह्मश्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ के उदाहरण भी दे दिए हैं कि-श्रेय पथगामी कौन-कौन कैसे हुए हैं।

ब्रह्म विद्या कैसे प्राप्त की जाती है? गुरु, ईश्वर, वेद तथा शिष्य का देह रूप से तथा आत्म रूप से क्या स्वरूप है? यह भी बतलाया है।

"उपासना" ब्रह्म प्राप्ति में साहाय्यकारी है, तथा उपासनाओं में भी प्रणव की "अहंग्रह" उपासना ही सुलभ-सुख-शान्ति कर है। इस अन्तर्गुह्य को आरतियों में प्रणव की प्रचुरता करके आवश्यकता स्पष्ट की है।

आरतियों की प्रत्येक पंक्ति वेद उपनिषदादि के गूढ़तम आशयों को लिए हुए कितनी सुगम भाषा में श्री महाप्रभू जी की अमृतमयी, अनुभव गम्य वाणी द्वारा उदभूत हुई है इसका अनुभव विचारशील एवं जिज्ञासु भक्तों को हुए बिना न रहेगा।

* * * * * *

पंक्तियों के नीचे वेद, उपनिषद्, गीता,आत्मपुराण, श्रीमद् भागवत, चौदहरत्न; गुप्तसागर, नित्यानंद विलास, तत्त्वबोध, श्रीमद् जगद्गुरु शङ्कराचार्य के प्रस्थान त्रयी, विवेक-चूड़ामणि आदि-आदि ग्रंथ रत्नों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अवतरण उद्धृत किए गए हैं। इसी प्रकार वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रंथ पंचदशी, विचारसागर, बालबोधिनी तथा अन्यान्य ग्रंथरत्नों से भी सहायता ली गई है और प्रमाण दिए गए हैं। अतः सर्व महात्माओं को सादर साधुवाद।

* * * * * *

आरती नंबर ६ सप्तश्लोकी गुरुगीता है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता सात सौ श्लोकों की है, पर उसमें से ७ श्लोक निकालकर सप्तश्लोकी-गीता प्रचार में आई है जिसका कि लाखों पुरुष नित्य पाठ करते हैं, उसी प्रकार गुरु गीता में उद्धृत यह

"सप्तश्लोकी-गीता" भी महान् माहात्म्यपूर्ण है। इसकी प्रशंसा स्वयं विश्ववन्द्य भोलानाथ शंकर भगवान् ने जगन्माता पार्वतीजी के प्रति वर्णन की है।

* * * * * *

सातवां "स्तोत्र अष्टक" है। ज्ञानोत्तर दशा में स्वरूपानुभव का (जीवन मुक्ति के आनंद की लहर का दृश्य) वर्णन इस स्तोत्र में है। जिस प्रकार गुरु दत्त-भगवान् की अवधूत गीता है तथा- श्री शङ्कराचार्यजी के "निर्वाणषट्क" "पंच-दशी" आदि भी हैं, वैसे ही यह अष्टक भी पूज्यपाद श्रीगुप्तानंद जी महाराज की जीवन्मुक्त दशा की आनंद लहरें हैं। विशेष वृत्त स्तोत्र के साथ दिया है।

* * * * * *

आठवीं-"संध्या आरती" है। उसके प्रारंभ में ही लिखा है कि जितनी संध्या आरतियाँ हैं उन सबका सार लिखते हैं, जो इसके अर्थ को धारण करेगा वह अत्मसाक्षात्कार पाकर जीवन्मुक्त हो जायगा। यह आरती प्रक्रियात्मक है।

* * * * * *

नंबर ९ में 'केशवाष्टक' है जोकि क ब्रह्मा+ईश=रुद्र+व वासुदेव त्रिगुणरूपधारी परमात्मा, अथवा-विद्या-गुरु केशवावधूत अथवा-क=केवल+ईश कल्याणस्वरूप+व ="वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" ऐसे केवल कल्याणस्वरूप गुरुदेव की स्तुति है।

* * * * * *

अन्त में गृहस्थियों के लिए साधारण धार्मिक सूचनाएँ हैं।

* * * * * *

साधारण कवि की कृतियों के भावों को समझना और उनका अर्थ लगाना जब बड़ा कठिन है तो फिर महान विरक्त, पहुंचे हुए महात्माओं की अनुभवगम्यवाणी को समझना कितना दुरूह हो सकता है, यह स्पष्ट ही है। तुलसीकृत रामायणकी एक चौपाई के किसी भक्त ने एक लाख अर्थ किए हैं। गीता के अभी तक दो हजार के ऊपर अनुवाद हो चुके हैं। ऐसे ही अनेक महात्माओं की वाणियों पर अनेक टीका, टिप्पणी, भावार्थ और भाष्य हुए हैं और होते रहेंगे। इसका यह कारण है कि यथार्थ अर्थ तो जबतक उन महात्माश्री के मुखारविंद से न निकले तब तक

विदित नहीं होता, पर ऐसा होना ऐसा अवसर प्राप्त होना-है महादुर्लभ। क्योंकि-जो महात्मा निरीह, निरिच्छ, स्वच्छन्द, निर्द्वन्द हैं जिनकी मर्जी पर सौदा होता है, कभी मर्ज़ी में आवे तो दो शब्द कह दें वर्ना हरिहर।

ऐसी दशा में उन हजारों भावुक-भक्त-गुरुभाइयों को जो नित्यप्रति इस "नित्य पाठ" का पाठ करते हैं, और प्रेम से उत्कट-इच्छा से, चाहते हैं कि इसके अर्थ-(रहस्य) को समझें, उन्हें कुछ इंगित (संकेत) प्राप्त हो- इस हेतु से स्वामी अनाथदासजी के शब्दों में प्रार्थना है किः-

दो. वन्ध्यो मान चाहत छुट्यो, यह निश्चय मनमांहि।
विचारमाल (भावार्थदीप) तापर रची, अज्ञ तज्ञ पर नाहिं।।१।।

आरती नं. १, स्तोत्र नं. ७ तथा आरती नं. ८ प.पू. अवधूत स्वामी श्री गुप्तानंदजी महाराज कृत हैं।

आरती नं.२ एक विद्वान गुरुभक्त रचित, तथा आरती नं.३/४/५ तथा ६ श्री अवधूत महाप्रभुश्री १०८ नित्यानंदजी महाराज की कृपा प्रसादी है।

* * * * * *

अंत में यही प्रार्थना है, जैसा कि-श्रीजगद्गुरु ने आज्ञा की हैः-

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं, दृढ़तरं संस्थाप्य, बाह्येन्द्रियं-
स्वस्थाने विनिवेश्य, निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य, देहस्थितिम्।।
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य, तन्मयतया चाखण्डवृत्यानिशं।
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा, शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः।।

भावार्थः-अपने लक्ष्य-ब्रह्म में चित्त को दृढ़तापूर्वक स्थिर करके, बाह्य इन्द्रियों को (उनके विषयों से रोककर) अपने-अपने गोलकों में स्थिर करो, शरीर को निश्चल रक्खो, और उसकी स्थिति की ओर ध्यान मत दो। इस प्रकार बह्म और आत्मा की एकता करके, तन्मयभाव से और अखंड वृत्ति से अहर्निश मन ही मन आनन्दपूर्वक ब्रह्मानंद रस का पान करो। अन्य थोथी बातों से क्या लेना है।

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा
कश्मलं दुःखकारणम्।।

चिन्तयाऽऽत्मानमानन्द-
रूपंयन्मुक्तिकारणम्।।

अर्थात्- दुःख के कारण और मोह रूप, अनात्मचिन्तन को छोड़कर, आनंद स्वरूप आत्मा का चिंतन करो, जो कि मुक्ति का साक्षात् कारण है।

एषः स्वयं ज्योतिरशेषसाक्षी
विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम्।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षण-
मखण्डवृत्यात्मतयानुभावय।।

भावार्थ- यह जो स्वयं प्रकाश, सबका साक्षी, निरन्तर विज्ञानमय कोश में विराजमान है, समस्त अनित्य पदार्थों से पृथक इस परमात्मा को ही अपना लक्ष्य बनाकर इसी का तैल धारावत् अखंड वृत्ति से आत्म-भाव से चिंतन करो।

"तत्सत"

।।ॐ।।
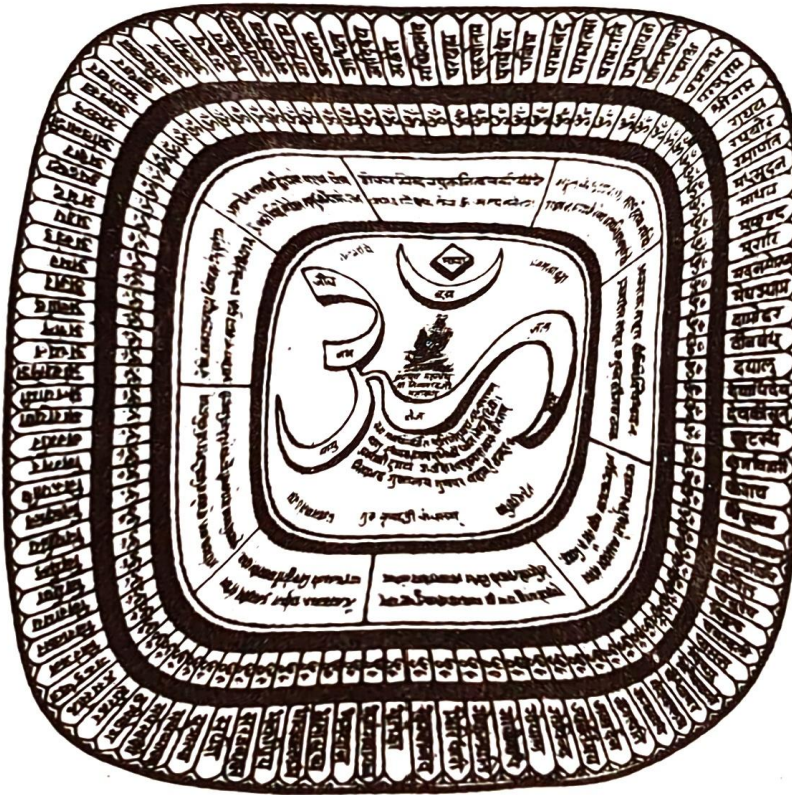
।।ॐ।।

सद्गुरुदेव स्तुति

ॐ

सत्यं मान विवर्जितं, श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणम्,
व्याप्तं स्थावरजङ्गमं, मुनिवरै र्ध्यातं निरुद्धैन्द्रियैः।

अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षर-वपु-स्तारात्मकं सन्ततं।
नित्यानंद गुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः।।

टीकाः- अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूपं ध्यान मेतत्। सत्यम, असत्यव्या वृत्तिरूपम्- 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मान विवर्जितम्, प्रमाणाऽगोचरी कृतम् 'यतोवाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुति गिरा माद्यम् वेद प्रवक्ताः 'शास्त्र योनित्वात्' इति बादरायण सूत्रणात, जगत्कारणम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तं- स्थावर जङ्गमम; 'सहस्रशीर्षा' इति श्रुतेः। मुनि वरैर्नारदादिभिः। अर्काग्नीन्दु-मय- मिति गायत्र्यादि देवता क्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नि रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पन्नत्वात्। यद्वा ओङ्कार रूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारोकारम् कारकात्मक त्वेनाग्नीन्द्वर्क रूपत्वं शताक्षरवपुरिति शताक्षरैः परं नहः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्य प्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्र योनित्वेन कार्य कारण भेदाद्वा शब्द ब्रह्मरूपत्वाद्वा तथोतिः यद्वा यतः अर्काग्नीन्दु रूपतत्वम् अतएव शताक्षर वपुरिति हेतु हेतु- मद्भावेन योजना। नित्यानंद चित्वं तत्स्वरूप मेव। तदालयत्वञ्च, भवगत् उपचारात्। गुणेभ्यसत्व रजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम्। तद्वेद शिरसि प्रसिद्धम्। महःनित्यं प्रकाशक त्वान् मह इव। एते च सर्वेशब्दा स्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेक त्वार्थ त्वम्

अपर्यामत्वेऽपि अतद्व्या वृत्यर्थ तया न पौनरुक्तयम।

- दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा जाता हैः-

महस्तेजो रूपा कुण्डलिनी उच्यते। 'सत्यं' नित्यत्वात्तस्याः 'नित्या शक्तिः परा देवी' इत्युक्तेः। 'मान' मियत्ता तद्वर्जिता, 'सूक्ष्मात् सूक्ष्म तरा विभुः इत्युक्तेः।

व्याप्त स्थावर जङ्गमा, 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियै र्मुनिवरै र्ध्याता, योगीध्येयाच सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नितय मञ्जसा' इत्यापि। अर्काग्नीन्दुरूपाः 'त्रिधाम जननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमे सूर्याग्निरूपाच' इत्युक्तेश्च।

शताक्षरवपुः 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्र मयंजगत्' इत्युक्ते। तारात्मकम्ः 'तन्मध्ये चिन्तये देवीमृज्वा कारांतड़ित्प्रभाम्' ओङ्कार रूपिणीं ज्योत्स्ना मात्मरूपां शुभोदयाम्।। (इत्युक्तेः)

नित्यानंद गुणालयाः 'नित्यानंद गुणोदया' इत्युक्तेः। गुण पराः गुण रूपा पराच, 'शक्ति कुण्लिनी गुण त्रय वपु विद्युल्लता सन्निभा' इत्युक्तेः। 'परापर विभागेन परशक्ति रियं मता' इत्युक्तश्च।

-शताक्षर मन्त्र-त्रिष्टुप, गायत्री ओर अनुष्टुप तीनों के संयोग से बनता है।

-नारायण हृदय!

जो सत्य अर्थात ज्ञानमय अनंत ब्रह्म है, और मान विवर्जित, अर्थात असीम सर्वव्यापक, वेदों के प्रवक्ता तथा समस्त जगत के कारण रूप हैं, इसी प्रकार समस्त स्थावर जंगम, चराचर में व्याप्त हैं एवं मुनिगतण इन्द्रियों का निरोधकर जिनका ध्यान करते हैं, अर्काग्नीन्दु मयं/अर्क-विष्णु, अग्नि-रुद्र तथा इन्दु-ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव स्वरूप हैं अथवा जो सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा रूप हैं-सूर्य के समान प्रचण्ड तेजस्वी, अग्नि के समान जाज्वल्य मान एवं इन्दु चंद्रमा के सदृश्य परम शीतल हैं और जो कार्य भरण भेद से शब्द ब्रह्म है अथवा शताक्षर के भी परे महान हैं एवं सतत तारात्मक समान सर्वव्यापक है, उन समस्त गुणों के आलय एवं समस्त गुणों से परे, गुरुदेव अवधूत श्री नित्यानंदजी महाप्रभुजी भगवान की हम वंदना करते हैं।

ॐ

प्रार्थना

मनोमयेन कोषेणाऽविद्यायाः परामाद्भुतम्।
विज्ञानमयकोषेण, विद्यायाश्च निकेतनम्।
सृष्ट्वाऽऽनन्दमयेकोषे, नित्यानन्दो बिराज ते।
सृष्टिशोभादि नैपुण्य कुल गेह! नमोऽस्तुते।।

-मनोमय कोष से परम अद्भुत अविद्या के निकेतन को बनाकर और विज्ञान मय कोष से विद्या के निकेतन को बनाकर आनंद-मय कोष में आप नित्यानन्द रूप से विराजमान रहते हैं। हे महाप्रभो! आप सृष्टि की शोभादि के नैपुण्य में मुख्याधिष्ठाता हैं, आप को प्रणाम है।

शुद्ध चैतन्य रूपात्मा, सर्व सङ्ग विवर्जितः।
नित्यानंदः प्रसन्नात्मा जीवन्मुक्तं नमाम्यहम्।।

- हे गुरुदेव। आप शुद्ध चैतन्य स्वरूप, सर्वसंगों से रहित नित्य-आनंद के दाता प्रसन्न आत्मा, जीवन्मुक्त हैं, आप को मेरा प्रणाम है।

हे प्रभो! हे जनार्दन आप तो भावग्राही हैं, पण्डित हो या मूर्ख आप की प्रसन्नता की तारतम्यता तो 'भाव' पर ही रहा करती है। भाव के बेर और केले के-छिलके, दुर्योधन के मेवे से कहीं ज्यादा अच्छे माने गए हैं और इसीलिए आपने मेवा त्याग भिलनी के बेर और सुदामा के तन्दुलों को बड़े प्रेम और चाव से आरोगा है-इसी प्रकार मुझ असंस्कारी, असहाय, अबोध अज्ञान बालक की यह कृति आप के पाद पद्मों में सादर समर्पित है, इसी से तो कहा है किः-

मूर्खो वदति विष्णाय, धीरो वदति विष्णवे।
उभयोस्तु शुभं पुण्यं, भावग्राही जनार्दनः।।

अतः हे जगत्गुरु! हे महा प्रभो! हे अधमोद्धारक! हे अशरण-शरण! हे दीनबन्धो बापजी!

...........................धियो योनः प्रचोदयात्'

ॐ तत्सत्

ॐ

।।श्री गुरुचरण-कमल वंदना।।

चौपाई

श्री गुरु चरणे शिर नामी, वंदु वारंबार गुरु स्वामी;
गुरु कृपालु देव दयाल, सेवक तणा सदा प्रतिपाल. ।।१।।

नित्य-आनन्द सदा शीलवंत, गुरु स्वरूपे सहेज अनंत,
जड़ बुद्धि हूँ जीव अचेत, तम बिन मर्म नहीं कछु लेत. ।।२।।

दुःख भंजन गुरु अशरण शरण, भव जल मां गुरु तारण तरण

जनक सनक शुक नारद जेवा, चहाय निरंतर गुरु नी सेवा.।।३।।

दोहा

गुरु स्वरूपे ब्रह्म छो, देह गेह वरजित।
उलट धरी शरणे थतां, हरो सकल भ्रमभीत ।।१।।

निर्गुण निर्मल नित्य छो, सद्‌गुण ना निधान।
सगुण थई स्थापन करो, धर्म-भक्ति, दृढ़ ज्ञान।।२।।

परम रूप परमेश छो, सेवकना प्रतिपाल।
जिज्ञासु जन तारवा, धरियो देह दयाल।।३।।

गुरु उपदेश बराबरी, नहिं कशुं ये त्रण लोक।
चौद लोक सुख संपत्ति, ते आगल सौ कोक।।४।।

गुरु महिमा शुं कहि शकुं अल्प मति अज्ञान।
जेती मति अगाध छे, जल मां कमल समान।।५।।

सुबोध सूर्य अर्पण करो, कट्यो सकल अंधेर।
बलिहारी गुरुदेव ने, कर्यो तरणने मेर।।६।।

सेवा समरण नब बने, धरूं नाहिं दृढ़ टेक।
शौच स्नान व्रत नव करूं, समजु नहिं सुविवेक।।७।।

पुण्य दान परमारथ, करवा नहिं गजु कांय।
दया करीने राखशो, चरण कमलनी छांय।।८।।

परजन्य सभा परमारथी, जाणीने स्वामिन्।
दीन अपराधी रांक हूँ, आव्यो तम आधीन।।९।।

मम अवगुण नो पार नहिं, पण छो, गुरुजी दयाल।
पोतानो गणी राख जो, पड़ता माया जाल।।१०।।

सुमति रहे सत्संग मां, हरि गुण गावा काज।
मन रहे निज लक्षमां, मागुं श्री गुरु राज।।११।।

श्री गुरु पद कमल

ॐ

नित्यपाठ दीपिका

।।श्रीसद्गुरुदेव की आरती।।

(जीव भाव)

ॐ[1] भज शिव[2] गुप्तानंदे, ॐहर शिव गुप्तानंदे (नित्यानंदे)
जो कोई भजन करे मन लाके, कटि जाय यम फंदे। टेक

भावार्थः- हे (मन) तू सदा ओंकार रूप, कल्याणदाता गुप्तानंद गुरुदेव का 'रण कर, (यह) गुप्तानंद सद्गुरुदेव, हरि-हर स्वरूप, परमब्रह्म, नित्य-आनंद देने वाले हैं, उनका जो कोई मन लगाकर भजन करता है, उसकी 'काल-पाश' ‹ट जाती है।। टेक।।

---

१ (अ) 'प्रः' प्रपञ्चों हि 'ना' स्ति 'वो' युष्माकं' प्रणवं विदुः। 'प्र' कर्षेण 'न' येद्यस्मान्मोक्षं 'वः' प्रणवं विदुः।। अर्थात्:- (प्र) प्रपञ्च (न) नहीं है (वः) तुम में, अर्थात् 'जिसको जपने से संसार नहीं रहता, उसका नाम 'प्रणव' ॐ है।'' (विश्वेश्वर संहिता८/१६/२२)

(ब) ॐ प्रणवः परमो मंत्र साक्षाद्ब्रह्म सनातनः।
तस्मात्प्रादुर भून्मात्रा बहु शाखा समन्विता।।१।।

अर्थ- ॐ यह परम मंत्र है और साक्षात् सनातन ब्रह्म है और इसी से तमाम मंत्र प्रकट हुए हैं जिनकी शाखाएँ अनन्त और अनन्य हैं।

ॐ तस्मादोङ्कार जापी यः स मुक्तो न च संशयः।।२।।

अर्थः- इसलिए जो ॐकार का जप करता है, वहीं मुक्त है इसमें संशय नहीं।

ओम्कार पूर्वंहि योगोपासनं यानि नित्यानि पुण्य तमानि कर्माणि दान यज्ञ तपः स्वाध्याय जप ध्यान संध्योपासन प्राणायाम होम-दैव-पैत्र्य-मन्त्रोच्चार ब्रह्मारम्भादीनित्यच्चा न्यत्किञ्चिच्छ्रेयस्तत्सर्वं प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत्समापयेच्चः।

अर्थः- योगोपासना ॐकारपूर्वक होती है। जो नित्यकर्म और पुण्यकर्म हैं जैसे कि यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, जप, ध्यान, सन्ध्योपासन, प्राणायाम, होम, वैश्वदेव, पितृकार्य मन्त्रोच्चारण

और वेदारम्भ आदि तथा अन्य कोई भी श्रेयस्कर्म यह सब ॐकार पूर्वक प्रवर्त करना और समाप्ति के समय भी ॐकार का उच्चारण करना।

ॐकार प्रभवा देवा ॐकार प्रभवास्वराः।
ॐकार प्रभवं सर्वं त्र्यैलोक्यं सचराचरम्।।

अर्थः देवता ॐ से उत्पन्न हुए हैं, स्वर ॐकार से उत्पन्न हुए हैं, तथा चराचर त्रैलोक्य ॐकार ही से उत्पन्न हुआ है।

तैलधारामिवाच्छन्नं, दीर्घ घण्टा निनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं, यस्तं वेद स वेदवित्।।

अर्थः प्रणव का अग्र तैलधारा सरीखा अच्छिन्न है, और मोटा घंटा के नाद सरीखा है तथा अवाच्य है, इसको जो जानता है वह वेदविद् कहाता है।

हृत्पद्म-कर्णिका-मध्ये, स्थिरदीप निभाकृतिम्।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोङ्कार-मीश्वरम्।।

अर्थः- हृदय कमल की पंखड़ियों के मध्य में स्थिर दीप की आकृति सरीखी आकृति वाले अंगुष्ठमात्र प्रमाण वाले और अचल ॐकार रूपी ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

प्रणवाभ्यासोक्तकर्मण करणेनापिगुरोर्निषेवणात।
अप गच्छति मानसं मलं क्षभते तत्व मुदीरितं ततः।।

अर्थः- ॐकार का अभ्यास करने से और गुरु का सेवन करने से मानसिक मल दूर होते हैं और इसी को तत्व ज्ञान कहा है।

पद्मासनं समा रुह्य, समंकाय शिरोधरः।
नासाग्र दृष्टि रेकान्ते जपेदोङ्कार मव्ययम्।।

अर्थः- पद्मासन पर बैठकर देह तथा गर्दन को सीधी रख कर नासाग्र दृष्टि रख अव्यय ऐसे ॐकार का जप करना चाहिए।

प्रणवः सर्वदा तिष्टेत्सर्व जीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः।।

अर्थः- तमाम प्राणियों के शरीर में अधोमुख ॐकार रहा हुआ है और वह सब अवस्थाओं में मनुष्य का प्रिय करने वाला है।

प्रणवात् प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात् प्रभवो हरिः।
प्रणवात् प्रभवो रुद्रः प्रणवोहि परो भवेत्।।

अर्थः- प्रणव से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं- प्रणव से विष्णु उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही रुद्र उत्पन्न हुए हैं इसलिए प्रणव ही परमब्रह्म हैं।

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसातज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति।।

अर्थः- वाणी से उस प्रणव का नित्य जप करना, शरीर से अभ्यास करना और मन से उसका जप करना चाहिए क्योंकि प्रणव ही तेजोमय ब्रह्म हैं।

शुचिर्वाप्य शुचिर्वापि योजपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यंते पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा।।

अर्थः- मनुष्य पवित्र दशा में अथवा अपवित्र दशा में निरंतर प्रणव का जप करे तो जिस प्रकार कमल के पत्ते को जल का स्पर्श नहीं होता उसी प्रकार प्रणव जापी को पाप का स्पर्श नहीं होता। - 'धर्मवीज'

(स) ॐ-तारक हैंः-

तारक के स्मरण से जीव मोक्ष पाता है।

"ॐ नमो नारायणाय"- यह तारक चैतन्यरूप है ऐसी उपासना करना। ॐ यह एक अक्षर आत्मस्वरूप है। नमः यह दो अक्षर प्रकृति स्वरूप है तथा 'नारायणाय यह पांच अक्षर पर ब्रह्म स्वरूप हैं। 'ॐ' ब्रह्मा 'न' विष्णु 'म' रुद्र, 'न' ईश्वर, 'र' विराट् 'य' पुरुष, 'ण' भगवान् तथा 'य' परमात्मा है। नारायण के यह आठ अक्षर परम पुरुष हैं। ॐ यह अक्षर पर ब्रह्म है- यही सूक्ष्म अष्टाक्षर है अकार प्रथम अक्षर उकार द्वितीय अक्षर, मकार तृतीय अक्षर, विंदु चौथा अक्षर, नाद पांचवां अक्षर, कला, छठा अक्षर, कलातीत सातवां अक्षर, और उससे परे जो आठवां अक्षर है वही तारक ब्रह्म है। अकार जांबवान उकार सुग्रीव मकार हनुमान, बिंदु शत्रुघ्न, नाद भरत, कला लक्ष्मण, कलातीता सीता, और उससे परे श्रीराम हैं। ॐ यह अक्षर सर्व है भूत, वर्तमान और भविष्य तथा अन्य ॐकार है। इस मंत्र के जप करने से पुरुष पवित्र होता है। "तारसारोपनिषद्"

(ह) जगद्गुरु श्री शंकराचार्य महाराज ने विष्णु सहस्रनाम के भाष्य में ॐ विश्वम् का भाष्य इस प्रकार किया है.............. 'विश्व' अर्थात् जगत का कारण होने से ब्रह्म को विश्व कहा गया है। पहिले यहां तक दिखलाने के लिए कि कार्य रूप विरञ्चि आदि शब्दों से भी

विष्णु की स्तुति उपपन्न हो सकती है 'विश्व' इस शब्द से कारण का ग्रहण किया गया है।

अथवा यह विश्व वास्तव में परम पुरुष परमात्मा से भिन्न नहीं है, इस लिए विश्व ब्रह्म को कहा गया है। यह विश्व परमोत्कृष्ट ब्रह्म ही है। (मु.उ. २/२/११) यह सब पुरुष ही है। (मु उ. २/१/१०) इत्यादि श्रुति से भी वास्तव में ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है।

अथवा प्रवेश करता है- इसलिए ब्रह्म विश्व है, जैसा कि श्रुति कहती है 'उसे रच कर उसी में प्रविष्ट हो गया' -(तै. उ. २/६) अथवा जिसमें मर कर प्रविष्ट होते हैं। इस श्रुति के अनुसार प्रलयकाल में समस्त प्राणी इसमें प्रवेश कर जाते हैं। इसलिए ब्रह्म ही विश्व है। इस प्रकार वह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत में प्रविष्ट है तथा सम्पूर्ण जगत उसमें प्रवेश करता है इसलिए दोनों ही प्रकार से ब्रह्म विश्व है।

कठोपनिषद् में 'धर्म' से अलग है और अधर्म से भी अलग है। (१/२/१४) इस प्रकार आरंभ करते हुए कहा है सब वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं तथा सारे तप जिसे प्राप्त कराते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस पद का मैं तुम से संक्षेप में वर्णन करता हूँ, वह ॐ बस यही है। (१/२/१५) 'यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर की परम श्रेष्ठ है इस अक्षर को जान लेने पर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे वह प्राप्त हो जाती है।' (क. उ. १/२/१६)

प्रश्नोपनिषद् में भी 'हे सत्यकाम! यह ॐकार ही पर और अपर ब्रह्म है' (५/२) इस प्रकार उपक्रम करके यह कहा है कि 'जो ॐ इस तीनमात्रा वाले अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करता है। (५/५) (वह मुक्त हो जाता है।)

यजुर्वेद आरण्यक में (तै. उ. १/८) कहा है 'ॐ बस यही ब्रह्म है और यही सब कुछ है तथा छान्दोग्य का कथन है कि कि जिस प्रकार सब पत्ते शंकू (पत्ते की नसों) से व्याप्त होते हैं उसी प्रकार ॐकार से संपूर्ण वाणी व्याप्त है यह सब कुछ ॐकार ही है।

माण्डूक्योपनिषद् में भी "ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है," इस प्रकार उपक्रम करके प्रणव ही अपर ब्रह्म और प्रणव ही परब्रह्म कहा गया है। यह अपूर्व अनन्तर और अबाह्य है (अर्थात् उससे पहले पीछे या बाहर कुछ भी नहीं है) और उसका कोई कार्य्य भी नहीं है, वह प्रणव अव्यय है। प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है, प्रणव को ऐसा जानकर फिर उसी को प्राप्त हो जाता है। प्रणव ही को सब के हृदय में स्थित ईश्वर समझे, सर्वव्यापी ॐकार को जान लेने पर धीर पुरुष शोक नहीं करता। जिसने मात्राहीन और अनंत मात्राओं वाले द्वैतशून्य कल्याण स्वरूप ॐकार को जान लिया है, वही मुनि है, और कोई नहीं। (मा. उ. १/२६-२९) यहाँ तक ऐसा ही कहा है। (इसके सिवा) यह ॐ ही ब्रह्म है ॐ ही वायु है" ॐ ही

आत्मा है ॐ ही सत्व है, ॐ ही सब कुछ है (ना. उ. ६८) इत्यादि श्रुतियों से तथा-

'जो पुरुष ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण कर मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्यागर कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। (गीता८/१३)

जिस अक्षर (ॐकार) का वेदज्ञजन बखान करते हैं जिसमें विरक्त यतिजन प्रवेश करते हैं तथा जिसे प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य का आचरण करते हैं, वह पद तुम्हे संक्षेप से बताता हूँ। (गीता ८/११)) हे कुन्तीपुत्र! जल में मैं रस हूँ चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में प्रणव हूँ आकाश में शब्द हूँ और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। (गीता७/८) मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में एकाक्षर (ॐकार) हूँ। यज्ञों में जप यज्ञ हूँ तथा स्थावरों में हिमालय हूँ। (गीता १०/२५) त्र्यक्षर (तीन अक्षर वाला) ब्रह्म (ॐकार) ही आदि में है, जिसमें वेदत्रयी स्थित है।' एकाक्षर ॐकार ही परब्रह्म है और प्राणायाम ही परम तप है। (अत्रि १/११) तीनों वेद प्रणव से आरंभ होने वाले हैं और प्रणव में ही समाप्त हो जाते हैं सम्पूर्ण वाणी-मात्र-प्रणव रूप है इसलिए प्रणव का अभ्यास करे) (अत्रि १/९) इत्यादि स्मृतियों से भी विश्व शब्द से ॐकार का ही निरूपण किया गया है क्योंकि वाच्य और वाचक का अत्यन्तिक भेद नहीं होता इसलिए तात्पर्य यह है कि विश्व अर्थात् ॐकार ही ब्रह्म है।

''यह सब निःसंदेह ब्रह्म ही है क्योंकि उसी से उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में चेष्टा करता है, इस प्रकार शांत भाव से उपासना करें' (छा.उ. ३/१४/१) इस श्रुति में यह बतलाया गया है कि यह सम्पूर्ण विकार ब्रह्म ही से उत्पन्न होने के कारण, ब्रह्म ही में लीन होने के कारण और उसी में चेष्टा करने के कारण ब्रह्म ही है। इस प्रकार सबएक रूप होने से इसमें रागादि दोष सम्भव नहीं है, इसलिए शांतभाव से उपासना करें।

'प्रणोतोति प्रणवः 'तस्मादोमिति प्रणोति' इति श्रुतेः'। प्रणम्यते इति वा प्रणवः 'प्रणमन्तीह वै वेदास्तस्मात्प्रणव उच्यते' इति सनत्कुमार वचनात् - श्री शंकराचार्य

अर्थः (ॐ कह कर) स्तुति अथवा प्रणाम करते हैं इसलिए (ॐकार) प्रणव है। श्रुति में कहा है 'अतः ॐ ऐसा (कहकर) प्रणाम करता है। अथवा प्रणाम किए जाते हैं इसलिए (भगवान ही) प्रणव है। उन्हें वेद प्रणाम करते हैं इसलिए वे प्रणव कहे जाते हैं। (श्री सनत्कुमारजी का कथन है) 'प्रणवोनाम परमात्मनो वाचक ॐकारः तदमेदोपचारेणायं प्रणवः अर्थात् परमात्मा के वाचक ॐकार का नाम प्रवण है उसके साथ अभेद का उपचार (व्यवहार) होने से परमात्मा प्रणव है।

(२) शिव -ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्द मूर्तये' अर्थात् सच्चिदानंद मूर्ति, सद्गुरुदेव, शिवजी को नमस्कार हो....... (निरालम्बोपनिषद्)।

आरत जन की सुनो आरती, हे किरपासिन्धे।
मोह जाल की फांसी, जीव फिरे बन्धे।।१।।

भावार्थः- हे दया के सागर गुरुदेव। दीन दुःखीजनों की प्रार्थना (पुकार) सुनिये, ये (हम सब) 'जीव' मोह रूपी जाल की फांसी में बंधे-२ चौरासी के चक्कर में भटक रहे हैं।।१।।

सभी[3] कहो समझाय कौन मैं, को यह जगबन्धे?
अब करो अविद्या नाश, तभी हम होवें आनन्दे।।२।।

को ईश्वर, को जीव, कौन रहता तिनके सन्धे?
क्या माया का रूप; कहो अब सत्-चित-आनन्दे।।३।।

भावार्थः- हे सच्चिदानन्द गुरुदेव! अब कृपा कीजिए, और समझाइए कि '- मैं कौन हूँ? यह संसाररूपी बन्धन क्या है? ईश्वर किसे कहते हैं? जीव क्या है? इनकी सन्धि में कौन रहता है? अर्थात् इनमें तटस्थ कौन है? इनकी सन्धि रूप क्या है? आदि आदि सब बातें बतलाकर हमारी अविद्या का नाश कीजिए। तबही हमको आनन्द होगा।।२-३।।

---

(३) जिस प्रकार के प्रश्न, इस आरती में किए गए हैं, वैसे ही प्रश्न 'केन-उपनिषद्' में किए गए हैं। यह 'केन उपनिषद्' सामवेद के तवलकार ब्राह्मण' अथवा 'जैमिनीय-ब्राह्मण' के नवम अध्याय में है, इसलिए इसको प्रारम्भ में 'तवलकार' उपनषिद् कहा जाता था। परन्तु इसके प्रारंभ में 'केन' शब्द होने से इसका नाम; 'केन उपनिषद्' भी प्रचलित हो गया है। इसके प्रथम मंत्र में प्रश्न किए हैं-

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति। चक्षु श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।१।

अर्थात्ः-किसकी इच्छा से प्रेरित हुआ मन दौड़ता है? किससे नियुक्त हुआ पहिलाप्राण चलता है? किससे प्रेरित हुई यह वाणी बोलती है? और कौन-सा भला देव आँखों और कान को चलाता (शक्ति देता) है?

इस उपनिषद् के चार खंड हैं और उनमें निम्न उपदेश आया है-

(१) आध्यात्मिक उपदेश- (प्रथम खंड) 'मन, प्राण, वाचा, चक्षु, कर्ण ये इन्द्रियाँ किसकी प्रेरणा से कार्य करती हैं? इन सबकी प्रेरक शक्ति एक आत्मशक्ति है। परन्तु वह मन आदि इन्द्रियाँ को अगोचर है। इन्द्रियों का पोषण करती है।

(द्वितीय खंड) इस 'आत्मशक्ति' का पूर्णता से ज्ञान होना अत्यन्त कठिन कार्य है। जो उसको जानने का घमंड करता है, वह उसको बिल्कुल नहीं जानता, परन्तु जो समझता है कि 'मुझे उसका ज्ञान नहीं हुआ, वही कुछ न कुछ जानता है। इसी-आत्मा से सर्व प्राप्त होते हैं, और 'इसके ज्ञान से अमरपन' प्राप्त होता है। यदि-इसी जन्म में 'उसका ज्ञान' हुआ तो ठीक है। नहीं तो बड़ी हानि होगी। जो ज्ञानी प्रत्येक पदार्थ में ढूँढ़कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं-वे 'अमर' होते हैं।

आधिदैविक उपदेश (तृतीय खंड) 'ब्रह्म ने देवों के लिए विजय किया, परन्तु देव, घमंड में आकर समझने लगे कि 'यह हमने ही विजय किया है'। यह देखकर देवों के सामने ब्रह्म प्रकट हुआ, परन्तु कोई भी देव उसको पहचान न सका। अपनी शक्ति का गर्व करता हुआ अग्नि, उसके पास गया, परन्तु उसकी सहायता के बिना वह घास भी न जला सका। उसी प्रकार वायु-घास के तिनके को भी न उड़ा सका। इस प्रकार देव लज्जित होकर वापस गए। तब इन्द्र आगे बढ़ा। परन्तु इन्द्र को आते हुए देखकर वह 'ब्रह्म' गुप्त हो गया। तत्पश्चात् उस इन्द्र ने उसी आकाश में, हैमवती 'उमा' नामक एक स्त्री का दर्शन किया, और-उससे पूछाः-'यह क्या है?' (चतुर्थ खण्ड)-उमा (ब्रह्मविद्या) ने उत्तर दियाः- 'वह ब्रह्म है, उसी के कारण तुम्हारा विजय हुआ था'। इस प्रकार इन्द्र को ब्रह्मका पता लगा। सम्पूर्ण देवों में अग्नि, वायु और इन्द्र, ये तीनों ही देव श्रेष्ठ हैं क्योंकि इनको ही 'ब्रह्म' किंचित् निकट हुआ था। तथा इसमें इन्द्र इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उसी ने 'ब्रह्म का ज्ञान' प्राप्त किया।

"जो आधिदैवत में 'विद्युत' है वही अध्यात्म में 'मन' है, ये दोनों उसी का मार्ग बताते हैं। इसलिए, उसी वंदनीय की उपासना करना चाहिए। इस उपनिषद् का आश्रय तप, दम और कर्म है; वेद इसके सब अंग हैं; और इसको सत्य काआधार है" (स्वाध्यायमंडल)।

इसी प्रकार "अथर्व वेद" में-केन सूक्त आया है, जिसके ३३ मंत्र हैं और जिसका सारांश निम्न प्रकार से हैः-

१. आध्यात्मिक प्रश्न- (वैयक्तिक प्रश्न) - "मनुष्य के शरीर में एड़ी, टखने, अंगुलियाँ, इन्द्रियाँ और पाँव के तलवे, किसने बनाए हैं? शरीर पर माँस किसने चढ़ाया है? घुटने जांघे किसने बनाई हैं? पेट, छाती, कूल्हे आदि से बना हुआ उत्तम धड़ किसका रचा हुआ है? कितने देवों ने मिलकर छाती और गला आदि बनाया? बाहु, कंधे, कोहनियाँ, स्तन

और पसलियाँ किसने बनाईं? आँख, नाक आदि इन्द्रियों की रचना किसने की? जिह्वा और प्रभावशाली वाणी किससे प्रेरित होती है? यह कर्म करता हुआ जो गुप्त है, वह कौन है? मस्तिष्क की रचना किसने की। प्रिय और अप्रिय पदार्थ क्यों प्राप्त होते हैं? शरीर में नस नाड़ियों की योजना किसने की है? इसमें सुंदरता और यश किसने धारण किया है। यहाँ प्राणों का संचालक कौन है? इसका जन्म और मृत्यु कैसे होता है? संतति उत्पन्न होने योग्य 'रेत' इस देह में किसने रखा है? (मंत्र १ से १५, १७)ङ्ग।

२. आधिभौतिक प्रश्न- (जनता विषयक प्रश्न) मनुष्यों में- 'पुरुषार्थ' और 'श्रद्धा' कैसी होती है। विद्वान कैसे प्राप्त होते हैं? ज्ञानी बनने के लिए कैसे गुरु मिलते हैं। देवी प्रजाओं में दिव्य जन कैसे रहते हैं? प्रजाओं में क्षात्रतेज कैसे उत्पन्न होता है। (मंत्र २०, २२)''।

३. आधिदैविक प्रश्नः- (जगद्विषयक प्रश्न) जल, प्रकाश आदि किसने बनाए हैं। भूमि और द्युलोक किसने बनाया है? पर्जन्य और चंद्र का बनाने वाला कौन है? (मंत्र १६, १८, १९)

४. सब प्रश्नों का एक उत्तरः- "यह सब ब्रह्म का बनाया हुआ है।" (मंत्र २१, २२, २३)।

५. विशेष उपदेशः- ''मस्तिष्क और हृदय को एक करके, प्राण मस्तिष्क के ऊपर ले जाओ। यह योगी का सिर देवों का खजाना है, उसका प्राण, मन और अन्न रक्षण करते हैं। पुरुष सर्वत्र व्यापक है। जो इस पुरुष की 'ब्रह्मनगरी' को जानता है, 'उसको ब्रह्म' और 'इतर देव', बल, आरोग्य और प्रजा देते हैं, वह अकाल मृत्यु से मरता नहीं। इस देवनगरी अयोध्या में नौ द्वार हैं और आठ चक्र हैं। इसी में तेजस्वी स्वर्ग है और इस में वह यक्ष रहता है जिसको आत्मज्ञानी ही जानते हैं''। (मंत्र २६ से ३३)।

आरति कैसे करूँ तुम्हारी, तुम व्यापक जिन्दे।
जो कोई तुमरी करे आरती, वे बुद्धि के अन्धे[४] ।।४।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप सर्वत्र व्यापक, चैतन्य और प्रकाश स्वरूप हैं। जो कोई आपकी आरती (नीराजन) करता है, वह अल्पज्ञ ही है।।४।।

---

(४) त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते, ध्यानेन चेतः पर ता हताते।
स्तुत्या मया वाक्परता हताते, क्षमस्वनित्यं त्रिविधापराधान्।।

(अवधूतगीता ८-९)

"हे प्रभो! मैंने आपकी परिक्रमा करने की इच्छा से बहुत-बहुत यात्राएँ की, किन्तु हे अखिल भूमेश्वर, मैं आपअपार की परिक्रमा न लगा सका।

हे अगम्य देवाधिदेव! आपको चित्त में लाने के लिए बहुत-बहुत ध्यान किए, किन्तु मैं आपको ध्यान में न लासका क्योंकि आप चित्त से परे ठहरे।

हे वाणीश्वर! मैंने वाणी द्वारा स्तुति कर आपको वश करना चाहा, पर आप तो वाणी से परे, मन से अगोचर हैं। यथार्थ में मैंने ये भूल ही की हैं। इसलिए हे प्रणव रूप परमात्मन्! मेरे इन तीनों अपराधों को क्षमा कर"। (अब. गी. ८-९)

(ब) श्लोकः-

पूर्णस्यावाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यंच, शुद्धस्याचमनंकुतः।।१।।

निर्मलस्य कुतःस्नानं, वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
निरालम्बस्योपवीतं, पुष्पं निर्वासनस्यच।।२।।

निर्लेपस्य कुतो गंधो, रम्यस्याभरणं कुतः।
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं, ताम्बूलं च कुतो विभोः।।३।।

प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य, ह्यद्वयस्त कुतो नतिः।
वेद वाक्यैरवेद्यस्य, कुतःस्तोत्रं विधीयते।।४।।

स्वयं प्रकाशमानस्य, कुतो नीरा जनं विभोः
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य, कथमुद्वासनं भवेत्।।५।।

एवमेव परापूजा सर्वावस्थासु सर्वदा।
एतद्बुद्धयातु देवेशे, विधेया ब्रह्म वित्तमैः।।६।।

भावार्थः- जो परिपूर्ण है, उसका आह्वान क्या? जिसने सबको धारण कर रक्खा है, उसके लिए आसन क्या? जो स्वतः स्वच्छ है, उसे पाद्य अर्ध्य क्या? और शुद्ध स्वरूप को आचमन क्या हो सकता है? निर्मल को स्नान, विश्व जिसके उदर में है उसे वस्त्र, निरालम्ब को उपवीत तथा वासना रहित को पुष्प क्या? निर्लेप को गन्ध क्या? स्वतः रमणीय है उसे भूषण क्या? उसी प्रकार नित्य तृप्त को, नैवेद्य क्या? और विभू को ताम्बूल क्या है? अनन्त की प्रदक्षिणा क्या? और अद्वय को नमन कैसे? वेद वाक्यों से भी जो अवेद्य है उसकी स्तुति कैसे हो? जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है उसकी आरती कैसे? और जो बाहर, भीतर, परिपूर्ण है, उसे क्या मुद्रा बताई जावे? परा का पार, कैसे पावे? ब्रह्मविद् पुरुषों के लिए सदा सर्वदा ऐसे ही 'परा पूजा' करने का विधान है।

ॐ

शिव-भाव

अर्थात्

उपर्युक्त प्रश्नों का संक्षिप्त समाधान

ॐ[१] भज[२], शिव[३] गुप्तानन्दे,
ॐ[४] हर-शिव[५], गुप्तानन्दे! (नित्यानन्दे)
जो कोई[६] भजन करे मन लाके[७], कटि जाए यम फन्दे।टेक।

भावार्थः- प्रणव रूप, गुप्त आनंद के देने वाले, त्रिताप के हरने वाले, हरि-र-स्वरूप-निज आत्मा को जो कोई मन लगाकर भजन करता है। (आत्म-ध्यान निमग्न रहता है) उसकी काल-पाश कट जाती है। वह मुक्त होकर गुप्तानन्द अथवा) 'नित्यानंद' स्वरूप हो जाता है। (टेक)

---

(१) ''स्वजापकानां योगीनां, स्वमंत्र-पूजकस्यच। सर्व कर्म क्षयं कृत्वा दिव्यज्ञानं सुनूतनम्''। अर्थात अपना जप करने-वाले योगियों और उस अपना पूजन करने वाले को, सर्व कर्म क्षय, कर दिव्य ज्ञान देने से यह ॐ - 'प्रणव' कहलाता है।

(विश्वेश्वर संहिता ८१६-२२)

(२) ''यं यथा यथोपासते तदेव भवति''- जो जिसकी उपासना करता है, वह उसी का रूप हो जाता है। अतः ब्रह्म-भावना के परिपाक होने पर साधक ब्रह्ममय बन जाता है। - (श्रुतिः)।

(३) 'जगदादि गुरुः शिवः'-शंकर जगद्‌गुरु हैं।

'शिवएवह्याचार्यरूपेणानुगृह्वति-परमात्मा शिवजी आचार्य और 'गुरु' रूप से अनुग्रहीत करते हैं। (श्रुतिः) ''शिव एव हि आत्मा'' शिव ही आत्मा है.......(शिवपुराण)

(४) ''ओमित्येतदक्षर मिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एवं'' भावार्थः-एक नित्य वस्तु ॐकार ॐ-ही है,यह जो कुछ जगत् दृष्टि पड़ता है, इस सबको प्रकाशित करने वाली है, भूत, भविष्य और वर्तमान-जो कुछ भी है- वह सब ब्रह्म है। तथा जो इस त्रिकाल से अतीत है। वह भी ब्रह्म ॐ (शिव) ही है- - (माण्डूक्योपनिषद्)

५ (अ) ब्रह्माविष्णुसुरेन्द्राणां, रुद्रादित्याश्विनामपि।
विश्वेषामपि देवानां, वपुर्धारयते भवः।।

भावार्थः- हर ही ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि देवताओं का शरीर धारण करते हैं। ''किञ्चिदप्यन्तरं कृत्वा रौरवं नरकं ब्रजेत्'' इन जगदीश्वरों में थोड़ी भी भेदबुद्धि करने वाला रौरव नरक में जाता है। (महाभारत अनु.अ.१४)

(ब) नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे केवलात्मने।
गुणत्रय विभागाय, पश्चाद्भेदमुपेयुषे।।

(कुमार संभव)

(स) मधुसूदन सरस्वती ने 'महिम्न' की टीका में लिखा हैः-

श्लोक-भूतिभूषित देहाय, द्विजराजेन राजते।
एकात्मने नमस्तुभ्यं हरये च हराय च।।१।।

(द) शिवस्य हृदयं विष्णु विष्णोश्च हृदयं शिवः।
सर्वदेवात्म को रुद्रः, सर्वदेवा शिवात्मकाः।।

- रुद्रहृदयोपनिषद्।

(ल) सर्वे देवा संविशन्ति इति विष्णुः सर्वाणि बृहयतीति ब्रह्म। सर्वान्लोकान् व्यान्पोति व्योमितीति व्यापनाद् व्यापी महदेवः। - अथर्व शिरवोपनिषद्।

(ई) 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि'। -गीता।

दक्ष यज्ञ के अवसर पर श्रीविष्णु भगवान् ने कहा हैः-

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा, स्वयंदृगविशेषणः।।

अर्थात्ः मैं ही जगत् का परमकारण रूप ब्रह्मा और शिव हूँ। और मैं ही सबका साक्षी स्वयं प्रकाश तथा निर्विशेष आत्मा तथा ईश्वर हूँ।

त्रयाणमेक भावानां योन पश्यति वैभिदाम्।
सर्व भूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधि गच्छति।।

हे ब्रह्मन् ! सब जीवों के आत्मा रूप इन ब्रह्मा विष्णु, शिव रूप तीनों के एकरूप भावों में जो भेद-दृष्टि नहीं करता, वही शान्ति प्राप्त कर सकता है।

(फ) हरिहर साम्य वर्णनः-

उनते कढी है गंग, इनते बढ़ी है गंग
वे हैं, मुरारी तो पुरारी एक कहावत हैं।

उनके रमा है संग इनके उमा है संग,
उतै सांप-सेज इतै सांप लपटावे हैं।

नन्द गोद राजैं वह, नंदीपीठ राजैं यह,
सीस चंद छावैं चंद सीस पै चढ़ावे हैं।

पाप के हरैया हरि तापके हरैया हर,
एक हैं कहावैं दोय भक्तन के भावैं हैं।।१।।

(ह) ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेद भावेन मोहिताः।
पश्यत्येकं न जानंति पाखंडो पहता जनाः।।

महापातक युक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
पुनस्तपस्वी भवति पङ्क्ति पावन पावनः।।

'महा पातकी व्यक्ति भी यदि निमेषमात्र श्री भगवान् का ध्यान करे तो वह पुनः पवित्र पवित्र करने वालों को भी पवित्र कर सकता है।

''ब्रह्मवादिनो वदन्ति ओमित्यात्मानं युञ्जीतै तद्वैअमरोपनिषदं देवानां गुह्यं य एवम् वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति।।''

अर्थ- ब्रह्मवादी कहते है कि ॐकार के साथ आत्मा को जोड़ों, वह (ॐ) देवताओं की उपनिषद है। और गुह्य है। जो ॐकार को जानता है वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है।

''अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्य मुवाचाथ कैर्मंत्रैः परमात्मा प्रीतो भवति, स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगव इति। सहोवाच याज्ञवल्क्यः ओमिति।।''

अर्थः- भारद्वाज मुनि ने याज्ञवल्क्य मुनि से पूछा कि किस मंत्र से परमात्मा प्रसन्न होते हैं- और आत्मा दर्शन होते हैं, तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह मंत्र ॐकार है।

ॐकार और अथ शब्द प्रथम ब्रह्मा के कंठ को भेद कर बाहर आए हैं। इससे यह दोनों शब्द मांगलिक कहे जाते हैं।

ब्रह्म और प्रणव का संधान यह ज्योतिमर्य कल्याण कारक नाद है, इससे आत्मा का स्वयं आविर्भाव होता है जैसे कि बदलों के जाते रहने पर सूर्य का प्रकाश होता है।

वाचिकस्यैकमेवंऽस्यादुपांशोःशतमुच्यते।
सहस्त्रं मानसं प्रोक्तो मन्वात्रि भृगुनारदैः।।

अर्थः- मनु, अत्रि, भृगु तथा नारदादि ऋषियों ने वाचिक जप का एकगुणा फल कहा है, उपांशु जप का सौ गुना तथा मानसिक जप का सहस्त्रगुना फल कहा है।

-धर्म बीज

(६) ''ओ३म्'' क्रतो। स्मर कृत स्मर क्रतो। स्मर कृत स्मर। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त शरीरम्।'' (ईशोपनिषद् यजुर्वेद) भावार्थः हे मनुष्य! यदि तुझे उन्नत होना है-स्वरूप की प्राप्ति करना है-तो यह लक्ष्य में रख कि (वायु) यह हमारा प्राण (अन्+इलं, अ+मृतं) अपार्थिव, अमृतरूप, प्रचंड शक्ति है और (इदं शरीरं भस्म+अन्तम्) ये शरीर मात्र अन्त में भस्म होने वाला है। अतः मर जाने वाले शरीर की अपेक्षा अमर प्राणशक्ति की विशेष आराधना करना उचित है। मरने वाले शरीर में अमर प्राणशक्ति है, और उस प्राणशक्ति के अन्दर तू (असौपुरुषः=जीवा आत्मा) है और तेरी ही उन्नति के लिए ये बाहिर के सर्वसाधन हैं, इन साधनों की सहायता से तुझे अपने अमरपने का अनुभव लेना है, इन अनित्य साधनों के योग से तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना ''है'' - इस वास्ते हे ''क्रतो'' ! कर्म करने वाले पुरुष! (कर्म करना स्वभाव है, जिसका, ऐसे हे मनुष्य!) ओ३म्=स्मर' (अवति इति ओम्) उस सर्व-रक्षक परमात्मा का ध्यान कर, उसके गुणों का चिन्तन कर, उसके-कल्याण मयगुणों को निदिध्यासन से अपने आत्म बुद्धि मन में नित्य प्रति बढ़ा। 'क्रतं स्मर' रोज़ प्रातः सायं तू ने जो कोई कर्म किए हैं, वे आत्मा की उन्नति- करने वाले हैं अथवा अवनति? दिनभर किए हुए कर्मों का निरीक्षण-सायंकाल को तथा रात को किए हुए कर्मों का निरीक्षण सवेरे कर। इस प्रकार अपने आचरणों की परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं परीक्षक बन, जिससे कि तेरी कहाँ भूल है और वहाँ तुझे वास्तव में क्या करना चाहिए था, यह अपने आप तेरे ध्यान में आ जाये। ''हमें अपने आप अपना उद्धार करना चाहिए, जिनसे अपनी अवनति होती हो ऐसे आचारण हमें कभी भी करने नहीं चाहिए।'' श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं-

-''उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मनमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। बन्धुरात्मााऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे, वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।
- (भगवद्गीता अ. ६/५-६)

"अपना उद्धार आप स्वयं अपने द्वारा कर ले एवं अपने को अधोगति पर हर्जिग न जाने दे। कारण-तू आप ही अपना हितकर्ता बन्धु, और आप ही अपना शत्रु है।"

"जिसने अपने आप अपने को (शरीर इन्द्रियसमुदाय को) जीत लिया है, वह आप अपना बन्धु-हितकर्त्ता है, और जिसने नहीं जीता, वह आप अपना शत्रु है।"

(वाजसनेयी माध्यंदिन संहिता में यह मंत्र १५वाँ है और उसके द्वितीयार्द्ध में -"क्लिबे स्मर" ऐसा अधिक पाठ है। क्लिब, क्लिप क्लप् इनका अर्थ 'समर्थ होना', 'योग्य होना' ऐसा है। अतः 'क्लिबे स्मर' अर्थात् अपने सामर्थ्य की वृद्धि के लिए स्मरण कर, अपने आप समर्थ होनेके लिए ऊपर कहे गए अनुसार 'ईश-स्मरण' कर और स्वयं कृत कर्मों का स्मरण करके, अपने उद्धार के लिए इस श्रेष्ठ मार्ग का अवलम्बन कर) रोज हम क्या करते हैं, इस बात का निरीक्षण करना, यह (आत्म-परीक्षण) आत्मोन्नति के लिए अत्यंत सहायक है। इसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति होनी सम्भव नहीं। साधक का शरीर-पोषण तक इस परीक्षण के बिना नहीं होगा। अत: "हमारी आध्यात्मिक उन्नति आत्म-परीक्षण के बिना नहीं होगी", इस प्रकार पृथक् कहने की आवश्यकता ही नहीं। इसी के वास्ते -"यह आत्मनिरीक्षण करना चाहिये" ऐसा जो यहां खास करके कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि उसकी ओर से साधक कदापि दुर्लक्ष्य न करे।

(७) "अग्नेनय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराण मनो भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम। - (ईश. उ. १८)

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।। (ईश. उ.१६)

भावार्थ:- हे 'अग्ने' प्रकाश देने वाले ईश्वर! (गुरु) 'अस्मान् सुपथा राये नय' = हमें अच्छे मार्ग से अभ्युदय को प्राप्त करा, हमारे में कुमार्ग से जाने की बुद्धि कभी न हो, धन मिले चाहे न मिले, पर हमारे आचरण का मार्ग शुद्ध ही हो। हे देव! तू-'विश्वानि वयुनानि विद्वान' हमारे सर्व कर्म जानता है, तुझे पता न चले इस प्रकार छिप करके भी कर्म करना असम्भव है, क्योंकि तू सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ होता हुआ सर्वत्र है। इस कारण हम जो कुछ करते हैं, चाहें वह कितना भी चुपके से छिपकर किया गया हो, तो भी वह तुझे उसी समय ज्ञात हो जाता है। इतना ही नहीं; मन में आया हुआ संकल्प भी तुझे मालूम हो जाता है। ऐसी दशा में हम तेरे से छिपाकर कुछ भी नहीं कर सकते। हमारे सब अच्छे बुरे कर्मों का तुझे पता है अत: जिस मार्ग से हमारा उद्धार हो, उस श्रेष्ठ और शुद्ध मार्ग से तू हमें ले चल। हमारे में कुटिलता और पाप भरे हुए

हैं, वे 'जुहराणं एनः अस्मत् युयोधि'=कुटिलता और पाप हमारे से सर्वदा के लिए दूर कर, इन पापों के साथ युद्ध करके उन्हें दूर करने के लिए हमें शक्ति दे। इस तेरी कृपा के लिए हम तुझे 'नमः विधेम'=नमस्कार करते हैं। तुझे देने के लिए हमारे पास नमस्कार करने के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। हे देव! वह हमारा नमस्कार स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर (१८)

परमात्मा 'पूषन्'=सबका पोषक है, वह 'एक' है और वह 'ऋषि'=ज्ञाता, ज्ञानी, सर्वज्ञ और अतीन्द्रियार्थदर्शी है, वही 'यम'= सबका नियामक, सबको अपने नियम में रखने वाला 'सूर्य'-तेज देने वाला प्रकाशित करने वाला और 'प्राजापत्य' (जो प्रजाओं को पालन करने वाला है वह प्रजापति) प्रजापति से उत्पन्न होने वाले, प्राजापत्य, अर्थात् उसकी सामर्थ्य इन सब सामर्थ्यों से युक्त वह देव है। इस देव को भक्तियुक्त अन्तःकरण से इस मंत्र में पुकारा है। है पोषक, नियामक, तेजस्वी, सामर्थ्यशाली, सर्वज्ञ देव! (गुरु) मेरी सहायता कर। ''रश्मिन् व्यूह समूह'' - किरणों को इकट्ठा करके एक ओर कर, हे देव! इस जगत् की इस चकचकाहट के कारण मुझे तेरा रूप दिखता नहीं। जहां देखता हूँ वहाँ इस प्रवृत्ति की चकचकाहट नजर आती है। उससे परे वर्तमान तेरा रूप दिखता नहीं। इस वास्ते ये अपनी किरणें एक ओर कर, और मुझे तेरा रूप दिखे, उसके लिए तू ही मेरे पर दया करके मेरी आँखों को चकाचौंध करने वाले अपने इस तेज को दूर कर। तूने ऐसा किया कि-ते कल्याणतमं तेजो रूपं पश्यामि'=तेरे अत्यन्त कल्याणमय तेजस्वी स्वरूप को मैं देख सकता हूँ। हे देव! तू ही कृपा कर और अपना रूप दिखा, तेरी कृपा के बिना तेरा मंगलमय और कल्याणमय रूप मुझे दीख नहीं सकता। ''यः असौ असौ पुरुषः''= जो यह तेरे (असौ=आँसू प्राण में) प्राणशक्ति के आधार से रहने वाला ओर (पुरुषः=पुरि+वसति) इस शरीर रूपी नगरी में रहने वाला, देह धारण कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति की इच्छा करने वाला, शरीर धारणकर परम पुरुषार्थ करने की इच्छा वाला जो तेरा भक्त है, सः अहं अस्मि' वहीं मैं हूँ मैं तेरा एक निष्ठ भक्त हूँ। मुझेभक्त मानता हुआ तू अपना मान। (इस मंत्र के पहिले दो भाग बाजसनेयी माध्यान्दिन संहिता में नहीं हैं। मंत्र का अन्तिम भाग इस प्रकार है-''योऽसावादित्ये पुरुषःसोऽसावहम्। ओं खं ब्रह्म''। यह मंत्र भाग वहाँ १७वाँ है, और 'हिरणम्येन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'' इस मन्त्र का उत्तरार्ध है। इसका अर्थः- ''(यः असौ) जो यह (आदित्ये पुरुषः) आदित्य में पुरुष है, (स असौ अहम्) वह यह मैं हूँ, (ॐ-खं ब्रह्म) ब्रह्म आकाश की तरह व्यापक ॐकार द्वारा दिखाया जाता है।'' इस मंत्र में कहे गए अनुसार भक्त को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए)।

मैं; मेरा; यहि मोह हुआ; अर्जुन को रणमध्ये[८]।
उड़ा, ज्ञान गीता[९] का सुन लख समधानी सन्धे।।५।।

भावार्थः- हे शिष्य! तुझ जैसा ही प्रसंग अर्जुन को महाभारत के युद्धारम्भ में उपस्थित हुआ था। उसको "मैं" और "मेरा" यही मोह उत्पन्न हुआ था। जिसके प्रतिबंध से वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया था। तब, भगवान कृष्ण ने उसे गीता-ज्ञान सुनाया, जिसे सुनकर (प्रत्यक्ष विराट्स्वरूप) देखकर, समाधान कर सन्देह रहित हुआ।।५।। वह समाधान यही किः-

---

(८) राजर्षि धृतराष्ट्र ने प्रसंगवश कुछ समय के लिए राजर्षि पाण्डु द्वारा सौंपा हुआ राज्य पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को नहीं लौटाया, भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा समझाए जाने और पाण्डवों के लिए राज्य का बहुत थोड़ा सा हिस्सा मांगने पर भी, दुर्मद दुर्योधन के वशीभूत हुए राजर्षि धृतराष्ट्र ने देना स्वीकार नहीं किया। दुर्योधन ने यह कह दिया कि- "पाण्डवों में सामर्थ्य हो, तो रण में विजय प्राप्त कर राज्य ले लें" भगवान् श्रीकृष्ण भी सुलह के प्रयत्न में सफल नहीं हुए। कौरव-पाण्डवों में युद्ध का निश्चय हो गया। दोनों पक्ष के राजागण अपनी-अपनी सेना समेत कुरुक्षेत्र में एकत्रित हो गए। दोनों ओर से सेनापतियों का चुनाव हो गया। सारथी बने हुए भगवान् ने अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया। शस्त्र चलाने की तैयारी ही थी, कि-अर्जुन ने विपक्ष में पितामह-भीष्म, शस्त्राचार्य-द्रोण एवं आत्मीय-स्वजनों को देखकर उनसे लड़ना उचित नहीं समझा और युद्ध कर्म को हिंसारूपी पाप समझ कर क्षात्र-धर्म से विमुख हो, भगवान के प्रति ब्राह्मणोचित अहिंसा-धर्म पालन की अपनी इच्छा प्रकट की, तब-उस अर्जुन नामक अपनी देह को कार्यसिद्धि के लिए विष्णु भगवान-आत्मज्ञान सम्पन्न श्रीकृष्ण रूप द्वारा बोले-"आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, न कभी भूतकाल में उत्पन्न हुआ है और न होगा। यह अजन्मा, नित्य, पुराण और सदा रहने वाला है। शरीर मारे जाने पर भी मरता नहीं है, यह न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है इसलिए उन लोगों का विचार ठीक नहीं है जो आत्मा को मरने व मारने वाला समझते हैं। आत्मा अनन्त, एक रूप, विद्यमान और आकाश से भी सूक्ष्म, सबका स्वामी है, भला उसका कोई नाश कैसे कर सकता है? हे अर्जुन! तुम मारने वाले नहीं हो तुम तो स्वयं नित्य एवं जरा-मरण निर्मुक्त आत्मा हो, अभिमान से मारने वाला होने का झूठा विचार (मल) त्याग दो, मारते समय जिस पुरुष के देहादि इन्द्रियों में अहं भावना नहीं है, और मारक जिसकी बुद्धि हर्ष, शोकादि से युक्त नहीं होती, वह सर्व संसार को मार कर भी न तो हन्ता होता है और न बंधन में पड़ता है क्योंकि

जिसके दिल में जैसा विचार होता है उसका वैसा ही अनुभव होता है। इसलिए मैं यह हूँ यह मेरा है, इस विचार को छोड़ दो, मनुष्य अहंकार से मूढ़-बुद्धि होने के कारण ही अपने को उस काम का कर्ता मान बैठता है जो बहुत अंश तक सत्वादि गुणों द्वारा जो कि आत्मा के केवल अंश मात्र हैं- सम्पादित होता है। आँख को देखने दो, कान को सुनने दो, त्वचा को स्पर्श करने दो, जिह्वा को रस लेने दो, इनके कामों में अपने आप क्यों लगाते हो? मन का अपने विचार आदि काम में लगे रहने पर भी अहंभाव के विचार का कोई कारण नहीं है, तुमको उस काम में क्या क्लेश होता है जिसके कारण तुम्हें शोक करना पड़े? हे भारत! यह बड़ी हंसी को बात है कि जो काम बहुत से मनुष्यों के मिलने पर होता है, उसके लिए एक ही (आत्मा) अभिमान करके दुखी हो। योगी लोग संग को त्याग कर शरीर, मन बुद्धि और केवल इन्द्रियों से ही अपनी शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। जो मनुष्य ममता और अहंकार से रहित है, वह करने तथा न करने योग्य कामों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। हे पाण्डुपुत्र! यद्यपि यह तुम्हारा उत्तम क्षात्रकर्म क्रूर है, तब भी वह अत्यन्त श्रेयस्कर तथा सुख और अभ्युदय को देने वाला है। हे धनञ्जय! तुम योगारूढ़ होकर संग को त्यागकर कर्मों को करो, क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता। स्वयं शान्त ब्रह्म-रूप होकर, कर्म को भी ब्रह्म-रूप जानकर ब्रह्म को समर्पण करते हुए यदि तुम कर्म करोगे तो क्षणमात्र में ही ब्रह्म-रूप हो जाओगे। सब पदार्थ ईश्वर को अर्पित हैं और "सर्व भूतों का आत्मा ईश्वर ही मेरा आत्मा है" इस विचार को रखते हुए इस भूमि के अलङ्कार बनो। सब सङ्कल्पों को त्यागकर, शान्त मन और समभाव रखते हुए संन्यास योग से युक्त रहकर कार्य करते हुए मुक्त बुद्धि हो जाओ..............इत्यादि वचनों को सुन, तथा विराट्रूप देख, अर्जुन बोलेः "हे-अच्युत! आपकीकृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ और-आत्मज्ञान स्मरण हो गया, अब मैं सन्देह रहित हूँ, और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।"

(९) गीता क्या है?

गीता मे हृदयं पार्थ, गीता मे सार मुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं, गीता मे ज्ञानमव्ययम्।।

गीता मे चोत्तमं स्थानं, गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं, गीता मे परमो गुरुः।।

गीता के संबंध में श्री भगवान् कहते हैंः- गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार है, गीता मेराअत्युग्रज्ञान है, गीता मेरा अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा श्रेष्ठ निवासस्थान है, गीता मेरा परमपद है, गीता मेरा परम रहस्य है, और गीता मेरा परमगुरु है। - (गीतामहात्म्यम)

तुह चेतन भरपूर द्रष्य मन जगत जाल बन्धे।
जब होय अविद्या[10] नाश खिले तब विद्या[11] के चन्दे।।६।।

भावार्थः- हे शिष्य! तू सर्वत्र परिपूर्ण चैतन्य स्वरूप है और यह जितना दृश्यमान जगत है सब मन का रचा हुआ जाल है-बन्धन है; परन्तु इसका ज्ञान उस समय होता है जब अविद्यारूपी अन्धकार का नाश होकर विद्यारूपी चन्द्रमा का प्रकाश होवे।।६।।

करै शुभाशुभ कर्म, भोगता फल सुख दुख द्वन्द्वे।
शिव[12] को कहते जीव[13], शीव [14] कछु करे नहीं धन्धे।।७।।

भावार्थः- वास्तव में एक शिव तत्त्व ही है, पर जब (व्यष्टि रूप से) उसकी प्रवृत्ति शुभाशुभ कार्य करने में तथा उसका फल सुख-दुख रूप द्वन्द्व के भोगने में होती है, तब उसे जीव कहते हैं, शिव अकर्ता-अभोक्ता-अर्थात्-कर्म-रहित है।।७।।

---

(१०) अविद्याः-

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि।
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते।।

अर्थः- 'यह जन्म मरण आदि सत्य हैं, और सच्चे आत्मा में संलग्न हैं। इस भांति का भ्रम 'अविद्या' है, यह अविद्या विद्या से दूर होती है। -(पंचदशी चित्रदीप १०)

(११) विद्याः-

आत्मा भासस्य जीवस्य संसारोऽनात्मवस्तुनः।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात्।।

अर्थः- 'चैतन्यात्मा के प्रतिबिंब रूप-जीव का ही संसार होता है सत्यात्मा का नहीं, ऐसा ज्ञान होना 'विद्या' है। यह विद्या विचार से प्राप्त होती है। - (पंच, चित्र. ११)

विचारः-

कोऽहं कथमिदं जातं, कोवा कर्ताऽस्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह, विचारः सोऽयमीदृशः।।

अर्थः- मैं कौन हूँ? यह जगत कैसे हुआ है? इसका कर्त्ता कौन है? यहाँ उपादान कौन है? यह विचार है..... - (अपरोक्षानुभूति)

१२ (अ) शिवः-

जगच्चित्पुष्पसौगन्धं, चिल्लताग्रफलं जगत्।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता, जगत्सत्तैव ऽ,चिद्वपुः।।

अर्थः- जगत् ब्रह्मरूपी फूल की सुगंध है, ब्रह्मरूपी लता का फल है, ब्रह्म की सत्ता ही जगत् की सत्ता है, और जगत ही ब्रह्म का रूप है। - (योग वासिष्ठ)।

(ब) श्री ईश्वर उवाचः

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम्।
ब्रह्मैव परमाकाशमेष देव परः स्मृतः।।१।।

एषदेवः स परमः पूज्य एष सदा सताम्।
चिन्मात्र मनु भूत्यात्मा, सर्वगः सर्वसंश्रयः।।२।।

अर्थः ईश्वर कहते हैं- इस प्रकार यह समग्र विश्व केवल परमात्मा ही है, आकाश भी परब्रह्म ही है और यही पर देवता है।।१।। जो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है यही परम देव है और सज्जनोंके पूजने योग्य है तथा वह देव ज्ञानमय अनुभव स्वरूप सर्वव्यापी और सर्व का आश्रयभूत है।

पूजनं ध्यान मेवान्तर्नान्यदस्त्यस्य पूजनम्।
तस्मात्त्रिभुवनाधारं नित्यं ध्यानेन पूजयेत्।।३।।

अर्थः- इस देव का अन्तःकरण में ध्यान करना यही पूजन है, दूसरा पूजन नहीं। इसलिए तीनों भूतोंके आधार भूत उस देव को ध्यान द्वारा पूजो।

गच्छतास्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतोऽपिच।
सर्वाचार गतापूजा नित्यं ध्यानात्मिकात्वियन्।।

अर्थः- ध्यानात्म पूजा चलते-चलते, खड़े-खड़े जाग्रत दशा में तथा स्वप्न दशा में इस प्रकार हर समय की जा सकती है। कारण कि सर्वावस्था में ध्यान करने में बाध नहीं आता।

नित्यमेव शरीरस्थ मिमंध्यायेत् परं शिवम्।
सर्व प्रत्यय कर्तारं स्वयमात्मानमात्मना।।

अर्थः- इसलिए शरीर में रहे और सर्वत्र जिस की सत्ता है, ऐसे परम शिव का स्वयम् ही ध्यान करना। - (योगवासिष्ठ)

* * * * * *

गीता क्या है?

'श्रीमद्भगवद्गीता भारतवर्ष में यत्र-तत्र बिखरे हुए अनेक प्रश्नों को जोड़ने वाली, एक अप्रतिम शृंखला है, और भविष्य के राष्ट्रीय जीवन की एक अमूल्य निधि है। भारतवर्ष का राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ होने के लिए आवश्यक समस्त गुण इसमें एकत्र किए गए हैं। इतना ही नहीं, भविष्य में समस्त संसार का धर्मग्रन्थ होने की भी इस में योग्यता है। समस्त मानव जाति के भविष्य को अत्यन्त उज्ज्वल बनाने के लिए भारत के वैभवशाली भूतकाल की यह एक अपूर्व निधि है।'

(स) शिव स्वरूपः-

श्री शुकदेव जी ने व्यासजी के चरणों में सिर नवाकर उनसे पूछा कि सब देवताओं में कौन से देवता विराजमान हैं, सारे देवता किस एक देवता के अन्दर हैं और किसकी सेवा करने से सब देवता मुझ पर प्रसन्न होंगे।'' शुकदेवजी के इस प्रश्न को सुनकर उनके पिता व्यासजी बोले कि रुद्र देवता सर्व देवात्मक हैं और सारे देवता शिव स्वरूप हैं। रुद्र के दक्षिण पश्चिम में सूर्य ब्रह्मा और तीन अग्नि हैं। वाम पार्श्व में उमादेवी, विष्णु और सोम ये तीन देवता हैं। जो उमा हैं वही स्वयं विष्णु हैं। जो विष्णु हैं वही चन्द्रमा हैं। जो गोविन्द को नमस्कार करते हैं, वे शंकर को ही नमस्कार करते हैं। जो भक्तिपूर्वक हरि की पूजा करते हैं वे भगवान् वृषभ केतु (शंकर) को पूजते हैं। जो भगवान् त्रिलोचन से द्वेष करते हैं वे भगवान जनार्दन से द्वेष करते हैं। जो रुद्र को नहीं जानते वे केशव को भी नहीं जानते। रुद्र से बीज प्रवर्तित होता है और विष्णु बीज की योनि हैं जो रुद्र हैं वे स्वयं ब्रह्मा हैं, जो स्वयं ब्रह्मा हैं वहीं अग्नि हैं। रुद्र ब्रह्मा और विष्णु के स्वरूप हैं। सारा जगत् अग्नि सोमात्मक है। जितने पुरुष हैं वे सब भगवान रुद्र हैं और समस्त नारी जाति भगवती उमा का स्वरूप है। समस्त चराचर जीव उमा और रुद्र के स्वरूप है व्यक्त जगत् सब उमारूप हैं और अव्यक्त तत्व महेश्वर हैं। उमा और शंकर का योग 'विष्णु' कहलाता है। जो उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करता है वह आत्मा (जीव) परमात्मा ब्रह्म और अंतरात्मा (अन्तर्यामी) इन तीनों प्रकार के आत्मा को जानकर परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है। अंतरात्मा ब्रह्मा है। परमात्मा महेश्वर है सब प्राणियों की सनातन आत्मा विष्णु भगवान हैं। पृथ्वी पर विविध प्रपंचरूप छोटी मोटी शाखा वाले त्रिलोकीरूपी वृक्ष के, अग्र, मध्य और मूल विष्णु, ब्रह्मा और महेश हैं। कार्य विष्णु हैं, क्रिया ब्रह्मा है और करण महेश्वर हैं। रुद्र भगवान् ने प्रयोजन के लिए ही मूर्ति को तीन रूपों में विभक्त किया हैं धर्म रुद्ररूप है, जगत 'विष्णु' रूप है और सर्व ज्ञान ब्रह्मारूप है। जो 'रुद्र रुद्र रुद्र' इस प्रकार रुद्र भगवान् को पुकारता है वह संस्कारी जीव है। सर्व देवरूप रुद्र भगवान के कीर्तन से सब पापों का नाश हो जाता है।

'रुद्र पुरुष हैं और उमा स्त्री हैं'। इससे उन दोनों को नमस्कार है। रुद्र ब्रह्म हैं उमा सरस्वती हैं इससे उनको नमस्कार है। रुद्र विष्णु हैं उमा लक्ष्मी हैं। इन स्वरूपों में उनको नमस्कार हैं।

रुद्र सूर्य हैं उमा छाया हैं। इससे उनको नमस्कार है। रुद्र सोम हैं और उमा तारा हैं। इस स्वरूप में उनको नमस्कार है। रुद्र दिवस है उमा रात्रि है; इस स्वरूप में उनको नमस्कार है। रुद्र यज्ञ हैं उमा वेदी हैं, इस रूप में उनको नमस्कार है। रुद्र अग्नि है, उमा स्वाहा हैं इस रूप में उनको नमस्कार है। रुद्र वेद हैं उमा शास्त्र हैं इस स्वरूप में उनको नमस्कार है। रुद्र लिंग हैं और उमा पीठ हैं इस रूप में उनको नमस्कार है। सर्वदेव रूप रुद्र को विभिन्न रूपों में नमस्कार करके इन मंत्रों द्वारा ईश और पार्वती को नमस्कार करता हूँ।

उपासक जहाँ कहीं भी हो, अर्थ-ज्ञानपूर्वक इस मंत्र का उच्चारण करे। ब्रह्म-हत्या करने वाला जल के बीच में खड़ा होकर इस मंत्र का जप करे तो वह सब पापों से छूट जाता है। सबका आश्रय रूप सनातन पर ब्रह्म सुख-दुःखादि द्वंद्वों से रहित है तथा सत् चित् आनंदरूप है। वह वाणी और मन का विषय नहीं है। इसको सब प्रकार से जानने से, हे शुकदेव इस सारे दृश्य प्रपंच का ज्ञान प्राप्त होता है। सब कुछ उन्हीं का स्वरूप होने से भिन्न कुछ भी नहीं हैं।

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं- एक परा दूसरी अपरा। हे मुनिश्वर! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष तथा आत्मा से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान ये सब अपरा विद्या हैं। वह परमात्मा अदृश्य एवम् अग्राह्य है, वह गौत्र (नाम) हीन, रूप हीन, नेत्रहीन, श्रोत्र हीन और हाथ पैर से बिल्कुल रहित है, नित्य है, व्यापक है, सब में रहने वाला अत्यन्त सूक्ष्म अव्यय (परिणाम रहित) तथा सब प्राणियों का कारण है। धीर (विद्वान) पुरुष उस परमात्मा को अपने अन्दर देखते हैं। वह सर्वज्ञ है और सर्व विद्याओं का आकार है। उसका तप ज्ञानमय है और उस रुद्र भगवान से इस लोक में जगत के समूह अन्नरूप में उत्पन्न होते हैं। रज्जू में सर्प की भांति यह समस्त जगत् उस ब्रह्म के अन्दर सत्य के समान ही जान पड़ता है। वह ब्रह्म अक्षर (अविनाशी) सत्य है। उसको जानकर प्राणी बन्धन से छूट जाता है। ज्ञानसेही संसार (आवागमन) का नाश होता है, कर्म से नहीं। इसलिए (उस ज्ञान के लिए) श्रोत्रिय (वेदवित्) ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास शास्त्र-विधि के अनुसार जाए। गुरु उसको ब्रह्म और आत्मा का बोध कराने वाली पराविद्या का उपदेश करे।

इस प्रकार मनुष्य जाति गूढ़ साक्षात् अक्षर-ब्रह्म को यदि जान ले, तो वह अविद्या रूपी महाग्रन्थि को छेदकर सनातन शिव को प्राप्त होता है। ॐकार धनुष है आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है। इसलिए सावधानता से लक्ष्य को बेधने के लिए बाण के समान तन्मय हो जाय। लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म सर्वगत है और शर (जीव) सबमें रहता है तथा तेज फल वाला (प्रणव के ध्यान में सुसंस्कृत) है। बेधने वाला ज्ञाता सर्व गत है। शिव ही लक्ष्य है इसमें संशय नहीं। वहां चन्द्र अथवा सूर्य का स्वरूप प्रकाश नहीं करता, वायु नहीं बहती। वहाँ सब देवता भी नहीं हैं। वह यह परमात्म देव सारे कार्य पदार्थों का यथार्थ तत्त्व है। स्वयं शुद्ध एवम् रजोगुण से रहित होकर प्रकाशमान हैं। इस शरीर में जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी साथ रहते हैं। इसमें

जीव कर्म फल का भोक्ता है और महेश्वर फल भोक्ता नहीं है। महेश्वर केवल साक्षी रूप से बिना भोग के स्वयं प्रकाशित होता है। इन दोनों में भेद माया से कल्पित है। जिस प्रकार घट में रहने वाला आकाश घटाकाश है और मठ रहने वाला आकाश मठाकाश है, और यह मुख्य आकाश के भेद से कल्पित हैं उसी प्रकार जीव और शिव रूप से एकत्व में दो तत्व कल्पित हैं।

वास्तविक शिवरूप परमेश्वर साक्षात् चैतन्य स्वरूप हैं और जीव भी स्वरूपतः चैतन्यात्मक है। चित्त (ज्ञान) चैतन्य स्वरूप से भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों ही चैतन्य स्वरूप हैं। यदि भिन्न हो तो उनकी जड़रूपता हो जाएगी, क्योंकि चैतन्य से भिन्न सभी जड़ हैं। निश्चय ही चित्त (चैतन्य) सर्वदा एक है। (श्रुत्यनुकूल) तर्क तथा प्रमाण के द्वारा भी चैतन्य की एकरूपता निश्चित होने से चैतन्यत्व की एकता का ज्ञान हो जाने पर शोक नहीं रहता और न मोह ही रहता है। समस्त जगत् के अधिष्ठान रूप सत्य चिद्घन रूप अद्वैत परमानन्दरूप शिव को प्राप्त होता है पर ''शिव'' मैं ही हूँ। ऐसा निश्चय करके मुनि शोक से मुक्त हो जाते हैं। जिनके अविद्या, काम क्रोधादि दोष क्षीण हो गए हैं, ऐसे पुरुष अपने शरीर में स्वयं प्रकाश एवम् सबके साक्षी परमात्मा को देखते हैं, परन्तु जो माया से आवृत्त होते हैं वे उसे नहीं देख पाते इस प्रकार जिस श्रेष्ठ योगी को अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है उस पूर्ण स्वरूप वाले को कहीं भी जाना-आना नहीं पड़ता जैसे आकाश संपूर्ण और एक है वह कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार 'आत्म स्वरूप' को जानने वाला कहीं नहीं जाता, वह मुनि ज़ो निश्चयपूर्वक उस परब्रह्म को जानता है, अपने स्वरूप में स्थित होकर सत् चित् आनंद स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

हरि ॐ तत्सत्

- रुद्र हृदयोपनिषद

(ह) ॐकार स्वरूप एक अक्षर अनेक स्वरूपी किस प्रकार हुआ? इस संबंध में नारायण ब्रह्मा को कहने लगे कि 'प्रथम एक अद्वितीय रूप ब्रह्म था। उससे अव्यक्त तथा प्रकाशरूप अक्षर हुआ। इस अक्षर में से महत्, महत् में से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा तथा उसमें से पंच महाभूत हुए। यह अक्षर पंच महाभूतों से वेष्टित है। मैं अक्षर रूप हूँ, मैं ॐकार रूप हूँ, मैं अजर अभय अमृत ब्रह्म तथा अभय रूप हूँ। मैं ही मुक्त तथा अक्षर रूप हूँ एक तथा अद्वय ब्रह्म सत्ता मात्ररूप, विश्वरूप, प्रकाशरूप तथा व्यापकरूप है। माया को लेकर चाररूप होता है। रोहिणी-पुत्र बलराम विश्वात्मक तथा एकाक्षर की उत्पत्ति रूप है। तेज स्वरूप तथा मकार अक्षर के संभव रूप प्रद्युम्न हैं प्राज्ञ स्वरूप तथा मकार अक्षर में संभव रूप अनिरुद्ध है। अर्धमात्रा स्वरूप श्रीकृष्ण हैं कि जिनमें समस्त विश्व स्थिति लिए हुए हैं। श्रीकृष्ण स्वरूप जगत को उत्पन्नकर्तारूप तथा मूल प्रकृति रुक्मिणी है। श्रुति ब्रज की गोपियाँ है जो प्रणव रूप है तथा रुक्मिणी को प्रकृति रूप ब्रह्मवादी जनकहते हैं। इसलिए विश्व में स्थिति वाले गोपाल ॐकार स्वरूप हैं। ब्रह्मवादी काली तथा ॐकार को एक रूप कहते हैं। - (गो-उ.ता.उ.)

१३ (अ) जीवः-

''कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः''

दोहाः-

घट जल ख-प्रतिबिंब सम मति में ब्रह्म अभास।
अधिष्ठान कूटस्थ सह, जीव कहीजे तास।।१।।

देहादिक जे ईश के, ताको सुनहु विचार।
होवे जाके ज्ञान ते, ईश्वर को निर्धार।।२।।

जग के उत्पति थिति लय, तीन अवस्था एह।
विराट् सूत्रातम अरु, अव्याकृत ये देह।।३।।

सत्वादिक गुण वस्तु है, माया देश पिछानि।
वैश्वानर हिरण्यगर्भ, ईश्वर ये अभिमानि ।।४।।

-(बा.बो.उ.३।७-८)

(ब) जीव ही शिव हैः- श्री स्कंद कहते हैं-हे महादेव! आपकी कृपा-कोर से मैं अच्युत हूँ, विज्ञानघन हूँ और शिव हूँ। अंतःकरण विषयाकार होने से निज स्वरूप प्रतीत नहीं होता और अन्तःकरण के नाश द्वारा ज्ञानमात्र 'हरि' ही रहता है। मैं केवल ज्ञान और अन्जमा हूँ मेरे से भिन्न सर्व जड़ स्वप्न के समान हैं। जीवों का तथा जड़ का जो द्रष्टा है वह ज्ञानमात्र अच्युत है, वे ही महादेव हैं और वही महाहरि हैं। वही ज्योतियों की ज्योति वही परमेश्वर और वही ब्रह्म है। वह ब्रह्म मैं हूँ। इसमें संशय नहीं। जीव केवल शिव है। जिस प्रकार छिलके (भूसे) से बँधा हुआ चावल है और छिलके के अभाव में चोखा है, उसी प्रकार कर्म से बँधा हुआ जीव है और कर्म के नाश में सदाशिव है। शिव का हृदय विष्णु और विष्णु का हृदय शिव है। विष्णु शिवमय है और शिव विष्णुमय है। देह देवालय है और जीव केवल शिव है।। इस शिव का अज्ञानरूप निर्माल्य निकालकर 'सोहं' भाव द्वारा पूजन करना चाहिए। अभेद दर्शन ज्ञान और विषय रहित मन यह ध्यान है। मन के मल का त्याग यह स्नान और इद्रिंयों का निग्रह यह शौच है। ब्रह्मरूप अमृत यह भिक्षाहै। साधक द्वैत रहित एकान्त में दृढ़ निश्चय वाला होकर वास करे।

- (स्कंदोपनिषद् का सार)

(स) जड़ देहादि को आत्मपने के भाव से मानना बंध है और ऐसे अभिमान की निवृत्ति मोक्ष है। जड़ देहादि में आत्मभाव का अभिमान कराने वाली अविद्या और मै पन के अभिमान की जिसमें निवृत्ति होती है वह विद्या कहलाती है। जिसमें शब्दादि का अभाव होते हुए भी अन्तःकरण द्वारा वासना शब्दादि की प्रतीति होती है वह है स्वप्न, जिसमें श्रोत्रादि १४ करणों

द्वारा स्थूल शब्दादि की प्रतीति होती है, वह जाग्रत तथा जिसमें श्रोत्रादि १४ करणों केउपरामहोने से विशेष विज्ञान का अभाव होता है व सुषुप्ति कहाती है। जो तीन अवस्था के भावाभाव का साक्षी और स्वयं भावाभाव रहित है वह तुरीय है। स्थूल शरीर, अन्नमय कोष, प्राणादि प्राणमय कोष बुद्धि तथा ज्ञानन्द्रियों सहित-विज्ञानमय कोष और यह चारों कोष हैं। देहादिरूप उपाधिवान चेतन जिस अज्ञान में स्थित होते हैं वह अज्ञान आनन्दमय चेतन जीव कहाता है। इस जीव भाव की निवृत्ति ज्ञान बिना नहीं होती। आत्मा की उपाधि रूप लिंग शरीर हृदय ग्रन्थि कहाती है और उसमें जो चैतन्य प्रकाशता है वह क्षेत्रज्ञ कहाता है। जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के आविर्भाव तथा तिरोभाव का द्रष्टा तथा स्वयं आविर्भाव तिरोभाव रहित स्वयं प्रकाश है वह साक्षी कहाता है। सर्व प्राणियों की मिथ्या रूप बुद्धि में निर्विकार पन से स्थित रहा हुआ चेतन कूटस्थ कहाता है। सर्व शरीरों के अंदर रहा हुआ चेतन अन्तर्यामी कहाता है। चिन्मात्र स्वरूप प्रत्यगात्मा त्वं पद का अर्थ है और अविनाशी ज्ञानरूप, अनन्तरूप तथा आनन्दरूप जो परमात्मा, यह तत् पद का अर्थ है। माया अनादि कार्यरूप से विनाशी, सत् से असत् और असत् से सत् तथा सत असत् से विलक्षण अज्ञानकाल में अपने कार्य दिखाने वाली, ज्ञानकाल में नहीं प्रतीत होने वाली और ऐसी अथवा वैसी न कहे जा सकने वाली है।

- (सर्वोपनिषद्सार)

(१४) शिवः- यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि। जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् (विजिज्ञासस्व)। तद्ब्रह्म।।

- (तैत्तिरीय उपनिषद्)

अर्थः- जिससे, हिरणयगर्भ से लेकर कीट पर्यन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें उत्पन्न होकर प्राण धारण करते हैं। अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, उसको जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है (वही शिव है, वही तुम हो)।

तत्वं पद में असि[१५] जो चेतन दोनों का सन्धे।
त्रिगुणात्मक मिथ्या माया[१६] गुप्तातम[१७] सत् चित्।
आनन्दे[१८] ।।१८।।

भावार्थः- तत्वमसि जो वेद का महा वाक्य है, इसका पदच्छेद-'तत् त्वम् असि' है, इसमें तत् पद का लक्ष और त्वम् पद वाच्य जो असि-पद अर्थात व्यापक चैतन है, वहीं दोनो पद का संयोजक है - वही तू है। यह त्रिगुणात्मिका माया, मिथ्या अर्थात्-परिवर्तशील है, और तू अंधकार रहित सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा है।

ऐसे कल्याण स्वरूप, नित्य-आनंद-प्रदाता, हरि-हर-स्वरूप गुप्तानंद का भजन करने से काल-पाश कट जाती है।

---

(१५) तत्वमसिः-

माया सहित ब्रह्म है, ईश सु तत्पद वाच्य।
माया रहित ब्रह्म है, तत्पद लक्ष्य अवाच्य।।१।।

चिदाभास यह बुद्धियुत, चित् सो त्वं पद वाच्य।
बिन उपाधि कूटस्थ चित्, त्वं पद लक्ष्य अवाच्य।।२।।
- (बा.बो.)

अर्थः- परमात्मा देव सर्व व्यापक है ऐसा तत् पद का अर्थ है। तथा आगे हंस रूप कहा हुआ जीवात्मा वह त्वं पद का अर्थ है। तत् पदार्थ रूप ईश्वर का तथा त्वं पदार्थ रूप जीव का जो परस्पर भेद हैं, वह वास्तविक रीति से भेद नहीं है, किन्तु उपाधि के कारण भेद दिखाता है। श्रुति में क्षर तथा व्यक्त इन दो नामों से कहा हुआ जो अन्तःकरणादि कार्य प्रपंच है, वह त्वं पदार्थरूप जीव की उपाधि है तथा श्रुति में अक्षर और अव्यक्त इन दो नामों से कहा हुआ जो कारण अज्ञान है, वह कारण अज्ञान तत् पदार्थ रूप ईश्वर की उपाधि है' "वेद में कहा है कि कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" अन्तःकरणादि रूप कार्य उपाधि वाला जीव है, तथा अज्ञान-रूप कारण उपाधि वाला ईश्वर है। इस कार्य तथा कारणरूप दोनों उपाधियों का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म है। वह परमात्मा बुद्धि के साथ तादात्म्य संबंध को प्राप्त होने से अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जाने है। तभी सो परमात्मा देव जीव भाव को प्राप्त होवे हैं। तभी जीव भाव करिके सो परमात्मा देव पुण्य पाप के वास्ते नाना प्रकार के सुख दुःखों कूं भोगे हैं। और वहीं

परमात्मा देव जभी मायाकृत जीव भाव का परित्याग करिके आपणे कूं अद्वितीय ब्रह्मरूप जाने है, तभी सो परमात्मा देव सर्व बन्धनों ते मुक्त होकर मोक्ष रूप अमृतभाव को प्राप्त होवे हैं। जैसे वास्तव में न्यून अधिक भाव से रहित जो आकाश है सो आकाश जभी सूची (सुई) के मूल छिद्र विषे स्थित होता है तभी वह आकाश अल्प कहा जावे है और सोही आकाश जभी ब्रह्माण्ड रूप उपाधि विषे स्थित होवे है, तब ही वह आकाश महान् कहा जाता है। तैसे वास्तव तैं जीव ईश्वरभाव तैं रहित जो यह परमात्मा देव है सो परमात्मा देव जभी बुद्धिरूप उपाधि विषे स्थित होवे हैं। तभी सो परमात्मा देव जीव संज्ञा कूं प्राप्त होवे हैं, और सोई ही परमात्मा देव जभी माया-रूप उपाधि विषे स्थित होवे हैं तभी सो परमात्मा देव 'ईश्वर' संज्ञा कूं प्राप्त होवे हैं। यातैं कार्यकारण रूप उपाधि के भेद करिके ही जीव ईश्वर का भेद प्रतीत होवे हैं। वास्तव में जीव ईश्वर का भेद नहीं। यातैं तो कल्पित उपाधियों का परित्याग करिके यह जीवात्मा रूप हंस जभी अपने कूं अद्वितीय ब्रह्मरूप करिके जाने है, तभी यह जीवात्मा मायारूप कारण सहित सर्वकाम क्रोधादि पाशों से मुक्त होवे हैं।

शंकाः- हे भगवान्! ऐसे अद्वितीय आत्मा विषे जीव ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि भेद व्यवहार कौन करावे है?

समाधानः- एक ईश्वर, दूसरा जीव, तीसरा शुद्ध ब्रह्म ये तीनों कूं शास्त्रवेत्ता पुरुष अनादि कहे हैं। सो तिन तीनों विषे जो अनादिपणा है तथा जन्म से रहितपणा है सो भी या माया करिके कल्पित है। तात्पर्य यह कि माया-शक्ति ही तिन ईश्वरादिकों कूं "अनादि रूप" करिके कल्पना करे है ओर आकाशादिक प्रपंच कूं सादिरूप करिके कल्पना करे है। और उस माया ने जीव, ईश्वर, शुद्ध ब्रह्म या तीनों विषे जभी अनादिपणा कल्पित किया, तभी तिस जीव, ईश्वर, का भेद था सा माया तथा माया-चेतन का सम्बन्धन या तीनों विषे जभी अनादिपण अर्थ तें ही सिद्ध व हैं। यह वार्ता सुरेश्वराचार्य नें भी कथन करी है। तहाँ-

श्लोकः-जीव ईशो विशुद्धाचिद्विभागचितयोर्द्वयोः।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।

अर्थात्:- जीव, ईश्वर, शुद्ध चेतन, तिन दोनों का परस्पर भेद, अविद्या, अविद्या चेतन का सम्बन्ध, यह षट् वेदान्तशास्त्र विषे अनादि होवे हैं।।१।। इस तैं आदि लेके जो अद्वितीय आत्मा विषे भेद प्रतीत होवे हैं, सो सम्पूर्ण माया करिके ही प्रतीत होवे हैं, और यह अधिकारी पुरुष जभी जीव, ईश्वर शुद्ध चेतन या तीनों कूं अपने आत्मा ते अभिन्न करिके जानै है, तथा आपणे स्वरूप कूं सर्वत्र व्यापकरूप करिके जानै है, तभी यह अधिकारी पुरुष मोक्ष कूं प्राप्त होवे है"।

(१६) मायाः-

निःस्वत्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
नहि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्‌किंबुद्धयते कार्यतःपुरा।।

(पंच. महा. ४७)

भावार्थः- जो वस्तु सत्य और असत्य से निराली है, वह परमात्मा की शक्ति अर्थात माया है, जैसे इन्द्रजाल। इस माया में मिथ्या भ्रम उत्पन्न करने के सिवाय मोह शक्ति भी है। यह माया पंच भूतों से रहित इनका कारण रूप है। जैसे दाहकता आदि कार्य से निराला उसका कारण रूप अग्नि। नाम रूपात्मक पंच-भूतमयी सृष्टि रूप कार्य से यह माया जानी जाती है, जैसे दाहकता रूप कार्य से अग्नि का ज्ञान होता है। सत्यरूप परमात्मा के किसी अंश में १/१० यह जगजननी माया रहती है, जैसे पृथ्वी के किसी अंश में घड़ा आदि बनाने को चिकनी मिट्टी, जैसे चिकनी मिट्टी में घड़ा बनाने आदि की शक्ति को मिट्टी से जुदी, दूसरी वस्तु नहीं कहते हैं, ऐसे ही परमात्मा की माया को दूसरा तत्व नहीं कहते हैं। जबकि शक्ति ही दूसरा तत्त्व नहीं है, तो उस शक्ति का कार्य मिथ्यारूप जगत् दूसरा तत्त्व कैसे हो सकता है? जैसे दीवार या कागज में अनेक रंगों का मेल होना चित्र कहलाता है, ऐसे ही सत्यरूप आत्मा के किसी अंश १/१० में माया से जगत् की कल्पना (भ्रम से मान लेना) होती है।
(पंच. महा. ४७-५९)

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।

(पंच. चित्र. १२३-१४६)

भावार्थः- जिसमें बुद्धि न चले उसे माया कहते हैं, माया को प्रकृति जाने और मायावान् को महेश्वर, इस (ईश्वर) के अंशरूपों में यह सब संसार व्याप्त है, यह माया इन्द्रजालवत् है, यह मोहरूपी माया तीन प्रकार से देख पड़ती है। १ तुच्छरूपा, २. वस्तुरूपा ३ अनिर्वचनीया। जान लेने पर शान्त हो जाती है, इससे तुच्छ है। क्योंकि जब तक नहीं जानते तभी तक उसका चमत्कार रहता है। फिर तो 'यह माया है' ऐसा जान लेने पर शान्त हो जाता है। वस्तु रूप से देख पड़ती है इससे वस्तुरूपा है। देख पड़ती है और फिर नष्ट हो जाती है तथा अघटित घटना करती है, इससे अनिर्वचनीया है। संसार को स्पष्ट देखते हैं, परन्तु-उसका वर्णन करना सामर्थ्य के बाहर है, इसलिए मायारूप संसार आश्चर्यमय है। जैसे जल में द्रवता, अग्नि में उष्णता, स्वयं है, ऐसे ही माया में अघटित घटना स्वयं है। जिस प्रकार से माया परतंत्र है, उसी प्रकार स्वतंत्र भी है। बिना चेतन के नहीं मालूम होती है इससे परतंत्र है। असंग परमात्मा

को जीव और ईश्वर कर देती है इससे स्वतंत्र है। जैसे वस्त्र के समेटने और फैलाने पर उसमें बने हुए चित्रों का न देख पड़ना व देख पड़ना होता है, ऐसे ही माया के द्वारा सृष्टि का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है।

सुषुप्ति (कुछ न जानने की दशा) में माया का बीज रहता है। उस सुषुप्ति के माया बीज में जाग्रत-स्वप्न रूप संसार, वासना रूप से लीन रहता है, जैसे बीज में पत्र-पुष्प सहित वृक्ष। संसार की वासनाओं में से जोकि बुद्धि की वासनाएँ हैं, उनमें चेतन का प्रतिबिंब पड़ता है, परन्तु सुषुप्ति दशा में स्पष्ट नहीं मालूम होता है। जैसे मेघाकाश में जब चैतन्याभ्यास के साथ वह माया बीज बुद्धि के रूप से उदय होता है तब जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में चैतन्याभास स्पष्ट ज्ञात होता है।

मेघाकाश में जैसे मेघ रहता है, ऐसे ही ईश्वर में माया रहती है। जैसे बादल में तुषार रूप से जल के कण रहते हैं ऐसे ही माया में बुद्धि की वासनाएँ रहती हैं। जैसे तुषार रूप जल में आकाश का प्रतिबिंब पड़ता है ऐसे ही बुद्धि की वासनाओं में चेतना का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिए माया ही ईश्वर और जीव की रचना करती है। जैसे महाकाश के प्रतिबिंब मेघाकाश और जलाकाश हैं, ऐसे ही ईश्वर और जीव को परब्रह्म के प्रतिबिंब रूप समझना चाहिए।

(१७) गुप्तातम-

ज्ञान का ज्ञान अरु ध्यान का ध्यान है,
जान का जान जहान सारा।
जीव का जीव है सीव का सीव है,
ब्रह्म का ब्रह्म कछु नाहिं न्यारा।।
आपना आप है पुन्य नहिं पाप है,
जाप अजाप नहिं मधुर खारा।
गुप्त से गुप्त प्रगट से प्रगट,
ध्रुव से ध्रुव चलता अपारा।।

दोहा- ज्ञज्ञा ज्ञान सरूप तें, नहीं रूप अरूप।
सो तो अपना आप है, किसकी दीजे ऊप।।
(चौदहरत्नगुप्तसागर)

१८ (अ) दोहाः-

देहादिक प्रपंच ते, न्यारो आतम रूप।
संग विकार विहीन सो, पूरण ब्रह्म स्वरूप।।१।।

देह अवस्था तीन हैं, कोश पंच पुनि आहिं।
तीन देह के मध्य गत, मैं साक्षी यह नाहि।।२।।

ऐसा जानो रूप निज, ब्रह्म अभिन्न पिछान।
सत्‌चित आनन्द सोइ है, यह निश्चय सो ज्ञान।।३।।

सच्चिदानन्दः-सत् (अस्ति)+चित् (भाति)+आनन्द (प्रिय) रूप से जो अखंड एक रस त्रिकालाबाध परब्रह्म है, वही सच्चिदानन्द-निज आत्मा है। -(बा. बो. १५५)

(ब) आनन्दः-आनन्द के तीन भेद हैंः- १ ब्रह्मानन्द, २ विद्यानन्द, विषयानन्द। जिसमें 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' त्रिपुटी नहो, अहंपन का अभिमान न हो और निद्रा भी न हो-उसको निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द, अद्वैतानन्द नित्यानन्द और ब्रह्मानन्द कहते हैं। 'आनन्द से प्राणी उत्पन्न होते, आनंद से जीते और आनंद में ही लय होते हैं। ऐसे ब्रह्मानन्द को मायिक कहते हैं। अपने पिता वरुण से मायिक ब्रह्मानन्द को ही सुनकर भृगु ने मुख्यानन्द समझ लिया था। माया रूप उपाधि के त्याग से अखंड अद्वैतानन्द को माया रहित ब्रह्मानन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द की वासना को विद्यानन्द कहते हैं और ब्रह्मानन्द के प्रतिबिंब को विषयानन्द कहते हैं। ऐसा होने पर मुख्य ब्रह्मानन्द से वासनानन्द और प्रतिबिंबानन्द उत्पन्न होते हैं। संसारमें इन तीन के सिवाय अन्य कोई आनंद नहीं है। -(पंचदशी)
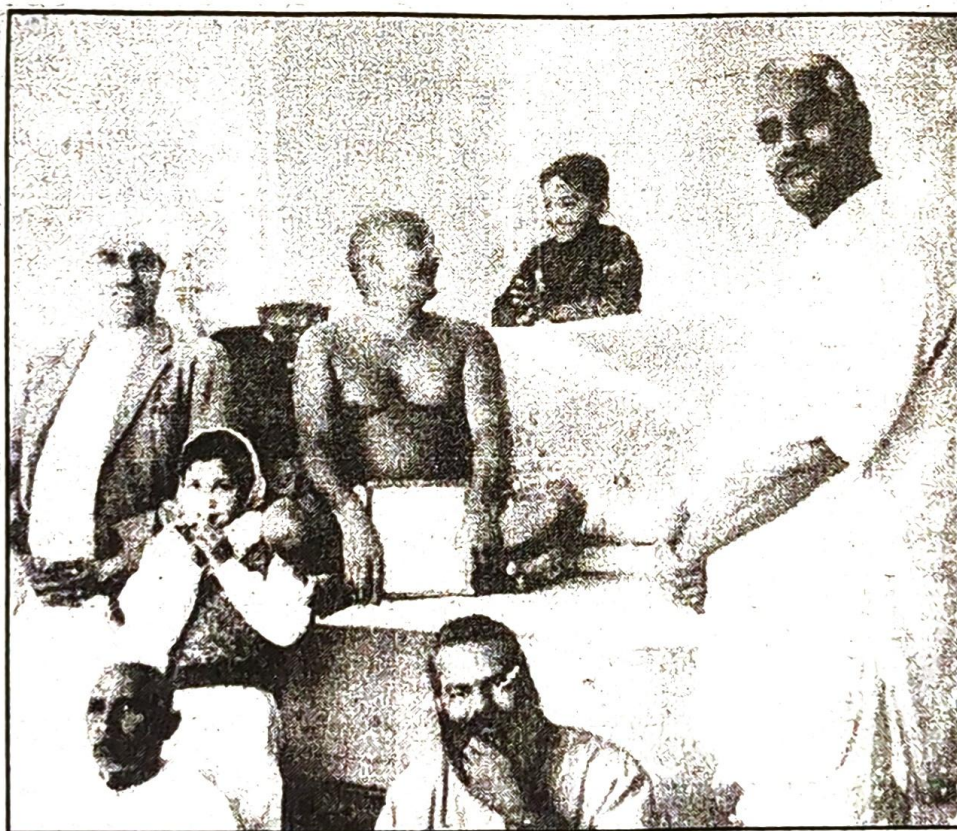
दोहा।

पढ़े जो सन्ध्या आरती, साँझ समय चितलाय।
कोई काल अभ्यासते[१९], समुझे सहज सुभाय।।१।।

भावार्थः- जो कोई इस आरती-अष्टक को सायंकाल के समय चित्त लगाकर पढ़ेगा तो कुछ समय बाद अभ्यास करते-करते सहज स्वभाव ही-वह सब रहस्य समझ जायगा।।१।।

---

१९ (अ) कोई काल अभ्यास तेः केनोपनिषद् में ३२ वां मंत्र हैः- "उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता ते उपनिषद् ब्राह्मीं वाक्यं उपनिषद्मब्रूमेति।।३२।। शिष्य ने कहा 'हे गुरु! अब तुम मुझको ब्रह्मविद्या का भेद बता दो'। तब गुरु ने कहाः 'जो कुछ ब्रह्म विद्या का ज्ञान था वह तुझको सब बता चुका'। तब शिष्य ने कहाः- जो कुछ आपने बताया है इसमें जो शेष रह गया है, उसको आप बतावें। गुरु ने कहाः "मैं ब्रह्म का उपदेश तुझको कर चुका, अब कुछ बताना शेष नहीं। निश्चय ही, अब कुछ बतलाना बाकी नहीं है"! प्रश्न होता है कि गुरु से ब्रह्मविद्या सुन चुकने पर भी शिष्य को ब्रह्म के संबंध में संदेह क्यों रहा, जिससे उसने कहा कि और जो बाकी है वह उपदेश कीजिए? समाधानः- ब्रह्म विद्या श्रवण अर्थात्-गुरु से उपदेश सुनने, उसको युक्ति से रात दिन विचारने, निदिध्यासन-उस पर नियमपूर्वक कर्म अभ्यास करनेसे सिद्ध होती है। और गुरु उपदेश केवल श्रवण है। मनन और निदिध्यासन की कमी होने से शिष्य को 'ब्रह्मविद्या' का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ। इसी से उसने गुरु से प्रश्न किया। अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने केलिए कुछ काल अभ्यास की परमावश्यकता है इसी लिए दोहे में संक्षेप रूप से उसकी प्राप्ति का मार्ग बतलाया है।

(ब) अभ्यासः-

'अभ्यास' शब्द में अभि, आस ऐसे दो पद हैं। 'अभि' अर्थात् समीप एवं 'आस' अर्थात् पास रहना-समीप रहना एक ही विषय पर लगातार विचारों का प्रवाह चलाना, अर्थात् किसी विषय का हृदय पर चित्र अङ्कित करना है। आस शब्द का अर्थ धनुष्य भी है। इसका भी यही भाव निकलता है कि धनुष के समीप अर्थात् धनुष चलाते समय जैसे उसकी प्रत्यंचा-रस्सी खींच कर लक्ष्य बेध जमा के बाण छोड़ा जाता है वैसे ही अभ्यास अर्थात् किसी विषय को साध्य करने के लिए विचारों का एकीकरण समीकरण एवं लक्षीकरण करके विषय को ग्रहण किया जाता है उसको अभ्यास कहते हैं।

लगातार किसी विषय के समीप जाना या उस विषय को समीप लाना एवं उसमें तदाकार होना या उसको तदाकार करना अर्थात् स्वयं अभ्यास बन जाना या अभ्यास को अपने में बना लेना, या अपने को अभ्यास में मिला लेना, या अभ्यास में स्वयं मिल जाना अभेद हो जाना, इसको अभ्यास दृढ़ता कहते हैं। "सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया। कीटको भ्रमरं ध्यायान् भ्रमरत्वाय कल्पते।।" अर्थात् एकनिष्ठ होकर के जिस विषय में मनुष्य आसक्त होता है, वह उसी का रूप बन जाता है। जैसे कीट का ध्यान-अभ्यास करके भ्रमर बन जाता है। भगवान् शंकराचार्य की इस उक्ति में एकनिष्ठा शब्द अनुलक्षणीय है, एवम् ध्यायन्-यह पद संस्मरणीय है इन्हीं शब्दों का रूप ज्वलन्त प्रत्यक्ष प्रमाण कीटक का भ्रमर होना है। यही 'अभ्यास' अभ्यास की दृढ़ता एवम् अभ्यास की सफलता प्रत्यक्ष ईश्वर रूप होना है।

-(विचार दर्शन)

सर्वेषां तु पदार्थानामभ्यासः कारणंपरम्।
अनभ्यासेन मत्यस्य प्राप्तो योगोऽपि नश्यंति।।१।।

अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेनानिलच्युतिः।
अभ्यासेन परमानंदोह्यभ्यासेनात्मदर्शनम्।।२।।

- (योगरसायन)

देहोऽयमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देवश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते।।३।।

अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्यातस्यानिपातिका।
तस्माद्यत्निः सदाकार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः।।४।।

अर्थः- यह देह यही मैं हूँ- 'इस प्रकार की जो बुद्धि यह अविद्या कहाती है, परन्तु मैं देह नहीं वरन् चिदात्मा हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि उसका नाम विद्या है।।१।।

अविद्या संसार की हेतु है और विद्या संसार को निवृत्त करने वाली है इस लिए मोक्ष की इच्छा रखने वाले को विद्याभ्यास में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

(अ.रा.)

यह अभ्यास साधनों करके होता है। इसके संबंध में भगवान् रामचन्द्र अपने अनुज को समझाते हैं, विस्तृत वर्णन इसका अध्यात्म रामायणमें है-उसका साररूपं यहाँ दिया जाता हैः-

१. सज्जनों का समागम करना, यह प्रथम साधन है।
२. मेरी कथाओं को करना, यह दूसरा साधन है।

३. मेरे गुणों का कथन करना, यह तीसरा साधन है।

४. मेरे वचनों का व्याख्यान करना, यह चौथा साधन है।

५. निष्कपट बुद्धि से ब्रह्मस्वरूप समझकर आचार्य की निरंतर सेवा करना यह पाँचवाँ साधन है।

६. पुण्य शील-पना यम नियम का पालन करना और मेरी पूजन में एक निष्ठा रखना, यह छठा साधन है।

७. मेरे सांग मंत्र की उपासना करना, यह सातवाँ साधन है।

८. मेरे भक्तों की अधिक पूजा करना सब प्राणियों में मेरी भावना करना, बाह्य विषयों में वैराग्य रखना और शान्ति रखना, यह आठवाँ साधन है। तथा-

९. निरन्तर तत्व चिन्तन करना यह नवमा साधन है।

"इस प्रकार नवधा भक्ति अथवा नवसाधन जिस पुरुष को प्राप्त होते हैं। उस पुरुष को भक्ति होते ही मेरे तत्व का अनुभव होता है और मेरे अनुभव से सिद्ध हुए पुरुष की उसी जन्म में मुक्ति होती है।

(स) जन समाज और व्यावहारिक कार्यों से समय निकालकर प्रातःकाल तथ सायंकाल अथवा रात्रि को सोते समय किसी शुद्ध पवित्र एकान्त स्थान में अथवा अपनी कोठरी में किवाड़ बद करके अभ्यास केलिए बैठ जाओ, जिससे कि कोई तुम्हारे अभ्यास में विघ्न न डाल सके निश्चित होकर सुखासन से बैठ जाओ, प्रत्येक शरीर के प्रत्येक स्नायु और ज्ञान तन्तु को शिथिल और निश्चेष्ट करो। शांति से नासिका से, दस बीस दीर्घ श्वांस प्रश्वास करो, जिससे मन और शरीर शांत हो। पाँच चार मिनिट 'ॐ' का जप करो। इस जप की ध्वनि के आन्दोलन से तुम्हारे आसपास का वातावरण परम शुद्ध हो जाएगा। इसको 'शिव-कवच' कहते हैं। शान्ति में तल्लीन हो जाओ और एकाग्र चित्त होकर निम्न शिव भावनाओं को श्रद्धा प्रेम और शान्ति से मन, हृदय और आत्मा में प्रवेश कराओ। यह सब साधनों में श्रेष्ठ साधन है और सारे दुःखों और दोषों से मुक्त होने का सर्वोत्तम साधन है-उपाय है। मनुष्य जिस वस्तु की भावना करता है, मन में रचना करता है, उस का मन उस वस्तु के आकार वाला बन जाता है। और अन्तःकरण में दीर्घकाल तक जिस वस्तु की स्थिति रहती है वह वही हो जाता है। यह मानस शास्त्र का अचूक सिद्धान्त है। इसलिए जो व्यक्ति अपना जीवन सुख, शांति एवं अखंड आनंदमय बनाना चाहता हो, वह इस साधन का अभ्यास चार छह मास करके देखे, उसे अलौकिक आनंद और शांति प्राप्त होगी।

ॐ आत्मतत्वाय शोधयामि स्वाहा।
ॐ विद्यातत्वाय शोधयामि स्वाहा।
ॐ शिवतत्वाय शोधयामि स्वाहा।

इस प्रकार मंत्र बोलकर तीन आचमन करके जल प्राशन करने से शरीर मन और आत्मा स्थिर होता है इसका भावार्थ यह है कि मेरा जो जीवात्म तत्व (Energy) है, उसे मैं शुद्ध करता हूँ। और वह अन्तर्यामी तत्व मुझे, प्रेरणा करे। ज्ञान का तत्व (Energy) है। वह मुझे संपूर्ण ब्रह्मविद्या प्रदान कर अन्तर में प्रकाश करे ओर उत्तरोत्तर मेरा कल्याण करने वाला, प्रगति करने वाला जो शिव तत्व है, वह मुझे सन्मार्ग प्रदर्शित करे।

मैं अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोषों से अतीत तत्व हूँ। मैंने प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और पंच महाभूतों पर विजय प्राप्त की है।

मैं पंचकोशातीत हो गया हूँ। मैं हृदयाकाश में ज्योतिर्मय शिवरूप के दर्शन कर रहा हूँ। मुझे उस महान् प्रकाश का दिव्य तेज स्पर्श कर रहा है इस प्रकाश से सूर्य, अग्नि और विद्युत का प्रकाश फीका पड़ रहा है मैं अब स्वरूप स्थिति में लय हो रहा हूँ।

मैं सच्चिदानन्दघन, शान्त, आनंदमय, आत्मा हूँ। मेरी द्वैत भावना दूर हो गई है। जीव और शिव का एकीकरण हो गया है। अहंकार तो न मालूम कहाँ विलीन हो गया है। शास्त्र जिसे 'शिवतत्व' कहते हैं, वह मेरा मूल स्वरूप ही है।

मैं नित्य-शुद्ध, मुक्त स्वयं प्रकाश रूप हूँ। प्रत्येक जीव में प्रत्येक पदार्थ में, सौन्दर्य, बल, सामर्थ्य, तेज तथा आनंद यह सब मेरी सत्ता, मेरा ही स्वरूप एवम् मेरे ही अनंत ऐश्वर्य का विकास है। इस जगत् में दुःख का लेशमात्र भी नहीं है। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मैं सदा अखंड आनन्दमय हूँ। मैं सकल ऐश्वर्य सम्पन्न, सर्वदा सर्व शक्तिमान् परब्रह्म स्वरूप हूँ, मैं नित्य, निर्विकार, निरामय, अजर, अमर तथा पूर्ण निर्भय हूँ।

पिता शैवः शैवी तदनु जननी बन्धुसुहृदः।
सुताः शैवाः शैवं कुलमिति कुलं शैवमिति च।।

मतिः शैवे शास्त्रे शिवचरणसेवानुशरणं।
मुखे शैवी वाणी भवतु भगवन्मे शिवतु शिवाः।।

पिता हमारा शैव हो, उसी तरह हमारी माता, बन्धु और मित्र वे भी शैव हों। लड़के शैव हों, कुल शैव हो। शिव शास्त्र में हमारी सदा मति हो, और शिव के चरण की सेवा में हमारा सदा मन लगा रहे और मुख से सदा शिव-शिव-शिव कल्याण करने वाली शिव-शिव-शिव वाणी निकलती रहे।

अंतर्ज्योतिर्बहिर्ज्योति जगत्ज्योति परात्परः।
ज्योतिर्ज्योतिः स्वयम्ज्योतिरात्मज्योतिः शिवोस्म्यहम्।।

-(कल्याण)

ॐकार पंचक

(वसंत तिलक-विचार दर्शन)

ॐकार रूप परमेश्वर को प्रणाम-
सद्भक्ति युक्त करता पर मुक्ति पाने
है अष्टधा प्रकृति-भूत जगत् समग्र
भावानुरूप करता सबको विचार।।१।।

है चित्त एक रचनात्मक सृष्टिकारी
संकल्प मात्र रचना यह दृश्य सारा
होता विचार जग में सब का निदान
है देह मुग्ध, कुछ भी न विचार मात्र।।२।।

ॐकार रूप घटना जग की बनी है
है पूर्ण नाम उस ईश्वर का यथार्थ
हैं तीन अक्षर जहाँ पर अर्द्ध मात्रा
है चित्कला यह विचार निरोध गम्या।।३।।

ॐकार का रटन है करता सुगम्य
सद्भाव चित्कलन के उदयानुसार
संवित्ति वेदन मनोरथ देयता है
हो पूर्ण चिन्मय वहाँ सदसद्विचार।।४।।

ॐॐ सदा परम ॐ प्रभु ॐ विशाल
ॐ सामगान शुभ ॐ श्रुति गीत ॐ है
ॐ है चराचर विचार अमोघ शक्ति
ॐकार मात्र सब है प्रभु ॐ पवित्रम्।।५।।

ॐ तत्सत् ॐ
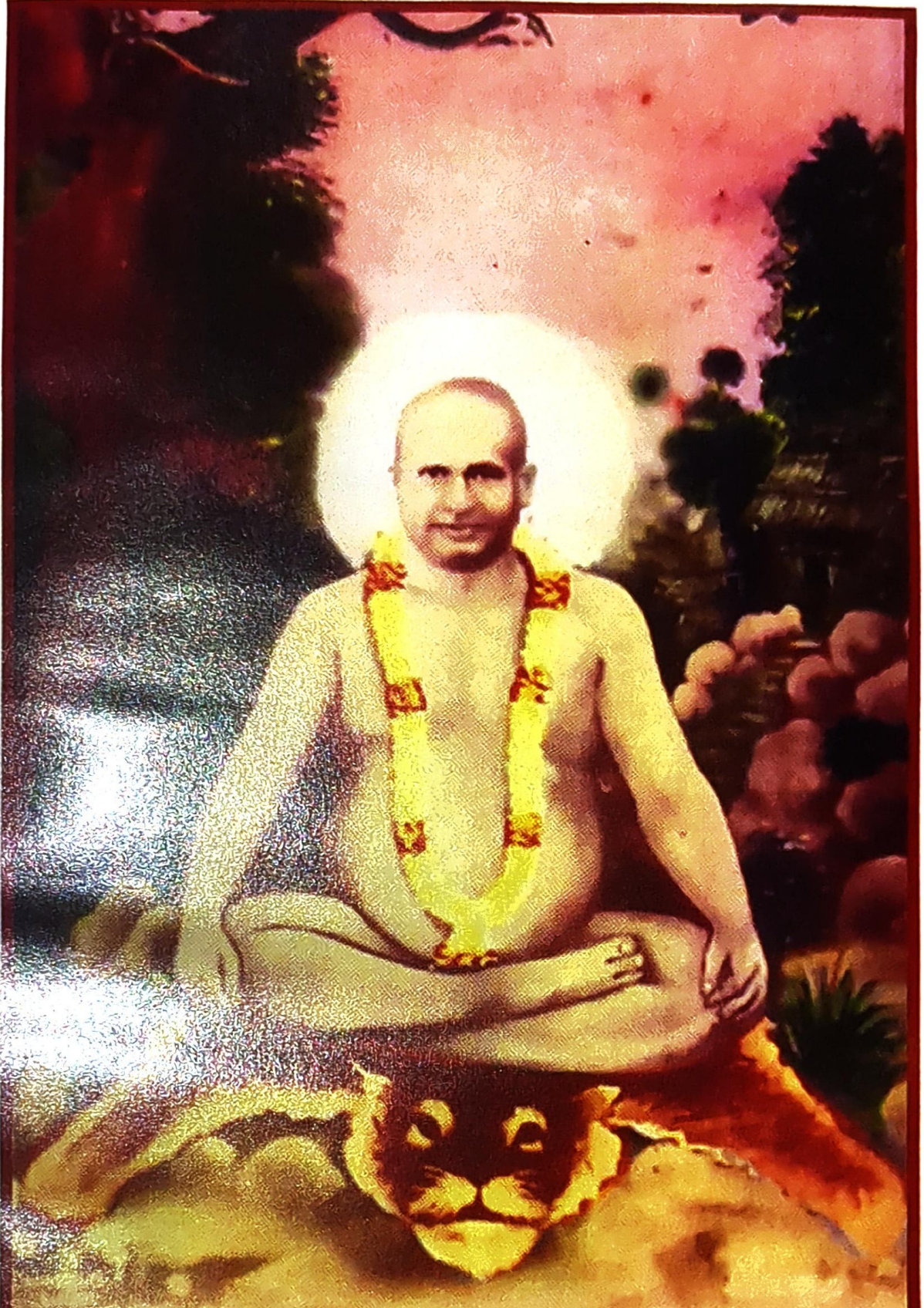
श्री मत्परमहंस, परिव्राजकाचार्य अवधूत
श्री केशव भगवान

ॐ

आरती नं. २

वन्दे गुरु देवं,

ॐ वन्दे गुरुदेवम्, बोधमयं गुरुदेवं,
बोधमयं गुरुदेवं, श्री नित्यानन्दम्।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।टेक।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! मैं आप की वन्दना करता हूँ, हे सद्गुरुदेव! आप ज्ञान-स्वरूप हैं, (निश्चय करके) आप ज्ञान स्वरूप हैं, (कैसे-ज्ञान स्वरूप?) शोभायुक्त नित्य-आनन्दमय हैं।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

विद्वद[1] वृन्द-विवन्द्य सुवन्दित-मब्ज पदद्वंद्वम्
ॐअब्जपदद्वंद्वम्, स्वच्छन्दं, निर्द्वन्द्वम्,
स्वच्छन्दं निर्द्वन्द्वम्, द्वैताऽद्वैतपरम्।।१।।

ॐ जय जय जय गुरुदेव।।

भावार्थ- हे गुरुदेव! आपके चरण कमल उन महापुरुषों के द्वारा सुवन्दित हैं कि जिनकी वन्दना विद्वत्-समुदाय किया करता है। अहा! हे प्रणव रूप गुरुदेव! आपके चरण कमल अवश्यमेव पूजनीय ही हैं, आप स्वच्छन्द हैं, निर्द्वन्द्व हैं, निश्चय करके आप द्वन्द्वों से रहित परम स्वतन्त्र हैं।।१।।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

अद्वय-ममित-ममेय मनादिं, ननु जगतामादिम्,
ॐ ननु जगतामादिम्। सर्वाद्यन्तविहीनं।
सर्वाद्यन्तविहीनं, पीनम्प्रभवादिम्।।२।।

ॐ जय जय जय गुरुदेव।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आपके सरीखे केवल आप ही हैं, आप अमित हैं-सीमारहित हैं, आप अमेय अर्थात्-अपरिणामी हैं,आप मन आदि से परे हैं, अर्थात्-

आपके स्वरूप को जानने में मन बुद्धि आदि असमर्थ हैं। आप ही इस संसार के आदि कारण हैं, निश्चय करके हे प्रणवरूप गुरुदेव! आप ही इस संसार के आदि कारण हैं। और आप ही सर्वप्रकार के आदि अन्त से विहीन (अर्थात-अलग) परिपूर्ण तथा समस्त विभूतियों के मूलकारण हैं।।२।।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

दान्तं मृदुमनिकेतमगेयं, कामैरहतधियं,
ॐ कामैरहतधियं, करुणासागरमाकर,
करुणासागर माकर-मगदस्याप्यऽभियम्।।३।।

ॐ जय जय जय गुरुदेव।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप परम संयमी हैं, कोमल हैं, अनिकेत अर्थात्-अनिश्चित निवासस्थानी हैं, आप के गुणों का गान करना मानवी शक्ति से परे हैं, भौतिक इच्छाएँ आप के मन को स्पर्श तक नहीं कर सकतीं, निश्चय करके स्पर्श नहीं कर सकतीं, आपका हृदय समुद्रों के महान् समूह के समान दया का विशाल भंडार हैं - निश्चय करके महान् भंडार है तथा महान् पापियों को भी अभयदान के देने वाले हैं- ऐसे हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

आशापाशविमुक्तं विमलं, वासनया रहितम्,
ॐ वासनया रहितम्। धूल्या धूसरगात्रम्,
धूल्या धूसरगात्रम् विमतैरवधूतं[1]।।४।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।

भावार्थ- हे गुरुदेव! आप! आशा के जाल से पूर्णतया मुक्त हैं, अत्यन्त ही निर्मल हैं और सर्व प्रकार की वासनाओं से रहित हैं, निश्चय करके वासनाओं से रहित हैं, आप के शरीर ने काषाय वस्त्र धारण किया हुआ है, अथवा-शरीर पर भस्म विलेपित है अथवा समस्त गात्र धूलि से आच्छन्न है और ज्ञानी जन आप को अवधूत संज्ञा से संबोधित करते हैं, ऐसे हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

---

१. सत्पात्र को धन दान करता जो मनुज संसार में,
सानन्द जीवन है, बिताता, एक गुरु की भक्ति में।

हरिचिन्तना ही में किया चित जो सदा निश्चिन्त है,
कहते सुजन उसको सदा सानन्द वह विद्वान है।।१।।

- (नीति)

१(अ) आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्त निर्म्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम्।।

अर्थः- आशारूपी पाश से जोकि रहित है, आदि मध्य और अन्त तीनों कालों में जो कि निर्मल है, ब्रह्मानन्द में ही सदासर्वदा वर्तता है, तिसका 'अ' कार लक्षण है-

वासना वर्ज्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत, वकारं तस्य लक्षणम्।।

अर्थ- जिस पुरुष ने वासना का त्याग कर दिया है और वक्तव्य जिसका रोग से रहित हैं जो वर्तमान में ही वर्तता रहता है, तिसका लक्षण 'व' कार है।

धूलि धूसर गात्राणि, धूतचित्तो निरामयः।
धारणाध्यान निर्मुक्तो, धूकारंतस्य लक्षणम्।।

अर्थः- धूलि करके धूसर हैं अंग जिसके, धोया गया है पापों से चित्त जिसका रोग से रहित, धारणा ओर ध्यान से निर्मुक्त है, यह 'धू' कार शब्द का अर्थ है।

-तत्वचिन्ता धृता येन, चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।
तमोऽहंकारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्।।

-(अवधूत गीता ८/६-९)

अर्थः- जिसने आत्मतत्व की चिन्ता को धारण किया है, संसार की चिन्ता और चेष्टा से जो कि रहित है तमोगुण और अहंकार से जो कि रहित है, तिसके 'त' कार का यह अर्थ है।

(ब) सांकृति नाम के कोई ऋषि भगवान् दत्तात्रय अवधूत के समीप जाकर उनसे पूछते हुएः- "हे भगवन् अवधूत कौन? उसकी स्थिति कैसी होती है? उसके लक्षण क्या? और उसका भ्रमण कैसा होता है?

इसके उत्तर में परम कारुणिंक भगवान् दत्तात्रय बोलेः- अक्षरपने से, वरेण्यपने से, (श्रेष्ठपने से) धूत (दूरकर डाला हुआ) संसार बंधन से तथा तत्वमार्ग (वह तू है) इत्यादि लक्ष्य-पने से 'अवधूत' ऐसा कहा जाता है आश्रमों का तथा वर्णों का उल्लंघन करके जो सर्वदा आत्मा में ही स्थित होता है वह अति वर्णाश्रमी योगी अवधूत कहाता है उसका स्वेच्छानुसार भ्रमण

है- वह वस्त्र सहित वा वस्त्र रहित भी होता है, वह कर्त्तव्य की अवधि को प्राप्त हुआ होता है, वह इस प्रकार विचारता है:- इस लोक-परलोक के फल की सिद्धि के लिए और मुक्ति की सिद्धि केलिए पहले मुझे बहुत कर्तव्य था वह सब अब समाप्त हुआ। दुःखी, अज्ञानी पुत्रादि की अपेक्षा से इच्छानुसार भ्रमें-फिरें परन्तु परमानंद से पूर्ण मैं किस इच्छा से भ्रमण करूं? परलोक प्राप्त करने की इच्छा वाले कर्मों का अनुष्ठान करे सर्वलोक रूप मैं किस प्रकार कर्मों का अनुष्ठान करूं? किन्तु जो अधिकारी हो वे शास्त्रों का व्याख्यान करें तथा वेदों का अध्ययन करावें, अक्रियपन से मुझे तो उसमें अधिकार नहीं मैं निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच करता नहीं, और इच्छता भी नहीं, देखने वाले जो उन्हें मेरे विषे कल्पें तो उन अन्य की कल्पना से मुझे क्या होता है। कुछ नहीं जैसे बंदर चिनोटी (घूंघची) के ढेर में अग्नि का आरोप करें तो उससे चिनोटी के ढेर किसी पदार्थ को जलाते नहीं वैसे ही अन्यजनों के आरोप किए हुए संसार के धर्मों को मैं सेवन नहीं करता। जो तत्व को नहीं जानते वे भले श्रवण करें। मैं तत्त्व को जानता हूँ इससे किसलिए श्रवण करूं? संशयी भले मनन करे, मैं संशय रहित हूँ इससे मनन नहीं करता। विपर्यय वाले भले निदिध्यासन करें, मैं शरीर में आत्मपन की भ्राँति सेवन करता नहीं इससे मुझे निदिध्यासन कर्तव्य नहीं-मैं मनुष्य हूँ इत्यादि व्यवहार तो इस भ्राँति के बिना चिरकाल अभ्यास की हुई वासना से हो सकता है। प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर वह व्यवहार भी निवृत्त हो जाता है। विक्षेप के अभाव से मेरे स्वरूप में समाधि भी नहीं होती। विक्षेप और समाधि यह विकारी मनके धर्म हैं मैं जो कि निर्लेप तथा अकर्ता हूँ उसका लौकिक व्यवहार तथा शास्त्रीय व्यवहार जैसे प्रारब्ध हो वैसा होवो, अथवा कृतार्थ होते हुए भी लोकानुग्रह की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से ही मैं बरतूँ तो उसमें मेरी क्या हानि है? यह शरीर देव-पूजा, स्नान, शौच और भिक्षादि में वरते, वाणी प्रणव का जप करे व उपनिषद् पढ़े और बुद्धि परमात्मा का ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्द में विलीन होवे किन्तु मैं जो साक्षी हूँ वह तो यहाँ कुछ भी करता नहीं और कराता नहीं, मैं आत्मा का यथार्थ अनुभव करता हूँ, ब्रह्मानन्द मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है, सांसारिक दुःख मेरे देखने में आता नहीं, मेरा अज्ञान निवृत्त हो गया है। अब मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है, प्राप्तव्य सब प्राप्त हुआ है। मैं निरंकुश तृप्ति को प्राप्त हुआ हूँ और मेरे अनेक जन्मों का पुण्य उत्तम प्रकार से उदय पाया है, इससे मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ अद्वैत-ज्ञान-वेदान्त-शास्त्र और जीव ब्रह्म के अभेद का उपदेश करने वाले श्री सद् गुरु ये सब अत्यन्त आश्चर्य रूप हैं।

- (१ अवधूत उपनिषद् का सार)

ॐ

मल

"मल" नाम पाप का है। सो पाप जन्मान्तरों विषे कृत अशुभ-कर्म से जनित अधम, अपूर्व, अरु अदृष्ट इन नामों करि युक्त संस्कार रूप होने ते अतिशय सूक्ष्म है। याते प्रत्यक्ष देखने में आवते नहीं। तथापि अशुभ वासना द्वारा तिसका अनुमान होता है।

जिस पुरुष को निषिद्ध कर्म की, वा विषयों की इच्छा होती है, उसके चित्त में "अशुभ वासना है, इसी से वह 'मल' दोष से युक्त है"। यह जान लेना, इससे निष्काम कर्म वा सर्व भूतमात्र पर दया, वा-ईश्वर (गुरु) नाम का उच्चारण आदिक कर्त्तव्य है। क्योंकि निष्काम कर्म से, वा सर्वभूतों पर दया करने से व ईश्वर नाम के उच्चारण से मल दोष की निवृत्ति होती है। जिसमें ईश्वर नाम का रीति पूर्वक (ईश्वरनामोच्चार की रीतिः- (१) सन्तन की निन्दा (२) असत् पुरुषों के पास नाम वैभव की कथा (३) शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य, देवी विषे भेद बुद्धि (४) वेद वचन में अश्रद्धा (५) शास्त्र वचन में अश्रद्धा (६) गुरु वचन में अश्रद्धा (७) ईश्वर नाम विषे अर्थवाद का भेद-भ्रम (८) सर्वपापों का निवर्तक नाम है, इस बुद्धि से निषिद्ध कर्म का आचरण (९) नाम महत् पुण्य का उत्पादक है-इस बुद्धि से विहित कर्म का त्याग (१०) अन्य धर्मों से नाम की समता, ये दश नाम अपराध हैं। इनके त्याग पूर्वक प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल और मध्य-रात्रिकाल इन चारों कालों विषे विभाग करिके लक्ष्यपरिमित किंवा उससे न्यूनाधिक ईश्वर से नामों का उच्चारण करना और उस विषे चित्तवृत्ति का स्थापन करना, यह ईश्वर-नाम की सामान्य रीति है, इसकी विशेष रीति गुरुमुख द्वारा जानना योग्य है जो उच्चारण है जो पाप मल और विक्षेप (चंचलता) रूप मल इन दोनों प्रकार के मल का नाशक है, अन्य कर्मादिक केवल पापरूप मल के नाशक हैं।

- (वेदान्त बाल बोधनी)

(अ) नामापराधः-

सन्निदाऽयतिनाम वैभव कथा, श्री शेशयोर्भेदधी-
र श्रद्धा श्रुति शास्त्र दैशिक गिरा नाम्न्यर्थवाद भ्रमः।
नामास्तीति निषिद्ध वृत्तिविहित त्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश।।१।।

इसी भाव को लेकर किसी महात्मा ने कहा है किः-

राम राम सब कोई कहे, दसरति कहे न कोय।
एक बार दसरति कहे, (तो) कोटि यज्ञ फल होय।।१।।

(ब) सुमरन सोई न बीसरे, रहे रूप मां मन।
कहे प्रीतम शुद्ध सनेह सुं, करे सुमरन निशदिन।।१।।

निशदिन निमेख न बीसरे, हरि को तत्व विचार।
कहे प्रीतम तद्वत् रहे, सोई सुमरन सार।।२।।

मिथ्या मुख बोले नहीं, बोले तो हरिनाम।
कहे प्रीतम हृदिये बसे, ज्युं लोभी के दाम।।३।।

सोहं सोहं होत है, नख शिख सकल शरीर।
प्रीतम पलक न बीसरे, रुदीये से रघुबीर।।४।।

घड़ी पोहरि सुमिरन कहा, सुमिरन सास उसास।
कहे प्रीतम रहे अंग माँ, आठे पोहर उल्लास।।५।।

जोऊं आकाश की आरसी, भूले नहीं स्वरूप।
कहे प्रीतम सब घट बसे, नाथ निरंजन भूप।।६।।

खेतर जेती खर पड़ी, सागर जेतो बहाण।
कहे प्रीतम भूले नहीं, भोय तणो निशान।।७।।

मेरु डगे तो मन डगे, रहे भजन लवलीन।

कहे प्रीतम हरि सिंधु में, मगन रहे मन मीन।।८।।

हरि-सागर संमुख भरयो, नाहीं न्यून लगार।
कहे प्रीतम एक रस रहे, सोई सुमरन सार।।९।।

सब घट सीता रामजी, ज्यूं हीरा सूँ हेम।
कहे प्रीतम हरि रूप जोई, करहु निरंतर प्रेम।।१०।।

सूतां सुमरन होत है, बैठां बहुत प्रकार।
प्रीतम चलतां चीतवे, हरि को नाम उदार।।११।।

सुमिरन से संशय टले, शोक समूला जाय।
कहे प्रीतम मन के मही, गुण गोविंद के गाय।।१२।।

सहस्र वदन सुमरन करे, सदा सर्वदा शेष।
कहे प्रीतम भूमि तणों भार न लागे लेश।।१३।।

गगन, पवन, पावक, उदक, अवनी भार अढ़ार।
कहे प्रीतम सुमरन करे, सहु रुदिया मोजार।।१४।।

सुमरन सेवा संत की, कीर्तन कथा प्रसंग।
कहे प्रीतम सुमरन सबे, ज्यूं लागे हरि रंग।।१५।।

मोह टवे ग्रन्थी तवे, मवे त्रिभुवन नाथ।
कहे प्रीतम फेरो फले, हरि स्मरण हैया साथ।।१६।।

सेहेजे सुमरन होत है, अखंड अजपा जाप।
कहे प्रीतम समजी शके, टले शोक संताप।।१७।।

एक बीश सहस्र षट से उठे, रात दिवस अहंकार।
कहे प्रीतम पद प्रीछतां लागे नहीं विकार।।१८।।

मुख जिह्वा हाले नहीं, अवर न जाणे कोई।
कहे प्रीतम आपा मिटे, सहेजे सुमरन होई।।१९।।

समरण से माया समे, दमे नहीं लवलेश।
कहे प्रीतम समरण भजन, हरिजन करे हमेश।।२०।।

माया दमे न मन दमे, दमे न दुःख संसार।
कहे प्रीतम पर ब्रह्म को, भजन करे भव पार।।२१।।

(प्रीतमदास की वाणी)

दूलन चरण न लागि रहु, नाम की करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुं लिखा लिलार।।

जग रहु जग ते अलग रहु, जोग जुगति की रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति।।

बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल मंह, करौं सदा विश्राम।।

- श्रीराम।

श्लोकः- यत्फलं नास्ति तपसा, न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्।।

'अन्य युगों में तपस्या, योग और समाधि से भी जो फल प्राप्त नहीं होता वही फल कलियुग में मनुष्य केवल भगवान का नाम-कीर्तन करने से पा लेता है।

-व्यास

सद्गुरुदेव अवधूत-महाप्रभु श्री नित्यानन्दजी महाराज की

आरती

नं. ३

(जीव भाव)

ॐ विमलं गुरु देवं।

ॐ[1] विमलं गुरुदेवं, अखिल सच्चिदानन्दं,
अखिल सच्चिदानन्दं, श्री नित्यानन्दं।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।टेक।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप निर्मल स्वरूप हैं-निश्चय करके निर्मल स्वरूप हैं! आप सर्वाङ्ग पूर्ण सच्चिदानन्द हैं। हे प्रणवरूप! आप अखिल सच्चिदानन्द सकल विभूति सम्पन्न नित्य आनन्द स्वरूप हैं। (मुझे निर्मल बनाइये)

हे प्रणव रूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ।।टेक।।

१(अ) ॐ=ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदञ्चैव, ॐकाराय नमोनमः।।१।।
-(शिव पुराण)

बिन्दु सहित ओंकारका जो योगी नित्य ध्यान करते हैं उनके लिए यह प्रणव कामादि मोक्ष पर्यन्त चारों पदार्थों का दाता होता है, ऐसे प्रणवरूप परमात्मा को मैं नमन करता हूँ।

(ब) यः ॐकारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापीं सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतम् यद्वैद्युतं तत्परंब्रह्म यत्परंब्रह्म स एकः य एक स रुद्र य एको रुद्रः स ईशान स भगवान् महेश्वरः स महादेवः। - (अथर्व शिरोप. २/३)

जो ॐकार है वह प्रणव है जो प्रणव है वह सर्वव्यापी है। जो सर्वव्यापी है वह अनन्त शक्ति स्वरूप उमा है। जो उमा है वही तारक है वही सूक्ष्म ज्ञान शक्ति है जो सूक्ष्म है वही शुद्ध है, जो शुद्ध हैं वही विद्युत अभिमानी उमा है जो उमा है वही परम ब्रह्म है, वही एक अद्वितीय रुद्र है, वही ईशान है, वही भगवान् महेश्वर हैं वही महादेव हैं।

(स) यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्वभूव। स मेन्द्रो मेधयास्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं में विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्रमा। कर्णभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः

कोशोऽसिमेधयापिहितः। श्रुतं में गोपाय।।१।।

-प्रणव (वेदों के विषय में कहने में आए पवित्र शब्द ॐकार स्वरूप परमात्मा) जिसे वेदों में श्रेष्ठ रूप से गिनने में आया है, जिसे विश्वरूप कहते हैं, जो अमृतरूप वेदों से भी अधिक अमृतरूप उत्पन्न हुए हैं तथा जो सर्व कामना के ईश्वर रूप हैं वो मेरी बुद्धि के विषे वृद्धि करे। हे प्रकाशवान प्रणव में अमृत तत्वके कारणरूप ब्रह्मविद्या के ज्ञान को धारण करने वाला होऊं मेरा शरीर रोग रहित हो, मेरी जिह्वा के विषे अत्यंत मधुरता आवे। मेरे श्रोत्र बहुत श्रवण करने वाले हो। हे ॐकार! परमात्मा का कोषरूप तू है तू साधारण बुद्धि से वेष्टित हुए अर्थात् सामान्य बुद्धि द्वारा अज्ञात है। जो कुछ ब्रह्मज्ञान मैंने श्रवण किया है (अथवा करूँ) उसका तू पालन कर। -(तैतिरीय उप. ५/१)

(ह) ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते।।

ॐखं ब्रह्म खं पुराणं वायुंःखमिति हस्माह कौरव्यापणी
पुत्रो वेदोऽयम् ब्राह्मणा विदुर्वेदैनैन यद्वेदितव्यम्।।१।।

शब्दार्थः- वह अनन्त रूप है, यह अनन्त रूप पूर्ण अनन्त में से पूर्ण उत्पन्न होता है, पूर्ण की पूर्णता लेने से अन्त में पूर्ण बाकी रहता है। ॐकार यह आकाशरूप है तथा ब्रह्मरूप है, आकाश पुराणरूप है, इसी प्रकार आकाश यह वायुरूप है। वायु का कारणरूप है, इस प्रकार कौरव्याहणि के पुत्र ने कहा है कि यह ॐकार वेदरूप है। ब्राह्मणगण ऐसा जानते हैं कि इस नाम के द्वारा जो सब जानने के योग्य हैं उसे मनुष्य जानते हैं। - (बृहदारणय उप. ५/१/१)

जतित्वां लक्षमेकं तु प्रणवं ब्रह्मवाचकम्।
महा पातक संघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः।।

-(सू.सं.श्व. २अ७-३४)

ब्रह्म के वाचक प्रणव ॐ मंत्र का एक लक्ष जप करने से महापातकों के समूह के तथा अन्य उपपातकादि पापों से भी मनुष्य मुक्त होता है।

श्लोक- हरः संसार हरणाद्वि श्रुत्वान्द्विष्णुरुच्चयते।
भगवान्सर्व विज्ञानादव नादोमितिस्मृतः।।

-(कूर्म पुराण अ. ४।६३)

अर्थः- संसार के हरण कर्ता होने से उनको हर कहते हैं और व्यापक होने से विष्णु कहते हैं। सर्व का ज्ञान धराने वाले होने से भगवान् कहते हैं और सबकी रक्षा करते हैं इसलिए ॐ कहाते हैं।

ॐ सत्य[२] त्रिकालाबाध[३], चित्त अलुप्तप्रकाशं
ॐ चित्त अलुप्त प्रकाशं। आनंदघन निजआतम
ॐ आनंदघन निजआतम, श्री नित्यानन्दं।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।१।।

भावार्थः- हे प्रणव रूप गुरुदेव! आप सत्य स्वरूप है, त्रिकालाबाध हैं! चैतन्य स्वरूप प्रत्यक्ष प्रकाशमान हैं। निश्चय करके आप चैतन्य स्वरूप प्रत्यक्ष प्रकाशमान हैं। आपका स्वरूप आनन्दघन-प्रसन्नता से ओत-प्रोत है! आप सकल वैभव सम्पन्न नित्य-आनन्द स्वरूप हैं, (कृपा कर मुझे माया मल से दूर कीजिए।)

हे प्रणव रूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ।।टेक।।

---

२ (अ) सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।

सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणप्रपनाः।।

भावार्थः- हे महाप्रभो! आपका व्रत-(संकल्प) सत्य है आपकी प्राप्ति का साधन भी सत्य है, आप ही इस संसार के आदि, मध्य और अन्त में सत्य रूप से रहते हैं, पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों के कारण, उनमें अन्तर्यामी रूप से विराजमान तथा अन्त में उनके लय स्थान एवं-सत्यवाणी और समदृष्टि के प्रवर्तक ऐसे 'सत्य-स्वरूप' आपकी शरण में हम प्राप्त हुए हैं।

(भा. २/२६)

(ब) सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थित मेकमनेवत।
ब्रह्मसर्वं जगद्वस्तु, पिंडमेकमखंडितम्।।१।।

एक सत्य ब्रह्म नानारूप जगत के रूप में वर्तमान है, सारा जगत एक अखंडित पिंड रूप ब्रह्म है। -(यो.वा.)

सर्वशक्तिपरंब्रहा, सर्ववस्तुमयंततम्।
सर्वथा सर्वदा सर्वं, सर्वेः सर्वत्र सर्वगम्।।२।।

वह सर्व वस्तु मय और सर्वशक्ति वाला ब्रह्म सर्व रूप से सबकाल में सब स्थानों पर सबके भीतर और सबके साथ फैला हुआ है।

समस्तं शक्तिखाचिंतं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा।
यथैव शक्तया स्फुरति प्राप्तांतामेव पश्यति।।३।।

-सर्वशक्ति युक्त ब्रह्म सबका ईश्वर है। जिस शक्ति द्वारा प्रकट होना चाहता है, वही दृष्टि गोचर हो जाती है।

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मय।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो, भवत्येव सनातनः।।४।।

'यह परम आकाश (अनन्त तत्व) जिसको मैंने चेतन स्वरूप (ब्रह्म) बताया है शिव भी कहलाता है। वह सनातन है।

अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्द शक्ति मनोमयीम्।
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेयं दृश्याभासं तनोति सा।।५।।

'उसकी मनोमयी स्पन्दशक्ति (क्रिया शक्ति) को उससे अनन्य समझो। वह ब्रह्म की स्पन्द-शक्ति रूपी इच्छा ही दृश्यमान पदार्थों का विस्तार करती है।'

सा राम प्रकृति, प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्द-शक्तिरकृत्रिमा।।६।।

हे राम! वह परमेश्वरी शिवेच्छा जो कि अनादि स्पन्दशक्ति है प्रकृति और जगन्माया भी कहलाती है।

तस्माच्चिच्छक्ति कोशस्थाः, सर्वाः सर्ग परम्पराः।
सर्वा सत्या परं तत्वं, सर्वात्मा कथमन्यथा।।७।।

इसलिए जगत के सब पदार्थ शिव शक्ति के कोश में वर्तमान में, सभी सत्य हैं ओर परम-तत्व (शिव) उनका आत्मा है। इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है।

श्लोकः- स्वदैशिकानिमान् मत्वा नित्यं यः शिवमर्चयेत्।
स याति शिव सायुज्यं, नात्र कार्या विचारण।।२८।।

-(वायवीय संहिता)

अर्थात्:- जो (सनत्कुमारादि) को अपना सद्गुरु मानकर शिव की उपासना ध्यान करता है, वह अनायास शिव की साक्षात् प्राप्ति करता है इसमेंकोई संदेह नहीं।

ईश्वर जीव का परमसुहृद बिना हेतु स्नेही है, यानी जीवों पर स्वार्थ-रहित स्नेह करता है, यह ईश्वर का दयारूप गुण है, कहा हैः-

श्लोकः- रक्षणे सर्वभूतानामहमे व परो विभुः।
इति दृष्टानुसन्धानं कृपा सा परमेश्वरी।।

-(भगवद्गुण-दर्पण)

अर्थात्:- भूतमात्र के पालन करने को मैं ही समर्थ हूँ इस प्रकार का दृढ़ अनुसंधान रखता हूँ। इस प्रकार का अनुसंधान रखने से ईश्वर बिना हेतु स्नेही है। भागवत् में दूसरा गुण करुणा कहा हैः-

परदुःखानुसन्धानाद्विह्वली भवनं विभोः।
कारुणात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीति तारकः।।

अर्थात्:- जीवों का दुख देखकर स्वयं भी दुःखी होकर उनके दुःख मिटाने के लिए उपाय करने का नाम करुणा है।

(३) एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः
साक्षी चेतः केवलो निर्गुणश्च।।

अर्थात्: एक ही परमेश्वर जो चैतन्य, केवल और निर्गुण है, सारे भूतों में गूढ़ और सर्वव्यापक है, तथा-सब भूत प्राणियों का अन्तरात्मा है, वही कर्मों के फल का देने वाला तथा समस्त प्रपंच का निवास स्थान और साक्षी है। - (उपनिषद्)

(अ) तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य!
स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति।।

- (प्रश्नोपनिषद् ६/२)

भावार्थः- पिप्लाद ऋषि ने सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में कहा- हे प्रिय शिष्य! वह पुरुष कहीं दूर नहीं रहता, जिसकी खोज में किसी दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता हो किन्तु वह इस शरीर के भीतर है, जिसके भीतर ये षोडश कलाएँ उत्पन्न होती हैं।

ॐ अखंड एक रस आप, निकट नहीं दूरं।
ॐ निकट नहीं दूरं, रूप चराचर विभुवर,
ॐ रूपचराचर विभुवर! श्री नित्यानन्दम्।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव ।।२।।

भावार्थः- हे प्रणव रूप-गुरुदेव! आपको अखंड एक रस व्यापक कहा है। फिर भी आप निकट हैं, दूर नहीं हैं, क्योंकि हमारे प्रत्येक कार्यको आप देखते हैं। पर देखते हुए भी हमारी पुकार क्यों नहीं सुनते? क्यों दूर हो? निकट नहीं हो? पर आपको तो सर्वव्यापी परमात्मा कहते हैं, और निश्चय करके आप सर्वव्यापी परमात्मा ही हैं, सकल-विभूति सम्पन्न नित्य आनन्दस्वरूप हैं (हे प्रभो, दयाकर मुझे मलरहित कीजिए)।।२।।

हे प्रणव रूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

(ब) **ॐ प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।।** (यजुर्वेद)

भावार्थः- प्रजापति ॐ परमात्मा चिन्मात्र, दिव्य, अभौतिक तेजरूप आवेश के द्वारा गर्भ में प्रवेश करता है, और समयानुसार विविध रूप धारण कर स्वेच्छा से प्रकट होता है, और उसी के अन्दर अखिल भुवन स्थित होते हैं, उसकी योनि अर्थात्-अवतार लेने के कारण को धीर पुरुष ही जान पाते हैं।

ॐ गुरु-दर्शन गुरु-भक्त अनायास[४] करता,
ॐ अनायास करता। जय विश्वनाथ अविनाशी,
ॐ जय विश्वनाथ[५] अविनाशी, श्रीनित्यानन्दं।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।३।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! जो आपका भक्त होता है, उसे आपके दर्शन (अनायास) (बिना कष्ट) के ही हो जाते हैं। निश्चय करके अनायास आपके दर्शन पा जाता है। हे संसार के स्वामी! आप अविनाशी हैं। हे प्रणव रूप गुरुदेव! आप वह निश्चय करके इस विश्व के स्वामी और नाश रहित हैं। आप सकल विभूति सम्पन्न नित्य आनन्द स्वरूप हैं। (हे दयालो! दयाकर मुझे निर्मल बनाइये) हे प्रणव रूप गुरुदेव! आप की जय हो! जय हो! जय हो! ।।३।।

---

४. अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्माद‍ृष्टिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः..............(अथर्वोपनिषद्) अर्थात्-आदिगुरु विश्वनाथ को रुद्र क्यों कहते हैं? वह अपने भक्तों पर बहुत शीघ्र प्रसन्न हो स्वरूप साक्षात्कार करा दते हैं-अपने दर्शन देते हैं-भक्तों को कष्ट नहीं उठाने देते-इसलिए रुद्र (दयालु कल्याण स्वरूप) कहलाते हैं।)

५ **(अ)- त्वत्तो जगद्भवति देव! भवस्मरारे!**
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ!
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश!
लिङ्गात्मकं हर! चराचर विश्वरूपम्।।

अर्थात्:- हे देवाधिदेव महादेव! यह अखिल विश्व आप ही से उत्पन्न होता है-और हे विश्वनाथ! यह संसार आप ही में स्थिति पाता है। अर्थात् आपके द्वारा ही पोषण पाता है। और अन्त में हे जगत के एकमात्र जगदीश! इस भव का आप में ही लय होता है। आप ही चराचर रूप विश्वरूप, एकमात्र त्रितापों के हरने वाले हरि-हर गुरुदेव हैं -(वेदसार श्लोक ११) जगत्गुरु श्री शंकराचार्य कृत।

-"भागवत् ३ स्कंध में महर्षि मैत्रेय के द्वारा तथा देवर्षि नारद द्वारा ब्रह्मर्षि रत्नों को उपदेश देते हैं कि "गुरु (गुकारस्त्वन्धकारः स्याद्रकारस्तन्निरोधकः। अन्धकार विनाशित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते। 'गु' अन्धकार को कहते हैं और 'रु' उसको कहते हैं-जो अंधकार का विनाश करे, उसका नाम

गुरु है) ही जीवों को दुःख से उद्धार करने वाला है। इसिलए वह जगद्गुरु वैद्यनाथ है। इसी प्रकार दशमस्कंध में जहाँ शंङ्कर स्तुति की है यही कहा है कि 'आप ही जगद्गुरु हैं,-गुरु के समान दयालु कोई नहीं हैं। क्योंकि दीनवत्सल दीनानाथ गुरुजन का यह स्वभाव ही होता है कि अनुरागी शिष्य को बिना जिज्ञासा के भी 'परम कल्याण प्रद वस्तु' प्रदान कर देते हैं।

(ब) बिना कहे ही सत्पुरुष, परकी पूरे आस।
कौन कहत है सूर कौ, घर-घर करत प्रकाश।।
जो सब ही को देत है, दाता कहिए सोय।
जल-धर बरसत सम-विषम, थल-न-विचारत कोय।

(वृन्द)

(स) मेघ तुझे जाने जगत, पपिहा-प्राण-अधार।
दीन बचन चाहत सुन्यौ, यह नहीं उचित विचार।।

-(भर्तृ)

मनहर-छन्द

(ड) चिंतामणि पारस कलपतरु कामधेनु,
औरहूँ अनेक विधि वारि वारि नाखिये।

जो कछु देखिए सो, सकल विनाशवंत,
बुद्धि में विचार करि बहुते अमिलाखिये।।

ताते मन बचन करम करि करजोरि,
सुन्दर चरण शीश मेलि दीन भाखिये।

बहुत प्रकार तीनूं लोक सब शोधे हम,
ऐसी कौन भेट गुरुदेव आगे राखिये।।१।।

(ई) श्लोकः- नाम्नोहि यावती शक्तिः, पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्तु न शक्नोति, पातकं पातकी नरः।।

(एफ) एक दारु गत देखिए एकू। पावक जुग सम ब्रह्म विवेकू।।

अवशेनापि यन्नाम्नि, कीर्तिते सर्व पातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तेर्मृगैरिव।।

(विष्णु ६/८/१९)

जैसे नाम नामी का आकर्षण करता है वैसे ही वह नामाश्रयी को भी नाम के चरणों में

ले जाता है। नाम शब्द के अर्थ से भी यह बात स्पष्ट होती हैः-

"बलान्नमयतीति नाम" अर्थात जो बलपूर्वक नामाश्रयी के चित्त को नामी के चरणों में नमन करता है वह 'नाम' है। अतएव नामी और नामाश्रयी के बीच में नाम चतुरमध्यस्थ का काम करता है गोस्वामीजी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है।

"उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी" -(रा.बा.)

न देश नियमस्तत्र न काल नियमस्तथा।
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्।।

कृष्ण नाम गुन गुप्त धन पाये हरिजन संत।
करे नहीं जो कामना दिन-२ होय अनन्त।।

(जी) एकमात्र नाम ही जीवों का आधार है नाम कोई सा भी क्यों न हो, भगवान के सभी नाम समर्थ हैं। वास्तव में आवश्यकता है भाव की। भाव ही प्रधान है, जितना उच्च भाव है उतना ही नाम का महत्व है। भाव क्या है-

(१) नाम और नामी को एक समझना (२) नाम से बढ़ कर और कुछ भी न समझना (मुक्ति भी नहीं) (३) नाम में प्रेम होना (४) निष्कामभाव होना और (५) नाम जप को गुप्त रखना। यही भाव है। इन्हीं पांच भावों से मुक्त नाम जप प्रशंसनीय है।

-(तत्व विचार)

(एच) कलियुग केवल नाम अधारा, सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा।

कलियुग सम युग आन नहिं जो नर कर विश्वास।
गाई राम गुण-गण विमल, भव तरु बिनहि प्रयास।।

राम नाम, मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
'तुलसी' भीतर बाहिरहु, जो चाहसि उजियार।।

सकल कामना हीन जे, राम भक्ति रस लीन।
नाम सुप्रेम पीयूष ह्रद, तिनहुँ किए मन मीन।।

शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुणनाथ।

रामचंद्र के भजन बिनु, जो चहे पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सोपि नर, पशु बिन पूंछ विषान।।

बारि मथे बरु होय घृत, सिकताते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धांत अप्रेल।।

नाम सप्रेम जपत अनयासा। भक्त होहिं मुद मंगल वासा।
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू! भक्त शिरोमणि भे प्रहलादू।।

सुमिरि पवन सुत पावन नामू, अपने वश करि राखेहू रामू।
अपर अजामिल गज गणिकाऊ। भये मुक्त हरि नाम प्रभाऊ।।

चहुँ युग तीन काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव विशोका।
कहहुँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई।।

(रामायण)

(आई) आज काल की पांच दिन, जंगल होगा वास।
ऊपर-ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास।।१।।
आज कहे मैं काल भजुं, काल कहे फिर काल।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल।।२।।

काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पल में परलय होयगी, फेरि भजेगा कब।।३।।

केशव केशव कूकिये, ना कूकिये असार।
रात दिवस के कूकते, कभी तो सुने पुकार।।१।।

राम-राम रटते रहो, जब लग घट में प्राण।
कबहुँ तो दीनदयाल के भनक परेगी कान।।२।।

ब्रह्म ज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिए छिटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरक महं जाय।।१।।

बिवसहु जासु नाम नर करहीं।
जनम अनेक संचित अघ दहहीं।।
सादर सुमिरन जे नर कहहीं।
भव वारिधि गोपद इव तरहीं।।

(जे) अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिव्हाग्रे वर्तति नाम तुभ्यम्।
ते पुस्त पस्ते जुहुवुः सस्नुराया ब्रह्मानर्चुनाम गृणन्ति ये ते।।

इस श्लोक में देवहूति जी भगवान् के प्रति कहती हैं कि अहो! जिसकी जिह्वा पर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चांडाल भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जो तुम्हारे नाम का कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ, स्नान वेदाध्यन सब कुछ कर लिया। - भागवत (३/३३/७)

पतितः स्खलितश्चापि क्षुत्वा वा विवशोऽब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चौर्मुच्यते सर्व पातकात्।।

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनो हि पुंसान्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यंशेषं यथातमोऽर्कोऽभ्रामिनिवाति वातः।।

भागवत (१२/१२/४६-४७)

कोई भी मनुष्य गिरते पड़ते छींकते और दुःख से पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊंचे स्वर से, ''हरये नमः' पुकार उठता है तो वह सब पापों से छूट जाता है जैसे सूर्य पर्वत की गुफा के अन्धकार का भी नाश कर देता है और जैसे प्रचंड वायु बादलों को छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है उसी प्रकार अनन्त भगवान का नाम-कीर्तन अथवा उसके प्रभाव का श्रवण हृदय में प्रवेश करके समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

भगवान् श्री वेदव्यासजी ने भी महाभारत (पंचम वेद) के अन्त में इसी प्रकार उपसंहार किया है किः-

आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सु निष्पन्नं, ध्येयो नारायणः सदा।।

अर्थातः- समस्त शास्त्रों का मन्थन करके उसका बारंबार विचार करने पर यही एक बात सिद्ध होती है कि सदा श्री नारायण का ध्यान करना चाहिए।

'मनसा वा अग्रे सङ्कल्प यत्यथ वाचा व्याहरति'

'यद्धि-मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति इति श्रुतिभ्यां स्मरणं ध्यानं च नाम संकीर्तनेऽन्तर्भूतम्।'

अर्थातः- 'पहिले मन से संकल्प करता है फिर वाणी से बोलता है। मन से जो बात सोचता है वही वाणी से कहता है। इन श्रुतियों से स्मरण और ध्यान भी नाम संकीर्तन के अन्तर्गत ही सिद्ध होते हैं।

यच्चकिञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपिवा।
अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं, व्याप्य नारायणः स्थितः।।

वृहन्नारायणोपनिषद् की श्रुति है-जो कुछ भी संसार दिखाई या सुनाई देता है श्री नारायण उस सबको बाहर भीतर से व्याप्त करके स्थित हैं।

श्लोक- मुहूर्तमपि योध्यायेन्नारायणमनामयम्।
सोऽपि सिद्धि मवाप्नोति किंपुनस्तत्परायणः।।

प्रायश्चितान्य शेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै।
यान्ति तेषामशेषाणां कृष्णानु स्मरणं परम्।।

-(विष्णु २/६/३९)

जो पुरुष अविनाशी नारायण देवका एक मुहूर्त भी चिन्तन करता है, वह भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। फिर जो भगवत्परायण है उसकी तो बात ही क्या है।

जितने भी तप और कर्मरूप प्रायश्चित हैं उन सबमें श्रीकृष्ण का स्मरण करना श्रेष्ठ है।

ध्यायेन्नारायणं देवं, स्नानादिषु च कर्मसु।
प्रायश्चित्तं हि सर्वस्य, दुष्कृतस्येति वै श्रुतिः।।

स्नानादि समस्त कर्मों को करते हुए श्री नारायण देव का ध्यान करना चाहिए। यह (भगवतस्मरण) ही सम्पूर्ण दुष्कर्मों का प्रायश्चित है, इस विषय में श्रुति भी सहमत है।

संसार सर्प सन्दृष्ट-नष्ट चौष्टैक भेषजम्।
कृष्णोति वैष्णवं मन्त्रं, श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः।।

अति पातक युक्तोऽपि, ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति, पङ्क्ति पावन पावनः।।

-संसाररूप सर्प द्वारा डंसे जाने से निश्चेष्ट हुए पुरुष के लिए एकमात्र औषध रूप 'कृष्ण' इस मन्त्र को सुनकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। अत्यन्त पापी पुरुष भी एक पल के लिए भी अच्युत का ध्यान करने से बड़ा भारी तपस्वी और पंक्ति पावनों को भी पवित्र करने वाला हो जाता है।

यन्नाम कीर्तनंभक्तया विलापनमनुत्तमम्।
मैत्रेया शेष पापानां, धातूनामिव पावकः।।

- (विष्णु ६/८/२०)

हे मैत्रेय! सुवर्ण आदि धातुओं को जिस प्रकार अग्नि पिघला देता है उसी प्रकार प्रभु जिसका भक्तियुक्त नाम-संकीर्तन संपूर्ण पापों का अत्युत्तम विलापन (लीन करने वाला) है।

ध्यायन्कृते यजन्त्यात्र त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।।

-(विष्णु ६/२/१७)

सत्युग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञानुष्ठान से, और द्वापर में भगवान् के पूजन से मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है वह कलियुग में भी केशव का नाम संकीर्तन करने से ही पा लेता है।

हरिर्हरति पापानि दुष्ट चित्तेरपिरस्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।।

-(वृ. नारद १/११/१००)

श्री हरिका यदि दुष्ट चित्त पुरुषों से भी स्मरण किया जाए तो हरि उनके समस्त पापों को हर लेते हैं, जैसे अनिच्छा से स्पर्श करने पर भी अग्नि जला ही डालती है।

शमा यालं जले ब्रह्मे स्तमसो भास्करोदयः।
शान्तिः कलौ ह्यघौघस्य नाम संकीर्तन हरेः।।
हरेर्नामैव नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

-(वृ.ना. पु. १/४१/१६)

अग्नि को शांत करने में जल और अन्धकार को दूर करने में सूर्य समर्थ है तथा कलियुग में पाप-समूह की शान्ति का उपाय श्री हरिका नाम-संकीर्तन है।

श्री हरिका नाम ही, नाम ही, नामही मेरा जीवन है, इसके अतिरिक्त कलियुग में और कोई उपाय नहीं है।

कलि कल्मष मत्युग्रं नरकीर्ति प्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं संहस्सकृद्यत्रापि संस्मृतिः।।

- (वि. ६/८/२१)

मनुष्यों को नरककी यातनाएँ प्राप्त कराने वाले कलियुग के अति उग्र दोष जिन प्रभु का एक बार स्मरण करने से भी तुरन्त लीन हो जाते हैं।

जनार्दनं भूतपतिं जगद्गुरुं, स्मरन्मनुष्यः सततंमहामनुे।
दुःखानि सर्वाण्यपहन्ति साधयत्यशेष कार्याणि च यान्यभीप्सते।
एवमेकाग्रचित्तः सन् संस्मरन्मधुसूदनम्।
जन्ममृत्युजरा ग्राहं, संसाराब्धि तरिष्यति।।

कलावत्रापि दोषाढ्ये, विषयासक्तमानसः।
कृत्वापि सकलं पापं गोविंदं संस्मरञ्छुचिः।।

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्यादिकं फलम्।।

- विष्णु पुराण (२/६/४३)

हे महामुने! समस्त प्राणियों के प्रभु जगद्गुरु जनार्दन का निरन्तर स्मरण करने से मनुष्य समस्त दुःखों को दूर कर देता है और जिन-जिनकी इच्छा करता है उन सभी कार्यों को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर श्रीमधुसूदन का स्मरण करते रहने से मनुष्य जन्म मृत्यु और जरारूप ग्राहों से पूर्ण संसार सागर को पार कर लेगा।

इस दोषपूर्ण कलियुग में विषयासक्त मनुष्य समस्त पापों को करके भी श्री गोविंदका चिन्त्वन करने से पवित्र हो जाता है। हे मैत्रेय! जप होम तथा अर्चनादि द्वारा जिसका चित्त भगवान् वासुदेव में लगा हुआ है उसके लिए इन्द्रत्वादि फल विघ्न रूप ही है।
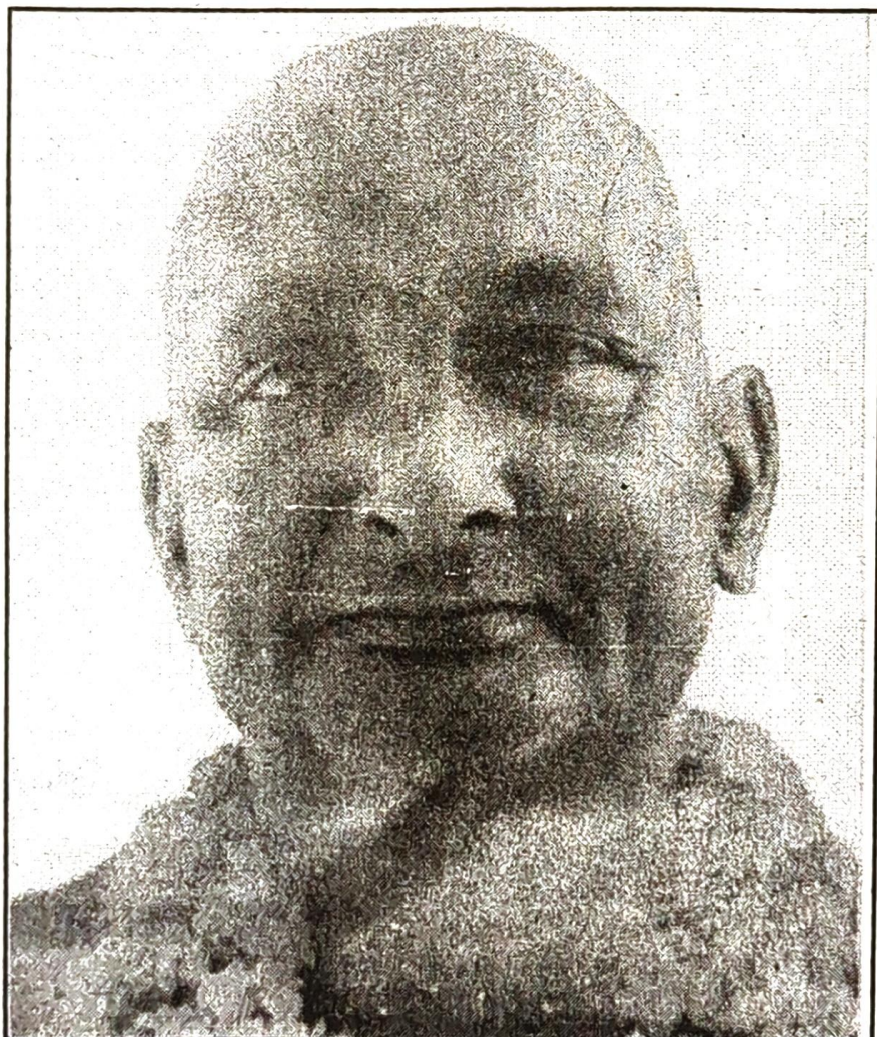
ॐ त्रिलोकी के नाथ[६] गुरु कुटस्थ स्वामी
ॐ गुरु कुटस्थ स्वामी। गुणातीत चेतन अज
ॐ गुणातीत चेतन अज !! श्री नित्यानन्दम्!
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।४।।

भावार्थ- हे प्रणव रूप गुरुदेव! आप त्रैलोक्याधिपति अज्ञानान्धकार के दूर करने वाले, निर्विकार सर्वाधीश हैं। निश्चय करके हे गुरुदेव! आप निर्विकार सर्वाधीश हैं। आप सत्व रज-तम तीनों गुणों से अतीत, चैतन्यस्वरूप, अजन्मा, सकल वैभव सम्पन्न, नित्य-आनन्द स्वरूप है। दया कर मुझे निर्मल कीजिए, हे प्रणव रूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ।।४।।

दोहा- चार वेद सन्तत करें, श्री गुरु का गुण-गान
अधिष्ठान दृष्टा अचल, नर-नारायण जान।।१।।

भावार्थ- हे गुरुदेव! आप के गुणों का गान निरन्तर चारों वेद करते रहते हैं, आप सब ब्रह्माण्ड के अधिष्ठान (आश्रय) दृष्टा (साक्षी) और अचल- (सत्यस्वरूप) मनुष्य रूप में आप स्वयं नारायण हैं।।१।।

---

(६) कवित्तः-

गुरु के प्रसाद सब विद्या और बोध होत,
गुरु के प्रसाद को प्रकाश उर छायो है।

गुरु के प्रसाद शुद्ध आनन्द स्वरूप होत,
गुरु के प्रसाद शिव काल कूट खायो है।।
गुरु के प्रसाद वाल्मीकि व्यास सिद्ध भये,
गुरु के प्रसाद ही से राम गुण गायो है।
गुरु ही की कृपा से आनन्द होत शालिग्राम,
गुरुपद की कृपा से पूरण पद पायो है।।१।।

(ब) गुरु बिन ज्ञान नाहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम विचार न लहतु है।

गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन शीलहु सन्तोष न गहतु है।
गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भ्रमहू को नाश नहिं संशय रहतु है।
गुरु बिन पार नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं,
सुन्दर प्रकट लोक वेद यूं कहत है।।

(स) तीन लोक नौ खंड में, गुरु से बड़ा न कोई।
करता करे न करि सकै, गुरु करे सो होई (कबीर)

गुरु को शिर पर राखिके, चले जो आज्ञा मांहिं।
कहे वेद पुराण तिहुं, तीन लोक डर नाहिं।।१।।

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिए जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान।।२।।

सच ही ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे को ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।।३।।

(गुरु महिमा)

श्रवण

श्रवण-''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः

-(वृहदारण्यक उपनिषद्)

अर्थः- अरे! आत्मा को देखना, सुनना, मनन करना और निदिध्यासन करना चाहिए।

-हे कहोल! स्वप्रकाश सुखरूप ब्रह्म की प्राप्ति की जिसको इच्छा होती है, तथा शास्त्र के पदार्थ का तथा वाक्य के अर्थ का जिसको ज्ञान होता है, ऐसा चतुष्टय साधन सम्पन्न पुरुष मुमुक्षु होता है। प्रथम गुरुमुख से वेदान्त वाक्य को श्रवण कर उन वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में निश्चय करना-इसका नाम श्रवण है.......................(योगी याज्ञवल्क्य)

दोहाः- जो सुनने में आवता सब ही सरवन जान।
अधिकारी के भेद से, जुदा जुदा पहिचान।।१।।

जो अधिकारी ज्ञान का गुरु से पूछे तत्त।
महावाक्य के अर्थ का, सरवन करना नित्त।।२।।

अर्थ यह है कि जो कुछ सुनने में आता है सो सभी श्रवण कहा जाता है यह श्रवण का साधारण स्वरूप है। जैसे ईश्वर, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, और ज्ञान, तैसे ही देश, काल, अदृष्ट, प्रागभाव और प्रतिबन्धाभाव ये नौ, सर्व कार्य के कारण होने से साधारण कारण कहे जाते हैं। और जो एक ही कारण हो, वह असाधारण कारण होता है, जैसे रसना इन्द्रिय से एक रस का ही ज्ञान होता है, सुगन्ध आदि का नहीं होता है तैसे ही जो श्रवण किसी एक ही के वास्ते हो, वह श्रवण असाधारण स्वरूप कहलाता है। जैसे महावाक्य का श्रवण, एक ज्ञान की इच्छावाले के ही वास्ते हैं। इससे महावाक्य के श्रवण को असाधारण श्रवण कहते हैं। जो पुरुष आत्मज्ञान की इच्छा वाला है, सो सत्वस्तु को ही गुरु से पूछता है और महावाक्य के अर्थ को ही बार-बार श्रवण करता है। क्योंकि हर वक्त वेदान्त का चिन्तन करने से संशय की निवृत्ति हो जाती है। संशय ही पदार्थ के ज्ञानमें

प्रतिबन्ध होता है, इसी को असंभावना कहते हैं। यह भी दो प्रकार की होती है। एक तो प्रमाणगत, दूसरी प्रेमयगत कहलाती है। प्रमेयगत को आगे कहेंगे, यहाँ प्रमाणगत का विवेचन करते हैं। प्रमाण कहिए शास्त्रगत, अर्थात् उसमें असंभावना या संशय यह है कि वेदान्त के वचन स्वर्ग या मोक्ष का कथन करते हैं। इसमें जो संशय है उसको प्रमाणगत असंभावना कहते हैं। वेदान्त शास्त्र के बारम्बार श्रवण करने से ऐसी प्रमाणगत असम्भावना की निवृत्ति होकर निस्संशय हो जावेगा। जैसे रत्न के परखने वाले जौहरी होते हैं, जो नाना प्रकार की युक्ति सुना के उस रत्नवाले को निस्संशय कर देते हैं, तैसे ही यह जो श्रवण है उसमें अनेक प्रकार के जो संशय है, जैसे वेदान्तशास्त्र के सुनने का हमारे को अधिकार है वा नहीं है? अब इस प्रकार श्रवण करने से कौन फल होता है? स्वर्ग प्राप्त होता है कि मोक्ष? अथवा इसका सुनना निष्फल ही होता है? इस रीति से अनेक प्रकार के संशय होते हैं। उन सर्व संशयों को जौहरी की नांई जो गुरु हैं सो अनेक प्रकार की युक्ति सुना के शिष्य को निस्संशय कर देते हैं। आत्मा सर्व में होने से आत्मजिज्ञासा सर्व को ही होती है। इससे श्रवण का सभी को अधिकार है। और स्वर्ग को तो वेदान्त ने बारंबार अनित्य कहा है। अतः नित्य जो मोक्ष है उसके प्रतिपादन करने से वेदान्त की सफलता है। इसी वेदान्त में अपूर्वता है। इस प्रकार की युक्ति रूपी बाघिनी को देख स्याल गीदड़ रूपी संशय भाग जाता है। इसी रीति से श्रवण रूपी रत्न में जो नाना प्रकार के संशय हैं उनसे जिज्ञासु को निस्संशय होकर श्रवण करना चाहिए। इसी से उसको रत्न कहा है और जिज्ञासा ही श्रवण का कारण है पूर्व जो साधारण और असाधारण दो प्रकार काश्रवण कहा, सो ही इसका स्वरूप है, और असंभावना की निवृत्ति इसका फल है मनन करने की सामर्थ्य नहीं हो तब तक श्रवण करते रहना यही इसकी अवधि है।

- (चौदह रत्न गुप्तसागर)

-जिस प्रकार वीणासहित गायन को सुनकर बनके हिरण सब सुधि को बिसार कर केवल गायन सुनने में निमग्न होते हैं, उसी प्रकार गुरु मुख से निकले हुए तात्पर्य सहित वेदान्त वाक्य का श्रवण करें। - (पंचीकरण)
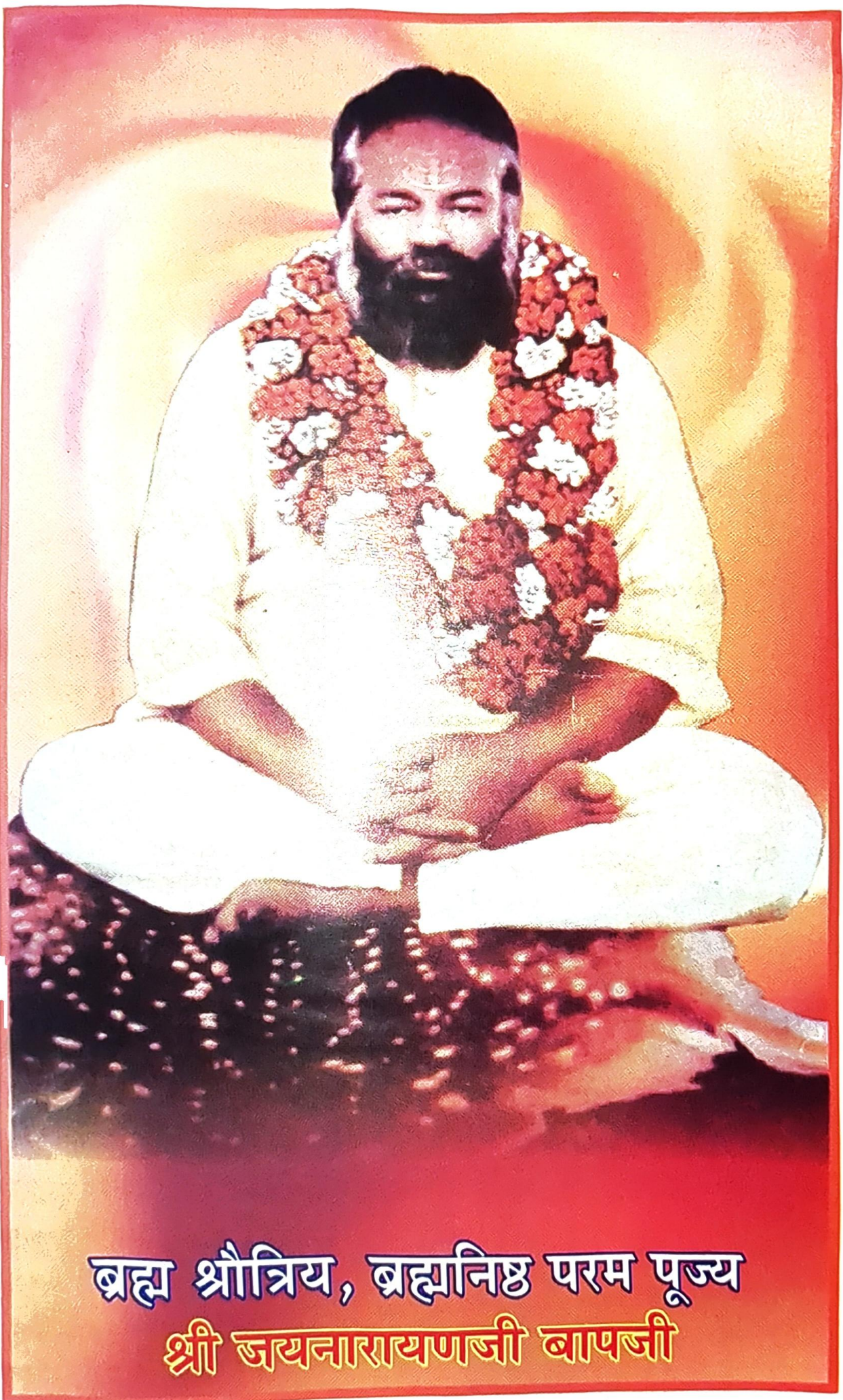
ब्रह्म श्रौत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ परम पूज्य

श्री जयनारायणजी बापजी

श्री सद्गुरुदेव महाप्रभु श्री नित्यानंद जी महाराज की

आरती नं. ३

शिव भाव

ॐ विमलं गुरुदेवं।

ॐ[1] विमलं गुरुदेवं, अखिल सच्चिदानन्दं

अखिल सच्चिदानन्दं, श्री नित्यानन्दं।।

ॐ जय जय जय गुरुदेव।।टेक।।

भावार्थः- हे शिष्य! 'आ' अर्थात् मेरे निकट आकर बैठ, और जो कुछ कहता हूँ उसमें 'रति' अर्थात् भावकर श्रद्धा कर, तेरा कल्याण होगा।

प्रणव रूप परमात्मा माया मल से रहित, सत्‌चित्‌ आनन्द-स्वरूप, परिपूर्ण है। निश्चय करके परिपूर्ण है। वह सकल विभूति सम्पन्न, नित्य-आनन्द-स्वरूप है। वही तेरा आत्मा है, वही तू है।

हे प्रणव रूप आत्मप्रिय! तू जय (मुक्त) है, इसलिए स्वरूपरूप का साक्षात्कार करके-मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! (टेक)

१(अ) ॐ-''भूतं-भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्र त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव''। ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यानं- -(माण्डूक्य)

अर्थातः- एक नित्य वस्तु ॐ ही है जो कुछ जगत् दृष्टि पड़ता है सब इसका प्रकाश करने वाला ही है। भूत वर्तमान,भविष्यत् सब ॐकार ही है। तीनों कालों से परे जो ब्रह्म, अथवा प्रकृति, अथवा-जीव जो सत् स्वरूप है वह भी सब ॐकार ही है। क्योंकि शक्ति शक्तिवान् से भिन्न नहीं ('अधिष्ठान से भिन्न नहिं' विचार सागर) होती। इसी प्रकार प्रकृति और जीव परमात्मा की शक्ति कहने से परमात्मा के साथ ही आ जाते हैं। परमात्मा एक ही है, अतः परमात्मा की प्रजा जीवात्मा और इसकी सम्पत्ति नित्य मिलकर ॐकार बना है। इसी प्रकार तीन वस्तुओं से परमात्मा ॐकार कहाता है। यदि व्याप्य प्रकृति न हो तो परमात्मा को व्यापक अर्थात आत्मा नहीं कह सकते। यदि शरीर में व्यापक जीवात्मा न हो तो भी परमात्मा नहीं कह सकते। इसलिए ॐकार में ही सब आ जाता है। सब ॐकार की ही व्याख्या है। जैसे राजा

की प्रजा और सम्पत्ति राजा की महिमा बताने वाली होती है। उसी प्रकार जीव और प्रकृति से परमात्मा के गुणों का ही प्रकाश होता है; जो कुछ बीत चुका है उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और मृत्यु परमात्मा की सत्ता का प्रकाश करती है। जो कुछ विद्यमान है इसकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश परमात्मा की सत्ता का प्रकाश कर रही है। जो आगे होगा, वह इसी काम को करेगा। निदान कार्य, कारण, प्रकृति और जीव से ॐ ही का प्रकाश होता है। इसलिए सब ॐ ही की महिमा समझनी चाहिए।

(ब) सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदंति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्तेपद संग्रहेण ब्रवीत्योमित्येतत्।।

(कठ. १५-४४)

भावार्थः- यमाचार्य कहते हैं-है नचिकेता! जिस शब्द का सब वेद परमात्मा की प्राप्ति केलिए साधन बतानेके लिए बार-बार कहते हैं, जिसकी प्राप्ति करने के लिए वेदों ने हर प्रकार के तप और साधन बतलाए हैं, अर्थात् पहले पढ़ने में जितना कष्ट होता है फिर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अनेकों प्रकार के व्रत करने में, और यज्ञ आदि की सामग्री के एकत्रित करने तथा निष्काम परोपकार करके; अन्तःकरण को ठीक करके, इसको एक ओर लगाने के लिए अभ्यास और वैराग्य के साधनों को ठीक करने में जिस प्रकारके तप बताए हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम धारण किया जाता है। अर्थात् समस्त इन्द्रियों को रोककर ब्रह्म अर्थात् वेद के नियम की पूरी-पूरी आज्ञा पालन करते हुए वेदों की शिक्षा पाते हैं; जिससे वह अंधेरे की बाधा जिसके कारण से अपने में व्यापक परमात्मा को भी जान नहीं सकते, जिस प्रकार दर्पणसे ही आंख और आंख का अञ्जन दृष्टि पड़ता है; उसी प्रकार मनरूपी दर्पण से ही जीवात्मा का ज्ञान हो सकता है। बिना मन के शुद्ध हुए उसको देख नहीं सकते। परन्तु अंधेरी रात में कुछ दृष्टि नहीं आता, इस कारण चाहे आँख का अञ्जन या आँख से किसी दूसरी वस्तु को देखना हो तो प्रकाश की दशा की आवश्यकता होती ही है।

इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के वास्ते जिस प्रकार की विद्या की आवश्कता है वह वेदविद्या है, जिसके यथावत् प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रम है, बिना ब्रह्मचर्याश्रम के वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जिस पद, अर्थात्-शब्द के जानने के वास्ते उपर्युक्त साधन किए जाते हैं, उस साधन को संक्षेप से तुझे बताता हूँ "वह पद केवल ॐ है" अर्थात्- अकार से व्यापक होने का उकार से प्रकाशक होने का प्रमाण और मकार से बुद्धिमत्ता और प्रकाश स्वरूप तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब कामों का पता ॐ से लग जाता है।

मंत्रः-एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्।।
क. (१६-४५)

भावार्थः- हे नचिकेता! ॐ अक्षर है यही सबसे बड़ा और निशा रहित ब्रह्म है, और यही मनुष्य जीवन का नियत मार्ग या सबसे बढ़कर जानने योग्य पदार्थ और ज्ञान की अन्तिम सीमा है, सारे साधन इसके ज्ञान के लिए ही आवश्यकीय हैं। जिस प्रकार मार्ग की कुल सामग्री नियत स्थान पर पहुंचने के लिए ही होती है, ऐसे ही शरीर, इन्द्रिय मन आदि सब पदार्थ ॐ को जानने के लिए ही हैं जिस प्रकार समस्त रसोई की सामग्री का आशय केवल पेट भरना ही होता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण साधनों की प्राप्ति केवल परमात्मा के जानने के लिए हैं, और जो मनुष्य उस अक्षर को जान जाता है; अर्थात्-जिसको परमात्मा का ज्ञान हो जाता है, उसकी जो कुछ इच्छा होती है वह सब पूर्ण हो जाती है। प्रथम तो ॐ को जानने के पश्चात किसी इच्छा का होना ही कठिन है, क्योंकि-नियत मार्ग पर पहुंचने से प्रथम मार्ग की सामग्री दृष्टिगोचर होती है, कोई ऐसा नहीं होता जिसकी इच्छा शेष हैं। उसी ॐ को आदि जगत से मनुष्य सब से उत्तम नाम कहते चले आए हैं। इस नाम से ज्ञान से हर प्रकार का कष्ट स्वयं दूर हो जाता है। सम्पूर्ण सुखों का स्रोत यही मुख्य नाम है। जो लोग ॐ के उपासक हैं उनको हर्ष शोक भयादि से कोई संबंध ही नहीं। जिस स्थान में सूर्य का प्रकाश हो, वहाँ किसी प्रकार का अंधेरा हो ही नहीं सकता ऐसे ही जिस किसी ने 'ॐ' को जान लिया है उसको अविद्या हो नहीं सकती। जहाँ अविद्या नहीं है वहाँ दुःख किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि अविद्या से राग द्वेष में प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति अर्थात् बुरे, भले कामों के करने से पाप-पुण्य होते हैं और पाप-पुण्य से जन्म मरण होते हैं, जिस से दुःख होता है। जहाँ अविद्या नहीं वहाँ रोग द्वेष हो ही नहीं सकता, जहाँ राग द्वेष नहीं वहाँ दुःख किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते। अतः एकॐ के स्वरूप का जान लेना ही सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त हो जाना है।

मंत्रः- एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते।। क. १७/४६।।

भावार्थः- ॐ की उपासना सर्वश्रेष्ठ मुक्ति का साधन है और वह साधनों में परम साधन है परन्तु ॐ को उपासना के योग्य बनने के वास्ते ज्ञान की आवश्यकता है। किंतु इसलिए कि उपासना के योग्य बन जाए अर्थात अविद्या जो उपासना के मार्ग में बाधा डालने वाली है दूर हो जावे इसके लिए कर्म की आवयकता है। इसके लिए हमारा मन जो मैला है लग नहीं सकता और कर्म में लगाने के लिए शुद्ध मन की जरूरत है। परन्तु बिना निष्काम कर्म के मन शुद्ध हो नहीं सकता। और बिना मन की शुद्धि के ॐ की उपासना सम्भव नहीं, अतः जितने

साधन हैं, वह सब इससे पहले ही होते हैं। ब्रह्म के जानने के लिए यह सब से परे का साधन है। जिसने इस साधन को जान लिया है, वह ब्रह्मलोक के सुख अर्थात् ब्रह्मदर्शन के आनन्द को प्राप्त होता है।

ॐ के दस नामों का अर्थः-

हे शिव! ॐकार का उच्चारण करने के समय प्राण ऊपर को खींचने पड़ते हैं, इसलिए आप ॐकार कहे जाते हैं।

आपको 'प्रणव' कहने का कारण यह है कि इस प्रणव का उच्चारण करते समय ऋक, यजु, साम, अथर्व-अङ्गिरस और बसु ब्राह्मण को नमस्कार करने आते हैं। आपको 'सर्वव्यापी' कहने का कारण यह है कि इस नाम के उच्चारण करने से समय जैसे-तिलों में तेल भरा रहता है। ठीक वैसे ही आप सब लोकों में ओत प्रोत हैं। आपको अनन्त कहने का हेतु यह है कि इस को उच्चारण करते समय ऊपर नीचे ओर तिर्यक कहीं भी आपको अन्त देखने में नहीं आता।

हे शम्भो! आपको 'तारक' कहने का कारण यह है कि इस नाम का उच्चारण करने के समय आप गर्भ, जन्म, व्याधि, जरा और मरण वाले संसार के महा भय से तारने वाले हैं शुक्ल' कहने का हेतु यह है कि इस नाम का उच्चारण करने मैं क्लेश (श्रम) होता है। आपको क्ष्म' इसलिए कहा जाता है कि इस शब्द का उच्चारण करने में आप सूक्ष्मरूप वाले होकर थावरादि सब शरीरों पर अधिकार करते हैं। आपको 'सूक्ष्म या वैद्युत' कहने का यही हेतु है त इसके उच्चारण के साथ ही स्थूल महान अंधकार में भी सारे शरीर प्रकाश को प्राप्त होते हैं। हे महादेव! आपको ब्रह्म कहने का कारण यह है कि आप पर, अपर और परायण का बड़ी वीणा से ज्ञान कराते हैं। आपको 'एक' इसलिए कहते हैं कि आप सब प्राणों का भक्षण करके अजरूप होकर उत्पत्ति और संहार करते हैं।

कोई-पुण्य तीर्थ में जाते हैं, कितने ही दक्षिण पश्चिम उत्तर और पूर्व दिशा में तीर्थाटन करते हैं, उन सबकी सद्गति यहीं है। आप सभी प्राणियों के साथ होकर एकरूप से रहते हैं इसलिए आपको एक कहते हैं।

है शिव आपको रुद्र क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि आपका स्वरूप ऋषियों को प्राप्त होसकता है सामान्य भक्तों को आपका तात्त्विक स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए आपको रुद्र कहते हैं। आपको 'ईशान' कहने का कारण यह है कि सब देवताओं का 'ईशानी' और 'जननी' नाम की परम शक्तियों से आप नियमन करते हैं।

हे शूर जैसे-दूध के लिए गौ को रिझाते हैं, ठीक वैसे-ही आप राम की स्तुति करते हैं।

हे इन्द्र आप ही इस वर्तमान जगत के ईश और दिव्य दृष्टि वाले हैं इसलिए आपको 'ईशान' कहते हैं।

हे महेश आपको भगवान् परमेश्वर कहने का कारण यह है कि आपको जो भक्त ज्ञान के लिए भजते हैं उनके ऊपर आप अनुग्रह करते हैं और उनके लिए वाणी का प्रादुर्भाव करते हैं तथा सब भावों को त्याग कर आप आत्मज्ञान से योग के ऐश्वर्य से अपनी महिमा में विराजते हैं इसलिए आपको भगवान महेश्वर कहते हैं। - (अथर्व शिरोपः)
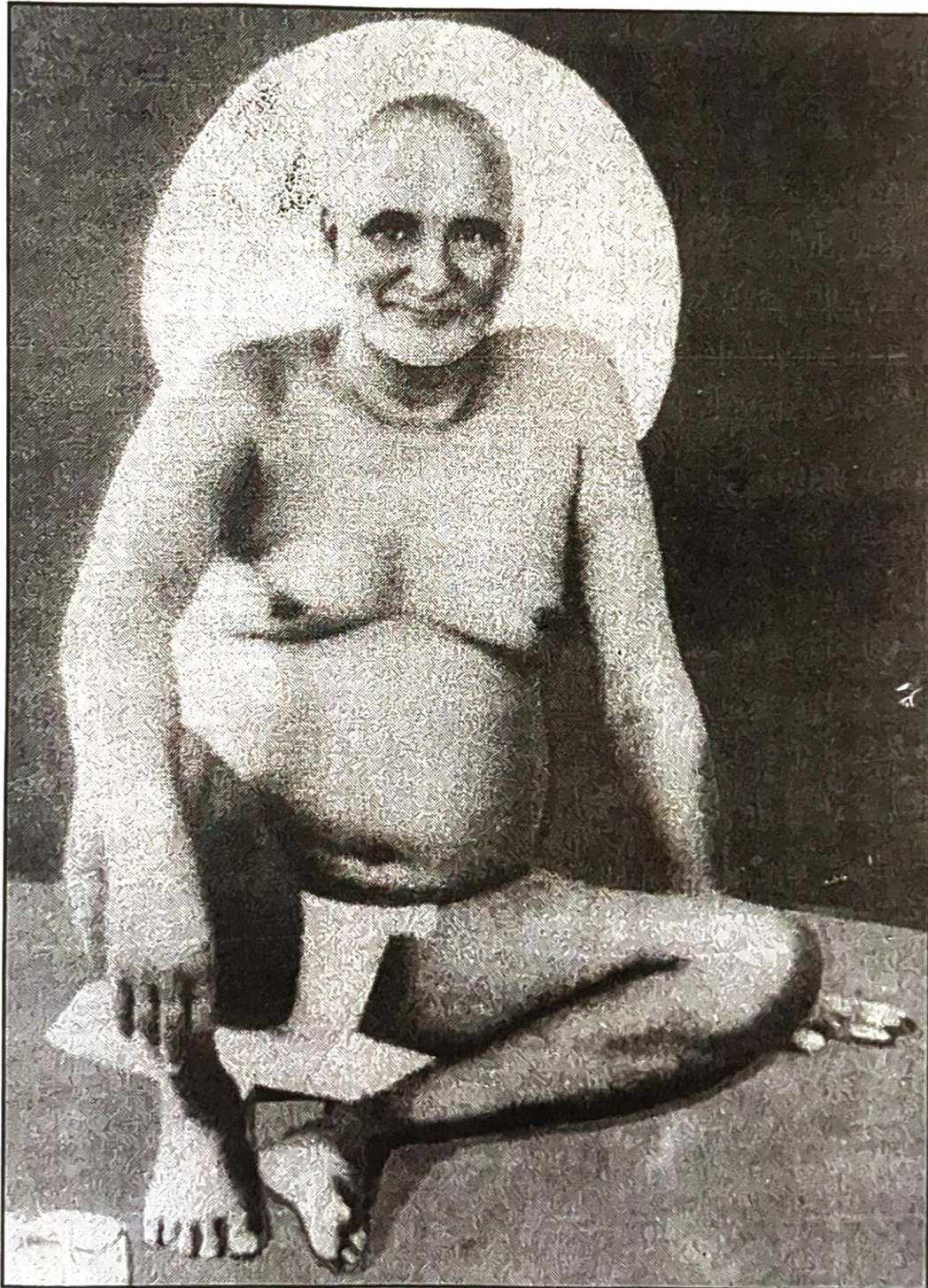
ॐ सत्य त्रिकालाबाध, चित्त अलुप्त प्रकाशंः
ॐ चित्त अलुप्त प्रकाशं, आनंद घन निजआतम,
ॐ आनँदघन[2] निज आतम, श्रीनित्यानन्दम्।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।१।।

भावार्थः- प्रणव रूप परमात्मा ही सत्य है वह त्रिकालाबाध है, निश्चय करके त्रिकालाबाध है। जिसका चित्त अलुप्त अर्थात् चिन्मय हो गया है उसे ही (उसके) प्रकाश के दर्शन होते हैं। निश्चय करके उसे ही उसके प्रकाश के दर्शन होते हैं। तब उसे ज्ञान होता है कि मेरा आत्मा आनन्दघन है निश्चय करके मेरा आत्मा आनन्दघन है (और) सकल वैभव पूर्ण नित्यानन्द स्वरूप है।

ॐ अखंड एक रस आप, निकट नहीं दूरं।
ॐ निकट नहीं दूरं, रूप चराचर[3] विभुवर,
ॐ रूप चराचर विभुवर, श्री नित्यानंदम्।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।२।।

भावार्थः- हे आत्मप्रिय! प्रणव रूप परमात्मा तू है, अखंड है, एक रस है, और ॐ अर्थात् परमात्मा से न तू दूर है न निकट है। अर्थात् 'तू' 'मैं' और 'ब्रह्म' एक ही है। (इतना ही नहीं वरन्) यह जो कुछ रूप अर्थात् दृश्य है सब चराचर रूप, श्रेष्ठ परमात्मा सकल वैभव पूर्ण नित्य, आनंद स्वरूप हैं। हे प्रणवरूप आत्मप्रिय! स्व-स्वरूप प्राप्तकर मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ।।२।।

२-चिद्रूप मात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानंदमद्वयम्। आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम्।। (तेजोबिन्दु उपनिषद्)

आदि मध्यान्त हीनोऽहमाकाश सदृशोऽस्म्यहम्। आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घटनः।। -(ब्रह्मविद्या उप.)

हे प्रवण रूप! आत्मप्रिय! (गुरुदेव-ब्रह्म) की तरह तू मुक्त है, इसलिए स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके-मुक्त हो! मुक्त हो!।।१।।

३. रूपचराचरः-

श्लोकः- सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठिति।।

-(गीता १३-१६)

अर्थातः- उस परमात्मा के सब जगह हाथ पांव और नेत्र हैं। सब जगह उसके मस्तक तथा मुख है, सब जगह कौन है वह जगत में सबको घेरे हुए हैं स्थित है।

श्लोकः- सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।।

अर्थात्:- सर्व प्राणियों के मुख मस्तक और गर्दन उस (ब्रह्म) ही के है यह सर्वभूतों की हृदय गुफा में रहा हुआ है और वह भगवान् सर्वभूतों को घेर कर रहा हुआ है इस लिए वह सर्वत्र शिव है।

ॐ गुरु-दर्शन गुरु-भक्त अनायास करता[४]।
ॐ अनायास करता, जय विश्वनाथ अविनाशी,
ॐ जय विश्वनाथ अविनाशी, श्री नित्यानन्दं।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।३।।

भावार्थः- ऐसा जो गुरु-भक्त (अर्थात् गुरु में एक रूप हुआ-अधिकारी) ॐ गुरु-प्रणवरूप परमात्मा का दर्शन अनायास-सहज में कर लेता है, निश्चय करके बिना कष्ट के कर लेता है, यही उसकी जय है, जिस करके नाश रहित विश्व का नाथ हो जाता है, (क्योंकि) प्रणवरूप परमात्मा निश्चय करके अविनाशी विश्वनाथ है जो सकल वैभवपूर्ण नित्य आनंद स्वरूप है वही तू है इसलिए।

हे प्रणवरूप आत्मप्रिय! स्वस्वरूप प्राप्तकर-मुक्त हो!
मुक्त हो! मुक्त हो!।।३।।

---

४ दोहा- गुरु आगम उपदेश तैं, पूर्व दूर निज रूप।
सो अब निकट प्रकट पुन, तनु में आप अनूप।।१।।
- (बा.बो.उ. १-१८)

दोहा- दृष्ट साक्षी सर्व को, सत्‌चित्त आनन्द रूप।
ध्यान जास योगी धरे, तेरो सोई स्वरूप।।
- (बा.बो.)

श्लोकः- स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं, स्वस्मादन्यत्र किञ्चन।।
अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयंच,
स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात्।

स्वयंह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां,
तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात्।।

तरङ्गफेनभ्रमबुद्‌बुदादि,
सर्व स्वरूपेण जलं यथा तथा।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेत-
त्सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम्।।

ॐ त्रिलोकी के नाथ, गुरु कूटस्थ स्वामी।
ॐ गुरु कूटस्थ स्वामी, गुणतीत चेतन अज[४]
ॐ गुणातीत[५] चेतन[६] अज श्री नित्यानन्दम्।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।४।।

भावार्थः- जो प्रणवरूप परमात्मा त्रैलोक्यनाथ है, वही गुरु कूटस्थ स्वामी है, निश्चय करके वही ॐ ब्रह्म गुरु का कूटस्थ स्वामी है, और वही गुणों से अतीत, चैतन्य और अजन्मा है- (वही तेरा स्वरूप है,) निश्चय करके (वही तू) गुणों से अतीत, चैतन्य, अजन्मा है, और सकल वैभव सम्पन्न नित्यआनंद स्वरूप है, इसलिए-हे आत्म प्रिय प्रणव रूप! मुक्त गुरुदेव की भाँति स्व-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ।।४।।

भावार्थः- ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव और यह सारा विश्व स्वयं आप ही हैं, अपने से भिन्न और कुछ भी नहीं है।

आप ही भीतर हैं आप ही बाहर हैं, आप ही आगे हैं, आप ही पीछे हैं, आप दांए हैं, ाप ही बांए हैं और आप ही ऊपर है, आप ही नीचे हैं।

जैसे तरंग, झँवर और बुदबुदे आदि स्वरूप से जल ही है, वैसे ही देह से लेकर अहङ्कार न्त यह सारा विश्व भी अखंड शुद्ध चैतन्य आत्मा ही है।

- (विवेक चूड़ामणि ३८९-९०-९१)

४. -यत्परं सकलवागगोचरं, गोचरं विमलबोधचक्षुषः।
शुद्ध चिद्घनमनादि वस्तुयद्-ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि।।

भावार्थः- जो प्रकृति से परे और वाणी का अविषय है, (निर्मल ज्ञान चक्षु का विषय है) तथा शुद्ध-चिद्घन अनादि वस्तु है। तुम वही ब्रह्म हो ऐसी भावना करो।

५- जन्मवृद्धि परिणत्यपक्ष्यव्याधिनाशन विहीनमव्ययम्।
विश्वसृष्ट्यवनघात्कारणं, ब्रह्मतत्त्वमसि भावयात्मनि।।

भावार्थः- जो जन्म, वृद्धि, परिणति, अपक्षय, व्याधि, और नाश-शरीर के इन छहों विकारों से रहित है तथा विश्व की सृष्टि और विनाश का कारण है, वह ब्रह्म तुम ही हो-ऐसा अपने मन में जानो।

दोहाः-

चार[७] वेद सन्तत करें, श्री गुरु का गुण-गान
अधिष्ठान दृष्टा अचल, नर-नारायण जाण।।१।।

भावार्थः- चारों वेद सतत् ऐसे ही श्री गुरु के गुणों का गान करते रहते हैं कि जिनकी कृपा से मनुष्य अपने को विश्वमात्र का अधिष्ठान, साक्षी, अचल होने का ज्ञान प्राप्त कर अनुभवानन्द ले कि केवल नारायण-नित्य आनन्द ही है ।।१।।

---

६. श्लोकः- यच्च कास्त्यपरं परात्परं
प्रत्यगेंकरसमात्मलक्षणम्।
सच्चित्सुखमनन्तमव्ययं,
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि।।

भावार्थः- जो परे से भी परे है, जिससे परे और कोई भी नहीं है, प्रत्यक्, एक रस और सबका अन्तरात्मा है, तथा सच्चिदानन्द स्वरूप-नित्यानन्द स्वरूप-अनन्त और अव्यय है, वह ब्रह्म तुम ही हो-ऐसी अपने अन्तःकरण में भावना करो।

- श्री शंकराचार्य,

७ (अ) श्लोकः- एतत्त्रितयं दृष्टं, सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात्।
तस्माद्वस्तु सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा।।

भावार्थः- रज्जु में भ्रम के कारण सर्प की प्रतीति होती है, और उस मिथ्या प्रतीति सेही भय, कम्प आदि दुःखों की प्राप्ति होती है। किन्तु दीपक आदि द्वारा जिस प्रकार रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही (रज्जु का अज्ञान (आवरण) अज्ञानजन्य सर्प (मल) और सर्प-प्रतीति से होने वाले भय कम्प आदि (विक्षेप)) ये तीनों एक साथ निवृत्त होते देखे जाते हैं, (उसी प्रकार आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर आत्मा का अज्ञान, अज्ञान जन्य प्रपञ्चए की प्रतीति और उससे होनेवाले दुःखों की एक साथ ही निवृत्ति हो जाती है। इसलिए संसार बंधन से छूटने के लिए विद्वान को आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। - (श्रीशंकराचार्य)

(ब) गोविंद के किए जीव जात हैं रसातल को,
गुरु उपदेश सो तो छूटे जम फंद ते।
गोविन्द के दिए जीव वश परे कर्मन के

गुरु के निवारे सु फिरत हैं स्वच्छन्द ते।।
गोविंद के किए जीव डूबत भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुःख द्वन्द ते।
सुन्दर और कहा कहूँ वेद हू कहत यही
"गुरु की तो महिमा अधिक है गोविंद तें*"।।

दोहाः-

(स) सोना काई नहिं लगे, लोहा घुन नहिं खाय।
बुरा भला जो गुरु भगत, कबहूं नर्क न जाय।।१।।

हरि सम जग कछु वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सम पंथ।
सद्‌गुरु सम सज्जन नहीं, गीता सम नहिं ग्रन्थ।।२।।

मात तात भ्राता सुहृद, इष्टदेव नृप प्राण।
नाथ सुगुरु सबसे अधिक, दान ज्ञान विज्ञान।।३।।

टेरत सद्‌गुरु माया करी, मोह नींद सोवंत।
जग्यो ज्ञान लोचन खुल्ये, सुपनो भ्रम विसरंत।।४।।

गुरु बिन भ्रम लग भूसियो, भेद लहे बिन श्वान।
केहरि बपु झांई निरख, परयो कूप अज्ञान।।५।।

सूर्य दर्श आदर्श ज्यों, होत अग्नि उद्योत।
तैसे गुरु प्रसाद ते, अनुभव निर्मल होत।।६।।

- (ज्ञानमाला)

दोहाः- ज्ञान बिना मुक्ती नहीं, नर तन बिन नव होय।
सद्‌गुरु बिन व्यापे नहीं, कोटि कल्प सुधि जोय।।१।।

-(प्रकीर्ण)

(ड) उपाधि के त्याग से जीवात्मा ही परमात्मा है, इसकी पुष्टि के लिए चारों वेदों का प्रमाण वर्णन किया जाता है-

१. ऋग्वेद के ऐतरेय आरणयक का महावाक्य है 'प्रज्ञानं' ब्रह्म[१], अर्थात् प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जिसके द्वारा देखने, सुनने, सूंघने, बोलने आस्वाद लेने का ज्ञान होता है उसे 'प्रज्ञान' कहते हैं। यह प्रज्ञान रूप चैतन्य देव मनुष्य और पशुओं में एक ही है।

२. यजुर्वेद के वृहदारणयक का महावाक्य है- अहं ब्रह्मास्मि', में स्वयं ब्रह्म हूँ। यह मनुष्य देह ब्रह्मज्ञान की अधिकारिणी है, इसमें सर्वत्र परमात्मा व्याप्त है, परमात्मा ही बुद्धि का

साक्षी होकर इस देह में स्थित है। उसको 'अहं-मैं' कहते हैं। देशकाल वस्तु से जिसका भेद न हो और आप ही सर्वत्र अखंड रूप से परिपूर्ण हो उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। 'अस्मि=हूँ' यह शब्द एकता का ही बोध कराता है।

३. सामवेद का महावाक्य है -'तत्त्वमसि', तू वह है। नाम रूप से रहित, एक अद्वितीय, सत्यामा जो कि सृष्टि से पहिले था और अब भी वैसा ही है इसी को 'तत्=वह' कहते हैं। महावाक्य के सुनने वाले शिष्य में देह, इन्द्रिय, आदि से परे जो सत्यात्मा है उसी को गुरुद्वारा 'त्वं=तू कहा गया है। 'असि=है' यह शब्द तू और वह को एक ही बतलाया है।

४. अथर्वण वेदका महावाक्य हैं-अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ही ब्रह्म है। जो वस्तु अपने ही प्रकाश से अपरोक्ष हो उसे 'अयं=यह' कहते हैं। देह, इन्द्रिय, मन प्राण के समुदाय का आदि अहंकार है और अन्तिम देह है। इन दोनों से न्यारा जो कि सबके साक्षी रूप से इनमें व्याप्त है उसे आत्मा कहते हैं। - (पं.द.)

(अ) नारायण के ११ अर्थः-

१. अपनी समीपता मात्र से जो 'चेतन' सर्व पदार्थों को अपने अपने कार्य में प्रवृत्त करता है, उस चेतन का नाम नर है, इस चेतन आत्मा रूप नर की माया दृश्य रूप से सम्बन्धी होने से माया को 'नारा' कहते हैं, तथा 'सूक्ष्म' प्रपंच माया का कार्य होने से उसे नार कहने में आती है। माया रूप 'नारा' में तथा सूक्ष्म प्रपंच रूप 'नार' में परमात्मा प्रतिबिम्बित हो रहता है, इससे माया विशिष्ट परमात्मा को तथा सूक्ष्म प्रपंच विशिष्ट हिरणयगर्भ को श्रुति 'नारायण' कहती है।

२. परमात्मा रूप नर के उत्पन्न किए जल को नार कहते हैं, यह नार रूप जल विराट् रूप परमात्मा का आधार होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है।

३. जिस प्रकार प्रसिद्ध नदियों का जल नौका का आधार है, तैसे ही भूमि रूप नौका का आधार जल, परमात्मा से उत्पन्न होता है। इस नारा को परमात्मा, सूत्रात्मा, प्राणरूप से धारणकर्ता होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

४. स्थूल प्रपंच रूप शरीरवाला विराट् तथा सूक्ष्म-प्रपंच रूप शरीर वाला हिरणयगर्भ, इन दोनों नर रूप नरों की स्थिति परमात्मा रूप कारण में होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

५. परमात्मा के प्रतिबिम्ब रूप जीवों को नर कहने में आता है। इनका निरूपण बिंबरूप परमात्मदेव से होता है, इससे श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

६. जीव में स्वभाव सिद्ध काम क्रोधादि दोषों को आर कहने में आता है। इस दुःख रूप आर के आश्रय रूप अज्ञानादि जड़ प्रपंच को 'आरायण' कहते हैं। यह जड़ प्रपंचरूप आरायण

स्वयं ज्योति, आनन्द-रूप, परमात्मा में न होने से श्रुति ने परमात्मा को 'नारायण' कहा है।

७. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश यह पाँच क्लेश, पुण्य, पापरूप कर्म, सुखदुःखरूप फल तथा उसकी वासना, यह सब अविद्यादिक संसार चक्र की 'अरा' है। क्लेशादिरूप अरा का माया परिणामी उपादान कारण होने से आरायण कहलाता है। इस माया रूप आरायण से कूटस्थ परमात्मा भिन्न होने से श्रुति ने उसे 'नारायण' कहा है।

८. कल्पित तादाम्याध्यास-रूप सम्बन्ध से माया रूप नारी की स्थिति परमात्मा में होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है।

९. परमेश्वर रूप नर के साथ सम्बन्ध रखने वाली लक्ष्मी का नाम नारी है, यह नारी सर्व देहधारी जीवों को प्रिय, अनेक कलावाली, अनेक रूपवाली, अत्यन्त मनोहर, पुण्यवान को सुख देने वाली तथा पापियों को दुःख देने वाली है। ऐसी लक्ष्मी रूप नारी परमात्मा में निश्चल होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है।

१०. आनन्द स्वरूप दृष्टा आत्मा को अनेक प्रकार के पदार्थों को दिखलानेवाली सर्व जीवों की बुद्धि का नाम 'नारी' है। इस नारी रूप जड़ बुद्धि का स्वयं ज्योति, आत्मादेव प्रकाशकर्त्ता होने से श्रुति ने स्वयं-ज्योति, दृष्टा, आत्मा को 'नारायण' कहा है।

११. परमात्मा से कोई भी वस्तु भिन्न न होने से श्रुति ने परमात्मा को नारायण कहा है, नारायण देव स्वयं ज्योतिरूप, अक्षररूप, परमपदरूप, सर्व विश्व से पर, सर्वविश्वरूप तथा सनातन है। जो अधिकारी नारायण रूप परमात्मागुरुदेव का श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक स्मरण तथा+कीर्तन करता है, उसके अविद्यादि पांच क्लेशों को तथा सर्व पापों को परमात्मा नाश करता है।

-(नारायणोपनिषद्)

(ब) अनादि निधनं विष्णुं सर्वलोक महेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं, सर्व दुःखाति गो भवेत्।।

- (वि. स. ६)

अर्थः- अनादि निधन अर्थात् (होना, जन्म लेना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और नष्ट होना इन) छः भाव विकारों से रहित विष्णु (अर्थात व्यापक) तथा संपूर्ण लोकों का महेश्वर जो दिखलाई देता है उस दृश्य-वर्ग का नाम लोक है, उसके नियंता ब्रह्मादि का भी स्वामी होने से जो सर्वलोक महेश्वर और सारे दृश्य-वर्ग को अपने स्वाभाविक-ज्ञान से साक्षात् देखने के कारण लोकाध्यक्ष है, उस (देव) की निरंतर स्तुति करने से मनुष्य सब दुःखों से पार हो जाता

है। सम्पूर्ण अर्थात् आध्यात्मिक आदि तीनों प्रकार के दुःखों को पार कर जाता है, यानी सर्व दुःखातीत हो जाता है। इस प्रकार यहाँ स्तवन, अर्चन और जप इन तीनों का एक ही फल बतलाया गया है।

ब्रह्मण्यं सर्व धर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनं।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूत भवोद्भवम्।।

अर्थः- जो ब्राह्मण अर्थात् जगत् की रचना करने वाले ब्रह्म के तथा ब्राह्म तप और श्रुति के हितकारी हैं, सब धर्मों को जानते हैं लोकों की अर्थात् प्राणियों की कीर्ति यानी यशको उनमें अपनी शक्ति से प्रवष्टि होकर बढ़ाते हैं, जो लोकनाथ अर्थात् लोकों से प्रार्थित अथवा लोकों को अनुतप्त या शासित करने वाले है जो अपने समस्त उत्कर्ष से वर्तमान होने के कारण महद् अर्थात् ब्रह्म तथा महद्भूत यानी परमार्थत; सत्य है जिनकी सन्निधि मात्र से समस्त भूतों का उत्पति स्थान संसार उत्पन्न होता है, इसलिए जो समस्त भूतों के उद्‌भव स्थान हैं, उन परमेश्वर का स्तवन करने से मनुष्य सब दुःखों से छूट जाता है।

एष में सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमोमतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा।।८।।

सम्पूर्ण विधिरूप धर्मों में इसी धर्म को सबसे बड़ा मानता हूँ कि मनुष्य श्री पुण्डरीकाक्ष अर्थात् अपने "हृदय कमल में बिराजमान भगवान् वासुदेव का, भक्तिपूर्वक तत्परता सहित गुण संकीर्तन रूप स्तुतियों से सदा अर्चन करें यानी मनुष्य आदरपूर्वक पूजन करे-इस प्रकार जो यह धर्म है" यही मुझे सबसे अधिक मान्य है।

इस स्तुति रूप अर्चन की अधिक मान्यता का कारण क्या है सो बतलाते हैं।

हिंसादि पाप कर्म का अभाव तथा अन्य पुरुष एवं द्रव्य देश और कालादि के नियम की अनावश्यकता ही इसकी अधिक मान्यता का कारण है।

विष्णु पुराण में कहा है- सत्‌युग में ध्यान से त्रेता में यज्ञानुष्ठान से और द्वापर में पूजा करने से मनुष्य जो कुछ पाता है वह कलियुग में भगवान कृष्ण का नाम संकीर्तन करने से ही पा लेता है। - (वि.पु.६/२/१७)

मनुजी का बचन है- इसमें सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण अन्य कर्म करे या न करे वह केवल जप से ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अतः ब्राह्मण 'मैत्र' (सबका मित्र) कहा जाता है।

- (मनु. २/८८)

महाभारत में कहा है- सम्पूर्ण धर्मों में जप सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा जाता है। क्योंकि जप-यज्ञ प्राणियों की हिंसा किए बिना ही सम्पन्न हो जाता है।

भगवान् का भी बचन है कि "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ।

- (गीता १०/२५)

इन सब बातों को सोच कर ही भीष्म जी ने यह कहा है कि मुझे समस्त धर्मों में यहीं धर्म सबसे अधिक मान्य है॥८॥ - (श्रीशाङ्कर भाष्य)

(ब) कुमुदिनि प्रफुल्लित करत शशि, कमल विकासत भानु।
बिन मागे घन देत जल, त्योंही सन्त सुजान।। -(भर्तृ.)

(स) उत्तम पर कारज करे, अपनो काज विसार।
पूरे अन्न जहान को, ता पति भिक्षा धार।।
भले बुरे छोटे बड़े रहें बड़नि पै आय।
मकर असुरसुर गिरिअनल, दधि मधि सकल बनाय।।
बड़े भार ले निरबहैं, तजत न खेद विचारि।
सेस भरा धरि धर धरे, अबलों देत न डारि।।
सन्त कष्ट सह आपही, सुखी राखैं जु समीप।
आप जरै तहु और को, करै उजेरो दीप।।
अमृत भरे तन मन बचन, निशिदिन-जग उपकार।
परगुण मानत मेरु सम, विरले जन संसार।।

आनन्द घनः-

आत्मा चिदानन्दमयोऽविकारवान्देहादि संघाद्वपतिरिक्त ईश्वरः। निरंजनो मुक्त उपाधितः सदा ज्ञात्वैवमात्मानमितो विमुच्यते।।

अर्थः- आत्मा चिदानन्द मय और अधिकारी है इन्द्रियां तथा देह से अलग है, ईश्वर स्वरूप है उपाधि से मुक्त है, निरञ्जन है। इस प्रकार आत्मा को पहिचान कर अधिकारी इस संसार से मुक्त होता है।

तदाचार्य प्रसादेन वाक्यार्थ ज्ञानतः क्षणात्।
देहेंद्रियमनः प्राणाहं कृतिम्यः पृथक् स्थितम्।।

स्वात्मानुभवतः सत्यमानंदात्मानमद्वयम्।
ज्ञात्वा सद्योभवेन्मुक्त सत्यमेव मयोदितम्।।२।।

(अ.रा.)

अर्थः आचार्य की कृपा से जब वेदान्त वाक्यों का क्षण मात्र में ज्ञान प्राप्त होता है तब देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा अहंकार से पृथक् रहे।

अद्वय सत्स्वरूप तथा चिदानंद स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है और इस प्रकार स्वात्मानुभव होने से तत्काल मोक्ष हो जाता है, इस प्रकार मैंने सत्य वस्तु का प्रकाश किया है।

आत्मबोधोपनिषद् में कहा हैः-

सर्व भूतस्थ मेकं नारायणं कारण पुरुषमकारणं परं ब्रह्म शोक मोह विनिुर्मुक्तं विष्णुं ध्यायन्न सीदति। (अर्थात् सर्वभूतों में स्थित एक एकाकार कारणरूप शोक मोहादि से रहित परब्रह्म नारायण विष्णु (गुरु) का ध्यान करने से (मनुष्य) दुःख नहीं पाता।

ऋषयः पितरोदेव, महाभूतामि धातवः।
जङ्गमा-जङ्गमं चेदं जगन्नाराणोद्भवम्।।

- (महाभारत)

अर्थः- ऋषि पितर, देवता, महाभूत, धातुएँ और यह चराचर जगत नारायण से ही उत्पन्न हुआ है।

योगो ज्ञानं तथा सांख्यां, विद्या शिल्पादि कर्मच।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञान मेतत्सर्व जनार्दनात्।।

- (प्र.भा.)

अर्थः- योग ज्ञान तथा सांख्यादि विद्याएँ शिल्पादि कर्म एवं वेद शास्त्र और विज्ञान ये सब श्री जनार्दन से ही हुए हैं।

एको विष्णुर्महदभूतं पृथग्भूतान्य नेकशः।
त्रिंल्लोकान्व्याप्य भूतात्मा, भुङ्क्तेते विश्वभुगव्ययः।।

एकमात्र विष्णु भगवान् ही महत्वरूप हैं वह सर्वभूतात्मा विश्वभोक्ता अविनाशी प्रभु ही तीनों लोकों को व्याप्त कर नाना भूतों को तरह-तरह से भोगते हैं।

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेद्विश्वकर्तारं को न-मुच्येत बंधनात्।।

-(गुरुड़ पु. २३०/४०)

अर्थः- जिस प्रकार मनुष्य धन की इच्छा से धनवान की आदर पूर्वक स्तुति करता है उसी प्रकार यदि विश्वकर्ता की स्तुति करे तो कौन बन्धन से मुक्त नहीं हो जाएगा।

सर्वविद्या नामुपेदृष्टत्वात्सर्वेषां जनकत्वाद्वागुरुत्र

सब विद्याओं के उपदेष्टा होने से तथा सबके जन्मदाता होने से गुरु हैं। - शंकराचार्य

नारायण परो ज्योतिः - नारायण परम ज्योति हैं।

-(ना.उ. १३/१)

लोकत्रयाधिपतिमप्रतिम प्रभावमीषत् प्रणम्य शिरसा प्रभविष्णु भीष्मम्। जन्मान्तरप्रलयकल्प सहस्र जात-माशु प्रणाश मुपवाति नरस्य पापम्।।

- (महाभारत शान्तिपर्व ४७/७१)

तीनों लोकों के स्वामी अनुपम प्रभावशाली तथा अनेक रूप से प्रकट होने वाले भगवान् को सिर झुकाकर थोड़ा सा प्रणाम करने से मनुष्य के हजारों महाकल्पों में जन्म-जन्मान्तरों में किए हुए सम्पूर्ण पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

हरिर्हिनिर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृते परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं, भजन्तिर्गुणो भवेत।।

-(महापुराण)

अर्थः- हरि साक्षात् निर्गुण पुरुष हैं प्रकृति से परे हैं तथा सर्वजनों की दृष्टि का उपद्रष्टा है, इससे उसका भजन करने वाला भी निर्गुण हो जाता है।

हराम्यधं च स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्।
वर्णश्चमेहरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः।।

अर्थः- मैं अपना स्मरण करने वालों के पाप और यज्ञों में हविर्भाग का हरण करता हूँ तथा मेरा अति सुन्दर हरित वर्ण है इसलिए मैं हरि कहलाता हूँ।

- (मा.भा.३४२/६८)

रमन्ते योगिनोयस्मिन् नित्यानंदे चिदात्मनि।
इति राम पदैनैतत्परं ब्रह्माभिधीयते।।

जिस नित्यानंद स्वरूप चिदात्म में योगीजन रमण करते हैं वह परब्रह्म 'राम' इस पद से कहा जाता है।

कृषि भूर्वाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भाव-योगश्च कृष्णो भवति शाश्वत।।

- (महा उद्योग ७०/५)

अर्थः- कृष शब्द सत्ता का वाचक है और 'ण' आनन्द का, श्री विष्णु में ये दोनों भाव हैं इसलिए वे सर्वदा कृष्ण कहलाते हैं, व्यास जी के इस व्याक्यानुसार सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् ही कृष्ण हैं।

शास्येनापि नमस्कारः प्रयुक्तश्चक्रपाणए!
संसार स्थूल बन्धाना मुद्वेजन करोहि सः।।१।।

अर्थः- भगवान् चक्रपाणि को जो शठता (दम्भ) से भी किया हुआ नमस्कार है वह भी निःसन्देह संसार के स्थूल बन्धनों को काटने वाला होता है।

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।

अर्थः- एक देव है जो सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वत्र व्याप्त है, सब जीवों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अध्यक्ष (कर्म फल का विभाग का करने वाला) है सब भूतों का अधिष्ठान है तथा सब का साक्षी, सबको चेतना देने वाला, एकमात्र और निर्गुण है।

''जो सबसे पहले ब्रह्मा को रचता है और फिर उसे वेद प्रदान करता है, आत्मा और बुद्धि के प्रकाश स्वरूप उस देव की मैं मुमुक्षु, शरण लेता हूँ।

यो ब्रह्माणं विक्ष्याति पूर्वं यो वै वेदांसि प्रहि ज्योति तस्मै।
त ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वे शरणम प्रपद्ये।।

(श्वेता. ६/१८)

ऐसा श्वेताश्वतर शाखाके मन्त्रोपनिषद् में कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है ''इस पूर्वोक्त देवता ने ईक्षण किया। वह एक ही अद्वितीय था''।

प्रः- जीवात्मा और परमात्मा में तो भेद है फिर एक ही देव कैसे हो सकता है?

उः- ऐसा मत कहो, क्योंकि 'उसे रच कर उसी में प्रविष्ट हो गया'। 'वह इस (शरीर) में नख से लेकर (शिखा) पर्यंत) अनुप्रविष्ट है इत्यादि श्रुतियों से अविकारी परमात्मा का ही बुद्धि तथा उस की वृत्तियों के साक्षाी रूप से प्रवेश कहे जाने के कारण उनमें अभेद है। यदि कहो कि प्रविष्ट हुओं का तो परस्पर भेद होता है, फिर जीव और परमात्मा की एकता कैसे हो सकती है?

तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि एक ही देव अनेक प्रकार से स्थित है एक होने पर भी अनेक प्रकार से विचार किया जाता है। तुम एक ही अनेकों में अनुप्रविष्ट हो इत्यादि श्रुतियों से एक का ही अनेक प्रकार प्रवेश कहा जाता है। इसलिए प्रविष्ट हुओं में भेद नहीं है।

इसी विषय में 'हिरण्यगर्भ' आदि आठ मंत्र हैं 'कस्मैदेवाय' इस तैत्तरीयक श्रुति में भी एकार का लोप हुआ है अतः यह मंत्र भी एक देव का प्रतिपादक है।

कठोपनिषद् में कहा हैः- जिस प्रकार संसार में व्याप्त हुआ एक ही अग्नि पृथक-पृथक आकारों के संयोग से भिन्न-भिन्न रूप वाला होता है; उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक ही अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपों के अनुरूप और उनके बाहर भी स्थित है, जैसे एक ही विश्वव्यापी वायु भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार तद्रूप हो गया है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपों के संयोग से उनके अनुरूप है और उनसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का नेत्र सूर्य्य दर्शन जन्य बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक अन्तरात्मा; परमेश्वर उन सब के दुखों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वास्तव में वह शरीर से भिन्न है। समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा है जो सब को वश में करने वाला है और अपने एक ही रूप को नान प्रकार के कर लेता है। अपने अन्तःकरण में स्थित उस देव को जो धीर पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है औरों को नहीं। जो नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है तथा जो अकेला ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है उसे जो धीर पुरुष अपने अन्तःकरण में स्थित देखते हैं, उन्हें ही नित्य शान्ति प्राप्त होती है। औरों को नहीं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा हैः- 'प्रथम एकमात्र यह ब्रह्म ही था कि अकेला होने से उसे अपने ऐश्वर्य से तृप्ति न हुई इसके अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं है 'इत्यादि'।

ईशावस्य में कहा हैः- वह एक है चलता नहीं है (तथापि) मन से भी अधिक वेग वाला है। 'एकतत्व देखने वाले को फिर क्या शोक और क्या मोह?' (श्रुति कहती है) पहले यह एक आत्मा ही था और कुछ भी नहीं था। समस्त प्राणियों के भीतर जो पुरुष है वह मेरा आत्मा है-ऐसा जाने। ऋग्वेद का भी कथन है- 'उस आत्मा को ही ब्राह्मण लोग नाना प्रकार से कहते हैं। 'उस एक की ही नाना प्रकार से कल्पना करते हैं।' 'वह एक ही देव पृथ्वी और स्वर्ग को रचता हुआ' 'वह अकेला ही सम्पूर्ण लोकों को धारण किए हुए हैं।' 'अनेक प्रकार से बढ़ाया हुआ अग्नि एक ही है।' छान्दोग्य में भी कहा गया हैः- हे सौम्य 'पहिले यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था'

श्री गीतोपनिषद् में कहा है :- जो पुरुष एकत्व में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझ परमात्मा को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ ही में बर्तता है। पंडित-जन विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डल में भी समान दृष्टि रखने वाले होते हैं।' 'हे अर्जुन! मैं सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरणों में स्थित उन का आत्मा हूँ तथा मैं ही समस्त प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।' जिस समय पुरुष पृथक-पृथक भाव को एक (परमात्मा के संकल्प) में ही स्थित देखता है और उसी से सब भूतों का विस्तार हुआ जानता है उस समय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! जिस प्रकार कि एक ही सूर्य्य इस सम्पूर्ण ब्राह्मणड को प्रकाशित करता है। इसलिए सर्व धर्मों को त्याग कर केवल एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर। 'हे विप्रगण! आप लोगों को सत्त्वगुण में स्थित होकर सर्वदा एकमात्र श्री हरि का ही ध्यान करना चाहिए। आप सदा ओंकार का जप और श्री केशव का ध्यान करें। 'हे पुरुषोत्तम! निश्चय ही सम्पूर्ण देवाताओं में एक आप ही आश्चर्य रूप और धन्य हैं। हे महाबाहो! संसार में (आपके समान) और कोई भी नहीं है। इस प्रकार हरिवंश में कहा है। 'जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि रूप है यह श्रुति मनु का माहात्म्य बतलानेवाली है। और मनुजी कहते हैं-समस्त भूतों में स्थित अपने आत्मा को और समस्त भूतों को अपने आत्मा में देखता हुआ आत्मयज्ञ करने वाला पुरुष स्वराज्य लाभ करता है।'

'वह एक ही जनार्दन भगवान् संसार की रचना, स्थिति और संहार करने वाली ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप तीन संज्ञाओं को प्राप्त होता है।

इसलिए हे द्विज! विज्ञान के सिवा और कोई वस्तु कुछ भी नहीं है। यह एक विज्ञान ही अपने-अपने कर्मों के भेद से विभिन्न चित्त वालों को भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत हो रहा है। वह ज्ञान शुद्ध, निर्मल, शोकहीन और लोभादि सम्पूर्ण सङ्गों से रहित है। वही एक सत्, श्रेष्ठ और परमेश्वर है तथा वही सर्वत्र व्याप्त है-उससे पृथक और कुछ नहीं है।

जब कि समस्त देह में एक ही पुरुष व्याप्त है, तब 'आप कौन हैं?' मैं अमुक हूँ!' कहना व्यर्थ है।

जिस प्रकार (दृष्टि-दोष से) एक ही आकाश श्वेत नील आदि अनेकों भेद वाला दीख पड़ता है उसी प्रकार भ्रान्त दृष्टि पुरुषों को एक ही आत्मा अलग-अलग दिखाई देता है। यहाँ जो कुछ है वह एकअच्युत भगवान् ही है उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वही मैं वही तू है और वह आत्म स्वरूप ही सब कुछ है भेददृष्टि रूप मोह को छोड़! उन (जड़ भरत) के इस प्रकार कहने पर उस परमार्थ दृष्टि वाले नृप श्रेष्ठ (रहुगण) ने भेदभाव को त्याग दिया।

- (विष्णु २/१६/२२-२४)

यमराज ने (अपने दूतों से) कहा थाः- यह सम्पूर्ण संसार और मैं एकमात्र परम पुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं; जिनकी हृदयस्थ अनन्त भगवान् में ऐसी दृढ़ भावना हो गई है, उन्हें तुम दूर से ही छोड़ कर निकल जाया करो।

हे देवगण! पृथिवी ने जो कुछ कहा है वह ठीक ही है, मैं महादेव जी और आप सब भी नारायण स्वरूप ही हैं जो उसकी विभूतियाँ हैं उन्हीं की न्यूनता तथा अधिकता परस्पर बाध्य-बाधक रूप से रहती हैं।

(भगवान् कृष्ण बलराम से कहते हैं।) 'हे विश्वामित्र, आप और मैं दोनों इस संसार में एक ही कारण है। इस संसार के लिए ही हम दोनों भिन्न रूप से स्थित हैं।''

श्रीकृष्णचन्द्रजी महादेवजी से कहते हैं। जो अभय आप ने दिया है वह सब मेरा ही दिया हुआ है। हे शंकर! आप अपने को मुझ से पृथक न देखें। जो मैं हूँ वही आप और देवता असुर तथा मनुष्यों केसहित यह सारा संसार है। जिन पुरुषों का चित्त अविद्या से मोहित हो रहा है वे ही भेदभाव देखने वाले होते हैं।

इस प्रकार विष्णु पुराण में कहा है। भविष्योत्तर पुराण में श्री महादेवजी का बचन है 'जो मनुष्य मुझे अथवा ब्रह्माजी को विष्णु से अलग देखते हैं, वे कुतर्क बुद्धि मूढ़ जन नीचे नरक में गिरकर दुःख भोगते हैं तथा जो दुष्ट बुद्धि मूढ़ लोग मुझे और ब्रह्माजी को विष्णु से पृथक देखते हैं उन्हें उससे ब्रह्म-हत्या के समान पाप लगता है।'

इसी प्रकार 'हरिवंश में कैलाश यात्रा के प्रसंग में महेश्वर का कथन हैः-

''समस्त भावों में आदि, मध्य और अन्त आप ही हैं। उस सम्पूर्ण त्रिलोकी में हम दोनों का शब्द से या अर्थ से, किसी प्रकार भी भेद नहीं है। हे गोविंद! संसार में जो-जो आप के महान् नाम हैं वे ही मेरे भी हैं- इसमें कोई संदेह नहीं हैं। है गोपते! हे जगन्नाथ! जो आप की उपासना है वही मेरी भी हो! हे देव! जो आप से द्वेष करता है इसमें सन्देह नहीं वह मुझ से भी द्वेष करता है। हे देव! क्योंकि मैं भूपति भी आप ही का विस्तार हूँ इसलिए हे सर्वव्यापक देव! ऐसी कहीं कोई वस्तु नहीं है जो आप से रहित हो। जो कुछ था, जो कुछ है और जो जोकुछ होगा हे जगत्पते! हे देवेश्वर! वह सब आप ही है आप से अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह सब वाक्य एकत्व का प्रतिपादन करने वाले हैं।

और भी (परमात्मा को) आत्म स्वरूप से ही प्राप्त होते हैं। और (आत्म स्वरूप से ही) ग्रहण कराते हैं 'इस सूत्र में आत्मा ऐसा कह कर शास्त्रोक्त लक्षण विशिष्ट परमात्मा का ही प्रतिपादन करना अभीष्ट है। तथा जाबाल-शाखा वाले भी परमात्म प्रक्रिया में 'हे भगवान्! हे

देव! तू ही मैं हूँ और मैं ही तू है ऐसा कहकर उसको आत्मस्वरूप से स्वीकार करते हैं तथा 'जो यहाँ है वही अन्यत्र है जो अन्यत्र है वही यहां है' 'जो यह इस पुरुष में है और जो आदित्य में है वह एक ही है', 'तब उसने अपने ही को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ' 'वह सब ब्रह्म अपूर्व, अनन्य, अनन्तर और अबाह्य है यह आत्मा ही ब्रह्म है' 'वह यह महान् अजन्मा आत्मा जरा, मरण, मृत्यु और भय से रहित ब्रह्म ही है', इत्यादि ब्रह्मको आत्म स्वरूप से स्वीकार कराने वाले और भी बहुत से दृष्टान्त ध्यान में रखने योग्य हैं। इनके सिवा ' यह तेरा अन्तर्यामी अमर आत्मा है, जो मन से मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिसके कारण मन का मनन करना कहा जाता है तू उसीको ब्रह्म जान, यह लोग जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है, 'वह सत्य है वही आत्मा है और वही तू है' इत्यादि अन्य वेदान्त वाक्य भी ईश्वर का आत्मभाव से ग्रहण और बोध कराते हैं।

प्र. प्रतिमा में विष्णु दृष्टि करने के समान यह भी प्रतीक दर्शन ही होगा।

उः- ऐसा कहना ठीक नहीं इससे (परमात्मा में) गौणता आ जाएगी और वाक्य का रूप भी बदल जाएगा। जहाँ प्रतीक दृष्टि अभीष्ट होती है। वहाँ केवल एकबार ही कहा जाता है, जैसे -मन ब्रह्म है' 'आदित्य ब्रह्म है', इत्यादि। किन्तु यहाँ तू मैं हूँ और मैं ही तू हैं इस प्रकार (परस्पर अभेद करके) कहा है, अतः प्रतीक श्रुति से विरूपता होने के कारण अभेद की ही प्राप्ति होती है। इस के सिवा भेद दृष्टि की निंदा करने से भी यही सिद्ध होता है जैसा कि साधक अन्य देवता को यह समझ कर उपासना करता है कि यह अन्य है और मैं अन्य हूँ, वह नहीं जानता अतः वह (देवताओं के) पशु के समान हैं 'जो इस लोक में अनेकवत् देखता हूँ वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है' 'जिस प्रकार पर्वत शिखर पर बरसा हुआ जल पर्वतों (पर्वतों के निम्न भागों में) फैल जाता है उसी प्रकार आत्मा धर्मों (देहधारी जीवों) को विभिन्न देखकर उन (उपाधियों) ही का अनुगमन करता है' दूसरे से निश्चय ही भय होता है।' 'जिस समय यह इस (आत्मा) में थोड़ा सा भी अंतर करता है तभी इसे भय होता है ऐसा मानने वाले विद्वान को भी वह (भेद ज्ञान) भयरूप ही है' 'जो सब को आत्मा से भिन्न देखता है उसका सब तिरस्कार कर देते हैं इत्यादि। इसी प्रकार की अनेकों श्रुतियाँ भेद दृष्टि की निंदा करती हैं।

तथा 'यह सब आत्मा ही है' 'आत्मा को जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है।' 'यह जो कुछ है सब आत्मा ही है ' 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुतियाँ (अभेद का प्रतिपादन करती हैं।)।

स्मृति भी कहती हैः- हे पाण्डव! जिसे जान कर फिर तू इस मोह को प्राप्त नहीं होगा औरजिसके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को और मुझको भी अपने आत्मा में देखेगा। अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ईश्वर की, सम्पूर्ण उपनिषदों में प्रसिद्ध एकता देखेगा।

जिसके द्वारा साधक सम्पूर्ण भूतों में एक अविनाशी भाव देखता है और उस (आत्म तत्व) को विभिन्न भूतों में अभिन्न रूप से स्थित जानता है उस ज्ञान को सात्विक जानो। इस प्रकार भगवान ने भी 'अद्वैत आत्म दर्शन ही सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहा है। अतःआत्म स्वरूप ईश्वर में ही मन को स्थिर करना चाहिए।

इसके सिवा आप भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा आत्मा और परमात्मा है, इस प्रकार आप अकेले ही पाँच प्रकार से स्थित है।' 'तथा हे अर्जुन! इन सबके बहुत जानने से तुम्हें क्या प्रयोजन है? मैं अपने एक अंश से ही सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ। इत्यादि (स्मृतियाँ भी यही बतलाती हैं।)

अविद्यारूप उपाधि के सम्बन्ध में भी यह प्रमाणवाद है। एक ही महान आत्मा है, वही अहंकार कहा जाता है और उसे ही तत्त्व ज्ञानी लोग जीव या अन्तरात्मा कहकर वर्णन कहते हैं।

तथा विष्णुपुराण में कहा हैः-

विभेद जनक अज्ञान के आत्यन्तिक नाश को प्राप्त हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म का भेद सर्वथा असत्य है, कौन करेगा?

'हे राजन्! आत्मा और परमात्मा का विभाग अज्ञान कल्पित ही है, उस (अज्ञान) के नष्ट हो जाने पर जीव और ब्रह्म का विभाग अभाग रूप ही है।'

विष्णु धर्म में कहा हैः- 'जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि या धुएँमें व्याप्त हो जाने पर उससे दूरवर्ती अन्य घटाकाश कहीं किसी समय मलिन नहीं होते, उसी प्रकार अनेक द्वन्दों से एक जीव के मलिन हो जाने पर अन्य जीव कभी मलिन नहीं हो सकते।'

ब्रह्म याज्ञवल्क्य में कहा हैः- जिस प्रकार एक ही आकाश घट आदि उपाधियों में पृथक-पृथक प्रतीत होता है, उसी प्रकार जल के पात्रों में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान एक ही आत्मा अनेक उपाधियों में अनेक सा जान पड़ता है।

श्वेताश्वतर में कहा हैः- क्षर (जड़वर्ग) और आत्मा (चेतन) इन दोनों का एक ही देव शासन करता है। 'छान्दोग्योपनिषद् का कथन है 'वह एक ही प्रकार है' इत्यादि श्रुति कहती है, वह वहाँ सब और व्याप्त है, वह इन दिव्य-नेत्रों से मन ही के द्वारा इन भोगों को देखता हुआ रमण करता है।' 'अवकिारी परमात्मा ही यह अपना आत्मा रूप जीव है,' तथा 'वहीं यह इसमें अनुप्रविष्ट है, ऐसी वृहदारणयक श्रुति भी है। इसके सिवा 'वह आत्मा है इस प्रकार ही उपासना करे, 'वह यह ब्रह्म अपूर्व है।' (इस आत्मा के सिवा) कोई अन्य द्रष्टा या अन्य विज्ञाता

नहीं है।' 'यह जो विज्ञान मय है वही महान् अज आत्मा है तथा जो अन्य देवता की उपासना करता है यह सब इसी का रूप है', इत्यादि और श्रुतियाँ भी हैं।

योगी याज्ञवल्क्य का वचन हैः- जिस प्रकार तपाए हुए लोहे से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार आत्मा से अनेकों जगत प्रकट होते हैं।'

ब्रह्म पुराण में कहा है 'वह अजन्मा ही शरीर ग्रहण करने के कारण जात (जन्मा हुआ) कहा जाता है।

(इस के सिवा) 'जिस प्रकार रात्रि के समय पर घर में पड़ा हुआ रस्सी का टुकड़ा सर्प के समान प्रतीत होता है तथा तिमिर रोग से पीड़ित नेत्रों वाले को आकाशमें एक ही चन्द्रमा दो -जैसा जान पड़ता है, उसी प्रकार एक ही नित्योदित स्वयं ज्योति सर्वगामी परम पुरुष परमात्मा समस्त उपाधियों में उपस्थित होकर भास रहा है वह अहंकार रूप अविवेक के कारण ही 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है; तथा इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा के साथ मिलकर हे सौम्य! उस समय वह सत् से युक्त हो जाता है इत्यादि एवं श्रीहरि अपनी माया से अपने को मोहित कर द्वैत रूप माया के कारण अपने को गुणयुक्त अनुभव करते हैं। तथा 'क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान उठते अथवा स्थित होते हुए' 'ज्ञान अज्ञान से ढंका हुआ है' अव्यक्त से विशेष (पञ्चभूत) पर्यंत मब अविद्या रूप ही माना गया है। 'यह सब अन्धकार मय था' 'वाणी का विलास मात्र है।' जहाँ द्वैत के समान होता है, वही अन्य अन्य को देखता है,' 'जहाँ इसके लिए सब आत्म स्वरूप ही हो गया, वहाँ किससे किसको देखे और किससे किसको सूँघे? जिस अवस्था में सब भूत आत्म स्वरूप ही हो जाते हैं वहाँ एकत्व देखने वाले उस ज्ञानी को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है?' 'जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता और न अन्य कुछ जानता ही है।' 'यह भेद अज्ञान ही के कारण है, यहाँ नाना कुछ भी नहीं है, इस लोक में जो अनेकवत् देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है,' 'सब और चक्षु वाला है जो योनि (मूल) स्थित है वह एक ही सम्पूर्ण रूप और योनियाँ हैं' 'अपने ही समान बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित श्वेत और कृष्ण वर्ण अजा को सेवन करने वाला एक अज उस का अनुगमन करता है और दूसरा उसे भोग कर त्याग देता है, 'देवात्म-शक्ति को धारण किया (सुषुप्ति में) उससे दूसरा (बुद्धि रूप प्रभात) अन्य (इन्द्रिय रूप कारण) अथवा पृथक् (विषय) कोई नहीं है, जिसे वह देखें एक ही रुद्र था' दूसरा कोई नहीं'। इत्यादि।

तथा गौडपादकारिका में भी कहा है 'यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मन का ही दृश्य है। मन का अमनी भाव हो जाने पर द्वैत उपलब्ध ही नहीं होता।' इसमें सन्देह नहीं प्रपञ्च यदि होता तो अवश्य निवृत्त हो सकता था, किन्तु द्वैत केवल माया मात्र है परमार्थतः तो अद्वैत ही

है। 'जिस प्रकार स्वप्न में मन, माया से ही अद्वैत का स्फुरण करता है, उसी प्रकार मायावश मन ही जाग्रति में द्वैत का स्फुरण करता है।' इत्यादि।

तथा स्वप्नादि विषयों के समान सम्पूर्ण भूत दृश्य रूप हैं, इसलिए तर्क से भी प्रपञ्च की मनो मात्रता ही जानो। 'दूसरे से निश्चय ही भय होता है।' 'आत्मा को जान लेने पर यह आत्मा की कार्य कारणता नहीं रहती' 'एक ही देव सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ है'। 'यह पुरुष असंग ही है आदि।

विष्णुपुराण में भी कहा हैः- यह सम्पूर्ण जगत सर्व भूत विष्णु का ही विस्तार है। अतः विलक्षण पुरुषों को इसे आत्मा के समान अभेद रूप से देखना चाहिए। हे दैत्यगण! तुम सर्वत्र समता को प्राप्त हो, क्योंकि समता ही श्री अच्युत की आराधना है। हे तात, सर्वभूतमय विश्वरूप परमात्मा जगदीश्वर श्री गोविंद में शत्रु मित्र की बात ही कहाँ है?

'तथा तू वह है मैं ब्रह्म हूँ यह जो कुछ है सब आत्मा है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है' एवं 'एकत्व देखने वाले को क्या मोह और क्या शोक?' इत्यादि श्रुति, स्मृति, इतिहास और लोकोक्तियों से भी (यही बात सिद्ध होती है) सिद्ध अर्थ (ब्रह्म) में भी वेद का प्रमाण मानना चाहिए यथाः-

यदि स्वपंथ और साधनों से (प्रभाकर मतावलम्बी) अर्थसमूह को अकार्य (क्रिया के अयोग्य) बतलाता है तो दूसरे लोग श्रुति को परमात्मा का ज्ञान कराने वाली क्यों न मानें? ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों का कथन है।

पदों का सामर्थ्य अन्यान्वितस्वार्थ (अन्य पद से युक्त अपने अर्थ) में है, कार्यान्वितस्वार्थ (कार्य से युक्त अपने अर्थ) में नहीं, यदि ऐसा हो तो अर्थवादों (प्रशंसा वाक्यों) का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि उनकी अन्वय बुद्धि स्तुतिरूप ही है। जैसे धन की इच्छा वाला वायु सम्बन्धी श्वेत पशु का आलम्बन करें। वायु निश्चय ही शीघ्र फल देने वाला देवता है इस वाक्य में (कार्यता का बोध) नहीं होता इस प्रकार (स्वर्गादिक विषयक) रागही (यागादि में) प्रवर्तक होता है, कार्य नहीं।

श्रुति भी कहती हैः- 'कहा भी है यह पुरुष कामनामय है।' यह जैसी कामना वाला होता है वैसा ही संकल्प करता है वैसा ही कर्म करता है, उसी को प्राप्त हो जाता है।

तथा स्मृति भी कहती हैः- इस लोक में बिना कामना के किसी का कर्म नहीं देखा जाता जो-जो भी कर्म किया जाता है सब कामना ही की चेष्टा होती है। तथा यह काम है, क्रोध है इत्यादि। अतः अन्य विषय सम्बन्धी मन्त्र और अर्थवादों की भी प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि उन्हें अप्रामाणिक कहने से नहुष सर्प योनि को प्राप्त हुआ था सो, किस प्रकार

(सुनिए)- दुरात्मा नहुष द्वारा शिविका उठाने में नियुक्त किए हुए निर्मल-स्वभाव महाभाग ऋषि, ब्रह्मर्षि और देवर्षियों ने थक जाने पर पापी नहुष से यह शङ्का की 'हे इन्द्र! ब्रह्माजी ने गौओं का प्रोक्षण करने के लिए जो मंत्र कहे हैं, आप उन्हें प्रामाणित मानते हैं या नहीं? मूढ़ बुद्धि नहुष उन से सहसा कह उठा 'नहीं'।

ऋषियों ने कहाः- तू अधर्म में प्रवृत्त हो रहा है और धर्म को त्यागना चाहता है। पूर्वकाल में महर्षियों ने हमें वे मंत्र प्रामाणिक बतलाए हैं।

अगस्त्य जी बोले "तब राजा नहुष ने ऋषियों के साथ विवाद करते हुए अधर्मातुर हो,मेरे शिर का पांव से स्पर्श किया। हे इन्द्र इससे वह नष्ट बुद्धि और श्रीहीन हो गया। उस समय मैंने भयातुर और उद्विग्न चित नहुष से कहा रे-मूढ़। तूने पूर्वकाल में महर्षियों द्वारा बनाए और पालन किए निर्दोष मार्ग को दूषित किया है, मेरे सिर को पैर लगाया है और जिनका मिलना अत्यन्त कठिन है, उन ब्रह्मतुल्य महर्षियों को वाहक बनाकर अपराध के कारण तू निस्तेज होकर सर्परूप धारण कर दश सहस्त्र वर्ष तक पृथिवी पर विचरेगा और फिर शाप मुक्त होकर पुनः स्वर्ग प्राप्त करेगा।" ऐसा महाभारत में कहा है।

अतः आत्मज्ञान में श्रद्धा करनी चाहिए। श्री भगवान का भी कथन है। 'हे शत्रु दमन! इस र्म में अश्रद्धा करने वाले पुरुष मुझे न पाकर मृत्युरूप, संसार मार्ग में लौट आते हैं। ऐतरेयक ते में भी कहा है 'यही मार्ग है, यही कर्महै, यही ब्रह्म है, यही सत्य है, अतः इससे प्रमाद न करें, इसका त्याग न करें, जिन्होंने पहले इसका त्याग किया था वे पराभव को प्राप्त हुए।

वेद मंत्र भी कहता हैः- 'तीन प्रसिद्ध प्रजाओं ने धर्म का त्याग किया था अन्य प्रजा सब प्रकार अर्क (अर्चनीय अग्नि) की उपासना में तत्पर हुई कुछ सकल भुवनों में महान् सूर्य्य की उपासना करने लगी। जगत् को पवित्र करने वाला वायु सब दिशाओं में प्रविष्ट हुआ। (कुछ उसकी उपासना करने लगी) तीन प्रसिद्ध प्रजाओं ने धर्म त्याग किया। जिन तीन प्रजाओं ने धर्म का त्याग किया था वे पक्षी, वङ्ग, बगध और उरपाद हैं, ऐसी श्रुति है। वङ्ग बन के वृक्ष हैं, बगध औषधियाँ हैं और उरपाद उर (हृदय) ही जिनके पाद हैं सर्पादि हैं।'

तथा ईशावास्योपनिषद् में अविद्वान की निन्दा विषयक यह मन्त्र है 'वे असुर्य नामक लोक घोर अंधकार से व्याप्त है, जो कोई आत्मघाती पुरुष होते हैं, वे मरने पर उन्हीं लोकों को प्राप्त होते हैं।' तैत्तरीय उपनिषद् में कहा है-ब्रह्म असत्यहै, यदि ऐसा जानता है तो वह (जानने वाला) असत् ही हो जाता है। तथा शकुन्तलोपाख्यान का वचन है-'जो अन्य प्रकार से स्थित अपने आत्मा को अन्य प्रकार जानता है उस आत्माघाती चोर ने कौन पाप नहीं किया? अस्तु! अब अधिक प्रसंग बढ़ाने की आवश्यकता नहीं।

अब सहस्रनाम जप के अनुरूप मानसस्नान का वर्णन किया जाता है। 'जिस में देवता और वेद, पूर्ण एकता को प्राप्त हो गए हैं उस परम पवित्र मानस-तीर्थ को जाय और उसमें स्नान कर अमर हो जाय जो मनुष्य मानस-तीर्थ में ज्ञान सरोवर के भीतर राग-द्वेष रूप मल को दूर करनेवाले ध्यान रूप जल में स्नान करता है, वह परमगति प्राप्त करता है। सरस्वती रजोमयी हैं, यमुना तमोमयी और गङ्गा जी सत्त्व स्वरूपा हैं, अतः वे निर्गुण ब्रह्म तक नहीं जा सकतीं। आत्मा नदी है वह संयम रूप जल से भरी हुई है, सत्य उसका हृदय (जल प्रवाह), शील तट है और दया तरङ्ग है। हे पाण्डुपुत्र! उसमें स्नान करो, जल से अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसा महाभारत में कहा है।

स्मृति का कथन हैः- श्री विष्णु भगवान् का चिन्तन मानसिक स्नान है।

मनुजी कहते हैंः- इसमें सन्देह नहीं ब्राह्मण कोई और कर्म करे या न करे, केवल जप से ही शुद्ध हो जाता है। अतः ब्राह्मण मैत्र (सबका मित्र) कहा जाता है।

(इसके सिवा) जप सम्पूर्ण धर्मों में श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि जप-यज्ञ प्राणियों की हिंसा के बिना सम्पन्न हो जाता है। इत्यादि तथा गीता के यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ' आदि एवं अपवित्र हो अथवा पवित्र सभी अवस्थाओं में स्थित हुआ भी जो श्री कमलनयन भगवान् का स्मरण करता है वह बाहर-भीतर से पवित्र हो जाता है। इत्यादि (बचन भी जप यज्ञ का महत्त्व बतलाते हैं।)।।

आत्मानं विष्णुं ध्यात्वाऽर्चनस्तुति नमस्कारादि कर्तव्यम्।

- (जगद्‌गुरु शंकराचार्य)

अर्थात् :- ये पूजा स्तुति और नमस्कारादि विष्णु भगवान् को आत्मरूप से चिन्तन करके करने चाहिए।

महाभारत कर्म कांड में कहा हैः-

"ना विष्णुः कीर्त्तयेद्विष्णुं ना विष्णुर्विष्णुमर्चयेत्।
ना विष्णुः संस्मरेद्विष्णुं ना विष्णुर्विष्णु माप्नुयात्।।

अर्थात्ः- 'बिना विष्णुरूप हुए विष्णु का कीर्तन न करे, बिना विष्णु हुए विष्णु का पूजन न करे, बिना विष्णु हुए विष्णु का स्मरण न करे और न बिना विष्णु हुए विष्णु को प्राप्त हो।

विष्णु धर्म (३/१२३/१३) में कहा है :- हे अनघ! ये सब नाम परब्रह्म के ही हैं।' भक्त जिस वस्तु की इच्छा करता है, निःसंदेह उसी को प्राप्त कर लेता है। उन जगद्‌गुरु की आराधना करने से सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। हे दालभ्य! मनुष्य गोविन्द को तन्मयता से ही प्राप्त कर सकता है, जो पुरुष तन्मय हो जाता है। वह अपनी इच्छित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता

है। इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है।

श्री भगवद्गीता (६/३१) में कहा हैः- जो पुरुष एकत्व में स्थित होकर समस्त भूतों में स्थित मुझ परमात्मा का भजन करता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ ही में वर्तता है।

विष्णु पुराण का कथन हैः- मैं श्री हरि हूँ, यह समस्त संसार जनार्दन ही है, उस (परमात्मा) से अतिरिक्ति ओर कोई कार्य कारणादि नहीं है- जिसका ऐसा चित्त है उसे फिर जन्मादि से होने वाली द्वन्दरूप व्याधियाँ नहीं होतीं।

(-विष्णु पुराण १/२२/८९)

स्मृति कहती हैंः- जहाँ गुरु का अपवाद या निन्दा होती हो वहाँ कान मूँद लेने चाहिए अथवा वहाँ से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए।

(३/२३३/९२)

''तस्माद् ब्रह्मैवाचार्य स्वरूपेणाव तिष्ठते।''

भाव यह है किः- अतः ब्रह्म ही आचार्य रूप से स्थित है।

अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला से भीतर रहना अच्छा है। किंतु श्रीहरि चिंतन विमुख लोगों के साथ रहने का सुख अच्छा नहीं। कात्यायनजी के इस वाक्य से भी यही तात्पर्य निकलताहै कि जहाँ भी वासुदेव की निन्दा होती हो वहाँ नहीं रहना चाहिए।

जिसकी भगवान् में अत्यन्त भक्ति है और भगवान् के समान ही गुरु में भी है, उस महात्मा को ही इन ऊपर कहे हुए ग्रंथों का प्रकाश होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस (६/२३) मंत्र से भी यही सिद्ध होता है कि श्री हरि और गुरु में पराभक्ति करनी चाहिए। (आचार्यभाष्य।)

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति व याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।''

(बा.रा ६/१८/३३)

अर्थः- ''जो एक बार भी मेरे पास आकर ''मैं तुम्हारा हूँ'' ऐसा कहकर शरण माँगता है उसे मैं सब प्राणियों से अभय कर देता हूँ- यह मेरा व्रत है।''

(स) ''वेदान्तगोब्राह्मण'' - (वि.स.)

इत्यादि श्लोक पर श्रीआचार्य भगवान् ने जो भाष्य किया है उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हैः-

जो वेदान्तों- उपनिषदों के अर्थ ब्रह्म को जानताहै उसे वेदान्तग कहते हैं।

'किसका जप करने से जीव जन्म मरणरूप संसार से मुक्त हो सकता है।' इस कथन के अनुसार जप रूप कर्म से साक्षात् मोक्ष होने की शंका होने पर 'कर्मों की मोक्ष में साक्षात कारणता नहीं है, मोक्ष ज्ञान से ही होता है।'

यह दिखलाने के लिए 'ब्राह्मण वेदान्त का ज्ञाता हो जाता है' ऐसा कहा है। कर्म तो अन्तःकरण की शुद्धि-द्वारा ही मोक्ष के हेतु होते हैं।

'वासनाओं का पकना ही कर्म है और ज्ञान परम गति है। कर्म के द्वारा वासनाओं के जीर्ण हो जाने पर फिर ज्ञान होता है।

'नित्यज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य बन्धन मुक्त हो जाता है।'

'धर्म से सुख और ज्ञान होता है तथा ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

'योगीजन आसक्ति त्यागकर चित्त शुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं

(गीता ५/११)

'जीव कर्म से बंधता है और विद्या से ही मुक्त हो जाता है, इसलिए पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते।' - (ब्रह्म. १२९/७)

'श्रेष्ठ ब्राह्मण को उचित है कि विहित कर्मों को भी त्याग कर आत्म ज्ञान, शम और वेदाभ्यास में यत्नशील हो।' - (मनु १२/६२)

'(मनुष्य) तप से पाप नष्ट करता है और विद्या से अमृत प्राप्त करता है।'

'पाप कर्म के क्षीण हो जाने पर पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय वह स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिंब के समान अपने आत्मा में आत्मा को देखता है।' (गरुड़ १/२३७/६) इत्यादि स्मृतियों से तथा 'इस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदानु वचन से, यज्ञ से, दान से, तप से और अनशन के जानने की इच्छा करते हैं। (बृ.उ.४४/२२)

''और मनुष्य जिस किसी भी वस्तु से अथवा दर्वि होम से यजन करे, किन्तु इससे उसका मन ही शुद्ध होता है। इत्यादि श्रुतियों से भी कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के ही हेतु सिद्ध होते हैं।

मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है, ज्ञान से ही केवल्य प्राप्त होता है उससे मुक्त हो जाता है।

'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' - (ते.उ.२/१)

'तरति शोकमात्मवित्' - (छा. उ. ७/१/३)

'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' - (मु. उ.३/२/९)

'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' - (वृ.उ. ४/४/६)

'ब्रह्म को जानने वाला परमपद को प्राप्त कर लेता है।'

आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है।'

'जो ब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है।

'ब्रह्म हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है।'

'उसे जानकर ही मृत्यु को पार करता है, मोक्ष के लिए कोई और मार्ग नहीं है।
- (श्वे. उ. ६/१५)

ब्रह्मानंद को जानने वाला किसी से भी भय नहीं मानता।'

यदि उसे यहाँ जान लिया तब तो ठीक है और यदि नहीं जाना तो बहुत बड़ी हानि है।
- (के.उ. २/५)

'जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगें, तब देवको बिना जाने भी दुःख । अन्त हो जाएगा' - (श्वे.उ. ६/२०)

'अमृतत्व कर्म से, प्रजा से या धन से प्राप्त नहीं होता, वह तो एक त्याग से ही प्राप्त होता है।' - (कै. उ. १/३)

'वेदान्त-विज्ञान से जिन्होंने अर्थ का निश्चय कर लिया है तथा जो सन्यास योग सेशुद्ध चित्त हो गए हैं, वे सभी यति जन प्रलय के समय ब्रह्मलोक में परम अमृत होकर मुक्त हो जाते हैं। (के. उ. १/४) इत्यादि श्रुतियों से यही बात सिद्ध होती है।

ॐ

विक्षेप

'विक्षेप' नाम चित्त की चंचलता का है। जिसका चित्त वेदान्त श्रवण आदिक विषे, किंवा-महावाक्य के अर्थ रूप स्व स्व-रूपे विषे स्थित नहीं होता, किन्तु अन्य विषयों में भ्रमता रहता है, उसका चित्त चंचल है, इसीसे वह पुरुष विक्षेप दोष से युक्त है, यह जान लेना।

१. इससे उसको ईश्वर नाम का, वा-अजपा मंत्र का उच्चारण और ईश्वर-गुरु मूर्ति का ध्यान, किंवा-निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन, इनसे आदि लेके उपासना कर्तव्य है, क्योंकि उपासना से चित्त की एकाग्रता होकर विक्षेप दोष की निवृत्ति होती है।

२.अथवा शरीर, वाणी मन और धन द्वारा जो ईश्वर बुद्धि से अलंपट गुरु [1] सेवा है, उस सेवा के प्रताप से कर्म उपासना बिना ही चित्त की शुद्धि और एकाग्रता होती है। इसका यह रहस्य है कि-ईश्वर की सेवा से पुण्य की उत्पत्ति द्वारा अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है और ईश्वर बुद्धि से करी जो गुरु सेवा उससे उक्त अष्दृष्ट फल की प्राप्ति और गुरु की प्रसन्नता द्वारा उपदेश रूप दृष्ट (प्रत्यक्ष) फल की प्राप्ति होती है। सो सेवा-तन, मन, वाणी और धन के अर्पण से होती है। गुरु की आज्ञा का पालन 'तन अर्पण' है। गुरु विषे ईश्वर भाव और उनकी मूर्ति का ध्यान 'मन अर्पण' है। गुरुदेव की स्तुति करना और निन्दा न करना, सो 'वाणी अर्पण' है, गृहस्थ गुरु को समग्र धन का अर्पण वा त्यागी गुरु की प्राप्ति के निमित सर्व का त्याग 'धन-अर्पण' है। कोई दयालु गुरु उक्त सेवा के बिना ही प्रसन्न होकर उपदेश कर देवे- शरण में अङ्गीकार कर लेवे तो भी शुद्ध चित्त वाले अधिकारी का कल्याण होवे है। इसमें तन, धन और वाणी के अर्पण द्वारा जो गुरु सेवा है, तिससे मल दोष की निवृत्ति होती है। और मन अर्पण कर जो सेवा है उससे विक्षेप दोष की निवृत्ति होती हे।

(वेदान्त बाल बोधनी)

ॐ

आरती नं. ४

जीव भाव

ॐ अचलं गुरु देवं।
ॐ[1] अचलं गुरुदेवं। गुप्त प्रगट परिपूरण[2]
गुप्त प्रगट परिपूरण, श्री नित्यानन्दं।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव ।।टेक।।

भावार्थः- हे प्रणव परमात्मा-स्वरूप गुरुदेव! आप अचल हैं। हे गुरुदेव! निश्चय करके आप अचल हैं! आप अन्तर बाहिर परिपूर्ण हैं! निश्चय करके आप सर्वत्र परिपूर्ण हैं! सर्वसिद्धि सम्पन्न, नित्य-आनन्द-स्वरूप हैं! (मुझे कृपा करके अचल बनाइए-विक्षेप रहित कीजिए)

हे गुरुदेव! आप की जय हो! जय हो! जय हो! (टेक)

---

१ (अ) ॐ=प्रणवोह्यपरंब्रह्म, प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यो, ह्येष परः प्रणवोऽव्ययः।।
-(श्रुतिः)

अर्थातः- प्रणव ही परब्रह्म, प्रणव ही परम जाप्य, अपूर्व, सर्वत्र परिपूर्ण और अविनाशी है।

(ब) प्रणवो वाचकस्तस्य, शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादिशब्दानां, प्रणवो हि परः स्मृतः।।
- (शिवपुराण)

अर्थातः- परम कल्याण रूप परमात्मा का वाचक ॐ ही है,और यह ॐकार शिव रुद्र इत्यादि सारे नामों से श्रेष्ठ हैं। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि महाराज ने लिखा है 'तस्य वाचकः प्रणवः' अर्थात्- उस परम ब्रह्म का नाम ॐ ही है। इसी भांति योगी याज्ञवल्क्य जी याज्ञवल्क्यसंहिता में लिखते हैं- ''तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति'' अर्थात्-ॐकार नाम से स्मरण करने पर भगवान् प्रसन्न होते हैं।

ॐकार की उपासनाः-

ओमिति ब्रह्म, ओमितीद्ँसर्वम, ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति ओमितिसामानि गायन्ति। ओँशोयिति शास्त्राणि शँसन्ति ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रति गृणाति। ओमिति ब्रह्माप्रसौति। ओमित्याग्निहोत्रमनु जानाति। ओमिति ब्राह्मण प्रयक्ष्यन्नाह ब्रह्मो पाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति। - (तैतिरीय ८-१)

शब्दार्थः- ॐकार यह ब्रह्म रूप है ॐकार यह सर्व रूप है ॐकार यह वास्तव में अनुज्ञा अनुकरण रूप है अग्निध्र! बलिदान देते समय देवों को ॐकार सुनाना तब यज्ञ में रहते हुए दूसरे ऋत्विज्ञ ॐकार देवों को श्रवण कराते हैं। ॐकार ऐसा कह कर सामवेद के सूक्तों का गान किया जाता है, ॐकार शोम् (सुख) ऐसा कहकर स्तुति वाले मंत्र रूपी शास्त्र अर्थात् गीति रहित ऋचाएँ कहने में आती हैं, ॐकार की सहायता से अध्वर्यु होता के प्रति हृदयगत हर्ष को प्रणव द्वारा प्रदर्शित करता है। ॐकार से ब्रह्म आज्ञा करता है। ॐकार द्वारा यजमान देवों को हवि होमने केलिए ऋत्विजों को प्रोक्षणादि की आज्ञा देता है, ब्राह्मण जब वेद का अध्ययन करते हैं तब प्रथम ॐकार से शुरू करते हैं ब्रह्म को परमात्मा को मैं प्राप्त होऊं ऐसी इच्छावाला ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

(ब) अदृष्ट विग्रहो देवो भावग्राह्यो मनो यमः तस्योङ्कार स्मृतो नाम तेना हूतः प्रसीदति।

(महर्षि याज्ञवल्क्य)

अर्थातः- ईश्वर अदृष्ट विग्रह-निराकर भावग्राह्य मनोमय है। इसलिए उसका ॐकार नाम है सलिए उसका स्मरण करने से वह प्रसन्न होता है। वैसे ही भगवान् वसिष्ठ का कहना है किः-

ॐ मुच्चारण संविति वेदनाञ्च प्रपश्यति
यत्करोति मनोराज्यं, भवत्याशुसतन्मयः।।

अर्थातः- ॐके उच्चारण संविति वेदन से जो कुछ मनोराज्य विचार श्रेणी होती है, उसमें तन्मयता हो जाती है। प्रणव का उच्चारण कैसे करना, इसके संबंध में भगवान् वसिष्ठ कहते हैं कि-

ॐ कारमकरोन्तार स्वरमूर्ध्वगत ध्वनिम्।
सूत्र्यागादतलांगूलं घण्टा कुण्डमिवारवम्।।

अर्थातः- जैसे घण्टा के अन्दर के लुम्बक को रस्सी बांधकर हिलाने से गूँजने की आवाज होती है, वैसे ही ॐ का उच्चारण परा से करके मुख में अर्थात्-वैखरी में उसका गुंजारव करके ॐकार का रटन करना चाहिए।

ॐकार- स्वरूप वर्णन तथा महत्वः-शिवजी कहते हैं धर्म और अधर्म से विलक्षण कार्य और कारण से भी परे भूत और भविष्यकाल से भी परे जिसको मैं कहता हूँ सो तू सन।।९।।

जिस वस्तु को वेद और सब शास्त्र वर्णन करते हैं, जो सम्पूर्ण उपनिषदों में से सार ग्रहण किया है जैसे दही में से घृत॥१०॥ जिसकी इच्छा करके मुनिजन ब्रह्मचर्य धारण करते हैं वह अकार उकार मकारात्मक हमारा पद है। सो हे रामचन्द्र! मैं तुम से संक्षेप से वर्णन करता हूँ॥११॥ यही अक्षर परब्रह्म सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म है, इसी अक्षर ब्रह्म के जानने से ब्रह्मलोक प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है॥१२॥ यही उत्तम आधार है, यही उत्तम तारक है इसको जानकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है॥१३॥ जो वेदरूपी धेनुओं में श्रेष्ठ है, ऐसा वेदान्त प्रतिपादन करता है, यही मोक्ष का धारण करने वाला तथा संसार-सागर का सेतु है॥१४॥ वह वस्तु क्या है? अब उसका वर्णन करते हैं- वह मेघ से आच्छादित हुए कोश अर्थात् हृदयाकाश में जो ब्रह्म है, उसे ॐकार कहते हैं। वही पर परम मंत्र है और उसी में सब लोक निवास करते हैं। उसकी चार मात्रा है- अकार, उकार, मकार और अंत की कारण रूप आधी मात्रा है। पहिन्ली अकार रूप मात्रा में भूलोंक, ऋग्वेद, ब्रह्मदेव, आठ वसु, गार्हपत्य-अग्नि, गंगा नदी, गायत्री छन्द, प्रातःसवन ये आठ देव निवास करते हैं॥१५॥१६॥ दूसरी उकार मात्रा में भुवर्लोक; विष्णु, रुद्र, अनुष्टुप छन्द यजुर्वेद, यमुना नदी, दक्षिणाग्नि माध्यन्दिन सवन ये देवता निवास करते हैं॥१७॥ तीसरी मकार मात्रा में सर्वलोक सामवेद, आदित्य, महेश्वर, आहवानीयाग्नि, जगती छंद और सरस्वती नदी और अथर्ववेद, तृतीय सवन ये निवास करते हैं और जो चौथी मात्रा है, वह सोम लोकगा, अथर्वांगिरस गाता सवर्तक अग्नि महर्लोक, विराट् और आवसथ्य अग्नि-शुतुद्रु नदी और यज्ञ पुच्छ ये देवता निवास करते हैं। "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत-एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यत्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद" अर्थात्:- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था से परे अमात्रिक तुरीया अवस्था रूप आत्मा ही है, यह वाचक-वाच्य रूप वाणी का मूल अज्ञान है, दूर करने से व्यवहार के अयोग्य है तथा प्रपञ्च रहित शिव स्वरूप और अद्वैत है। यह उच्चारण किया हुआ ॐ आत्मा ही है, ऐसा जो जानता है वह अपने आत्मा से परमात्म रूप आत्मा में प्रवेश करता है। और जन्म के कारणों का लय कर फिर उत्पन्न नहीं होता है॥१८॥१९॥२०॥

पहली मात्रा रक्त वर्ण, दूसरी भास्कर प्रकाश युक्त वर्ण तीसरी बिजली के वर्ण की तथा चौथी मात्रा शुभ्रवर्ण है॥२१। जंगमात्मक अनेक प्रकार का यह जगत ॐकार में ही प्रतिष्ठित है॥२२॥ भूत भविष्य रूप यह संसार रुद्र रूप ही है और रुद्र में प्राण और उसमें भी ॐकार स्थित है। तात्पर्य यह है कि शिव और ॐकार एक स्वरूप है॥२३॥ वह शिवरूप सनातन ब्रह्म ॐकार में ही वर्तमान है इस कारण ॐकार का जपने हारा निस्सन्देह मुक्त हो जाता है॥२४॥

- (शिव गीता)

ॐ मुनि वसिष्ठ सनकादिक, याज्ञवलक आदि,
ॐ याज्ञवलक आदि। श्रेय पद लख निज गूढ़,
ॐ श्रेय पद लख निज गूढ़, शिरोमणि हुए ज्ञानी।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।१।।

भावार्थः- हे सद्‌गुरु देव! मुनि वसिष्ठ जी, सनक (सनन्दन, सनातन,सनत्कुमार) तथा-याज्ञवल्क्य आदि मुनिगण आपके गहन रहस्यमय श्रेय पद को देख (जानकर) ज्ञानियों में शिरोमणि हुए हैं, निश्चय करके शिरोमणि हुए हैं।

हे प्रणवरूप गुरुदेव! आप की जय हो! जय हो! जय हो!

---

२. श्रीगुरु तुम पूरण सकल, अद्वय आतम राम।
आदि अन्त मध एक हो, स्वयं ब्रह्म सुख धाम।।१।।
- (प्रकीर्ण)

ॐकार प्रौढ़ मूलः क्रमपद सहित
छन्द विस्तीर्ण शाखाः।
ऋक पत्र सामपुष्पो यजुरधिकफलोऽ-
थर्वगन्धंदधान।।
यज्ञश्छाया समेतो द्विज मधुप गणैः
सेव्यामानः प्रभाते।
मध्ये सायं त्रिकालं सु चरित चरितः
पातु नो वेदवृक्षः।।१।।

ॐ गुरु से बढ़कर शिष्य, नहीं कोई जग मांही
ॐ नहिं कोई जग मांही। गुरु बिन मोक्ष न होय[३]
ॐ गुरु बिन मोक्ष न होय। निगमागम गाई।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।२।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! संसार में (मुझ) शिष्य के लिए (आप) गुरु से बढ़कर कोई नहीं है। निश्चय करके आप गुरुदेव से बढ़कर कोई नहीं है। वेद शास्त्र सब यही कहते हैं कि गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती- निश्चय करके गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।।२।।

हे प्रणवरूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!

---

(३) गुरुः- भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने बालसखा प्यारे सुदामाजी से कहते हैं कि, - 'हे ब्राह्मण! हम तुम जब गुरु के घर में जाकर रहे थे, तब की भी कुछ याद है कि नहीं? जिन गुरु से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जानने योग्य आत्मा का स्वरूप जानकर मनुष्य संसार से छूट जाता है।।३१।। इस संसार में तीन गुरु हैं, एक जन्मदाता पिता, दूसरा-यज्ञोपवीत देकर वेद पढ़ाने तथा संन्ध्या गायत्री आदि सुन्दर कर्म सिखानेवाला, और तीसरा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, बानप्रस्थ, सन्यासी इन चारों आश्रमों को ज्ञान देने वाला गुरु है। इनमे से प्रथम गुरु पूज्य है, दूसरा मेरे बराबर पूज्य है और तीसरा गुरु साक्षात् मेरा ही स्वरूप है।।३२।। जो पुरुष मनुष्य रूप धारण करके गुरु रूप मेरे उपदेश से संसाररूपी समुद्र के पार लगते हैं, हे ब्राह्मण! वह पुरुष चारों वर्णों और चारों आश्रमों में चतुर हैं।।३३।। ज्ञान के देने वाले गुरु से अधिक सेवा योग्य और कोई नहीं है। इसलिए उन गुरु के भजन से अधिक और कोई धर्म नहीं है। सब प्राणियों का आत्मा मैं, जैसा गुरु की सेवा से प्रसन्न होता हूँ, ऐसा ब्रह्मचर्य, यज्ञ, बानप्रस्थ, गृहस्थ और सन्यास धर्म से भी प्रसन्न नहीं होता।

चौ. वे गुरुदेव परम सुखदाई।
जिनकी महिमा कही न जाई।।
उनकी कृपा कहूं कहँ ताईं।
कुशल क्षेम से हैं तेहि ठांई।।
इक अक्षर पढ़िए जेहि पाहीं।
तेहिते उऋण हूजिए नाहीं।

हम तो विद्या सब पढ़ लीन्ही।
गुरु की टहल कछू नहिं कीन्ही।।

दोहाः- **गुरु सेवा दुर्लभ महा, चित दे करे जु कोइ।**
जो मन में इच्छा करै, सो सब पूरण होई।।

सोरठाः- **गुरु बिन मिलहि न ज्ञान, ज्ञान बिना नहिं मोक्ष है।**
याते गुरु समान, और वस्तु नहिं जगत में।।

चौपाईः- **जो गुरु सेवा में मन लावे।**
सो मोको चित में नित भावे।
जे नर धर्म कर्म नहिं जानैं,
गुरु गोविंद एक कर मानैं।

*** * * * * ***

गुरु की सेवा की तुम जैसी, जग में कौन करत है ऐसी।
हम नित प्रति यह देहिं अशीशा, तुम पर कृपा करैं जगदीशा।।
सुभग भाग जगमें नर सोई, जा पर कृपा वन्त गुरु होई।
गुरु-प्रसाद है अति सुखदाई, जाते सकल भक्ति हम पाई।।

गुरु की कृपा से ही मनुष्य पूर्ण मनोरथ होकर शान्ति को प्राप्त होता है।।४३।। तब सुदामा बोलेः- हे देवदेव! हे जगत् के गुरु! सत्य सकंल्प! तुम्हारे संग हमारा गुरु के पास बास हुआ था, फिर हमको कौन वस्तु की प्राप्ति न हुई? अर्थात्- सब वस्तु पाचुके हैं।।४४।। हे समर्थ! सम्पूर्ण कल्याणदायक, छन्दोमय-वेद आपकी मूर्ति है, ऐसे आपने गुरु के यहाँ वास किया! यह तो लीला मात्र है (केवल जगत् को मार्ग दिखलाने के लिए ही चेष्टा है।)।।४५।।

- (श्रीमद्भागवत् स्कंध १० अ. ८० श्लोक ३७-४५)

(ब) परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणोनिर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। **- (श्रुतिः)**

भावार्थः- तमाम कर्मों द्वारा मिलने वाले लोक विनाशी हैं, ऐसा विश्वास कर ब्राह्मण (मुमुक्षु) को वैराग्य युक्त होना चाहिए। नित्य वस्तु की प्राप्ति कदापि अनित्य के द्वारा नहीं हो सकती, उस 'नित्य' को जानने के लिए समिध हाथ में लेकर (अर्थात् शिष्य भाव से), वेदपारंगत, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में ही जाना चाहिए क्योंकि बिना- ब्रह्म श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा के 'नित्य वस्तु' की प्राप्ति नहीं होती।

(स) चौ. गुरु बिन भव निधि तरै न कोई।
जो विरंचि शंकर सम होई।।१।।
- (रामायण तुलसीकृत उ.कां.)

गुरु महिमाः-

शत्रुहु न मित्र कौऊ जाके सब हैं समान
देह को ममत्व छांड़ि, आत्मा ही राम है?
औरहुँ उपाधि जाके कबहु न देखियत
सुखके समुद्र में रहत आठो जाम है।।

रिद्धि अरु सिद्धि जाके हाथ जोरि आगे खड़ी,
सुन्दर कहत ताके सब ही गुलाम हैं।
अधिक प्रशंसा हम कैसे करि कहि सकैं
ऐसे गुरुदेव कुं हमारे जु प्रनाम है।।१।।

ज्ञान को प्रकाश जाके अन्धकार भयो नाश,
देह अभिमान जिन तज्यो जान छार धी।

सोई सुखसागर उजागर वैराग जु,
जाके बैन सुनत विस्मय है विकार धी।

अगम अगाध अति कोऊ नहिं जाने गति,
आतमा को अनुभव अधिक अपार धी।

ऐसे गुरुदेव वह नीक तिहुँ लोक मांहीं
सुन्दर विजराजमान शोभत उदार धी।।२।।

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा को गहै,
गुरु के प्रसाद भव दुख विसराईए।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीति हूँ अधिक बाढ़े,
गुरु के प्रसाद राम नाम गुन गाईए।
गुरु के प्रसाद सब योग की युगति जानैं,
गुरु के प्रसाद शून्य में समाधि लाईए।

सुन्दर कहत गुरुदेव जु कृपालु होय,

तिनके प्रसाद तत्व ज्ञान पुनि पाईए।।३।।

श्लोकः- **तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।**
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।।

माता-पिता और आचार्य (गुरु) का हमेशा प्रिय आचरण करना इन तीनों को सन्तोष देकर प्रसन्न रखने में समस्त तप का समावेश हो जाता है।

श्लोकः- **इमं लोकं मातृ भक्तत्या पितृ भक्तत्या तु मध्यमम्।**
गुरु शुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते-।।

माता की भक्ति से इस लोक का पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक का और गुरु की भक्ति से ब्रह्मलोक का सुख प्राप्त होता है।

श्लोकः- **सर्वे तस्याहृता धर्मायस्यैते त्रय आहृताः।**
अनादृतास्तु यस्यै ते, सर्वास्तस्याऽफला क्रिया।।

जो ऊपर बताए हुए तीनों माता-पिता और गुरु का यथा शास्त्र विधि आदर सत्कार करता है,वह सर्व धर्मों का आदर करता है, ऐसा जानना और जो इन तीनों का अनादर करता है, उसकी सब क्रियाएँ निष्फल जाती हैं।

श्लोकः- **यथा खनन्खनित्रेणनिशे वार्यधिगच्छति।**
तथा गुरुगतां विद्यां, शुश्रषु रधिगच्छति।।

जिस प्रकार कुदाल से जमीन खोदते-खोदते मनुष्य जल प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार गुरु सेवा करते-करते गुरु में रही विद्या को प्राप्त की जा सकती है।

श्लोकः- **आसमाप्ते शरीरस्य यस्तु शुश्रयते गुरुम्।**
सगच्छत्यंजसा विप्रो ब्रह्मणःसद्य शाश्वतम्।।

जो शिष्य देहान्त पर्यन्त गुरु की सेवा करता है वह अनायास ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

- (मनुस्मृति२) २४४

ॐ गुरु कीरति ४अपरोक्ष, मुमुक्षु जन करता,
ॐ मुमुक्षु जन करता, नुगरा कुत्रक५ करके,
ॐ नुगरा कुत्रक करके, शून्य मोक्ष से होता।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।३।।

भावार्थः- हे प्रणव रूप गुरुदेव! मुमुक्षु जन आपकी प्रत्यक्ष कीर्ति (गुणगान) करके मोक्ष प्राप्त करता है- निश्चय करके मोक्ष प्राप्त करता है, और नुगरा कुत्रक करके मोक्ष से निर्मुख होता है, निश्चय करके विमुख होता है। (हे शांति दाता गुरुदेव! मुझे विक्षेप रहित बना 'शान्त' बनाइये)

हे प्रणवरूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ।।३।।

---

(४) श्लोकः- प्रत्यक्षे गुरुवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः।
कर्मान्तेदास भृत्याश्च, न च पुत्रा न च स्त्रियः।।

- (सूक्तावली)

छन्द

गुरु कीरति को अपरोक्ष करे, यश बान्धव मित्र परोक्ष करै।
भृत दास जसे करमांत गहै, अबला सुत ओप कबी न कहै।।१।।
कविवर-हरदयालजी।

५ (अ) दुर्भगो बिकलो मूर्खो, निर्विवेको नपुंसकः।
नीचकर्मकरो नीचो, गुरुदूषणकारकः।।१।।

- (सूक्तावली)

अर्थात्ः- मुग्ध नपुँसक, विकल मन, बिन विवेक दुर्भाग।
नीच कर्म नीचहि करै, गुरु निन्दा में राग।।१।।

कविवर हरदयालजी।

(ब) गुरुद्रव्यापहर्तृणां, तेजोहानिर्दरिद्रता।
दुर्मृत्युश्च महारोगो, धनहानिः सदाभवेत्।।

- (सूक्तावली)

अर्थात्ः- जो गुरु के धन को कीर्ति को कुतर्कना द्वारा (निन्दा द्वारा) हरण करेगा, वह तेज से हीन, विभूति से रहित हो दुखी होकर मरेगा-बुरी मौत मरेगा, सदा रोगी रहेगा तथा

ॐ गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, लक्षण श्रुति[६] कहती,
ॐ लक्षण श्रुति कहती, अभयदान के दाता,
ॐ अभयदान के दाता, गुरु सम नहीं कोई[७]।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।४।।

भावार्थः- हे प्रणव रूप गुरुदेव! आप वेद प्रतिपादित ब्रह्मश्रोत्रिय तथा-ब्रह्मनेष्ठीय लक्षणों से सुशोभित हैं। निश्चय करके वेदोक्त (ब्रह्म-श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ) लक्षणों से सुशोभित हैं, आपके समान अभयदान का दाता दूसरा नहीं है-हे गुरुदेव! आप के समान अभयदान का दाता दूसरा नहीं है-निश्चय दूसरा नहीं है (मुझे कृपा कर मल विक्षेपादि से अभय कीजिए) हे प्रणव रूप गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!।।४।।

''धर्मादि टरैं नरकै सु परै। उपजै पुनि तै श्वपचादि घरै।।''

धर्मादि पदार्थों से टलकर नर्क में पड़ेगा और नर्क भुगतने पर जब जन्म होगा, तो श्वपच या ऐसी ही जाति में जन्म पावेगा-मोक्ष की तो बात ही छोड़ो।

(स) सवैयाः-

सन्त सुखी गुरु भक्त सुखी, वह जीव दुखी गुरुद्रोहि जो होवे। मान चहै गुरु देवन से, नहिं मान मिले तो कुछिद्रहि जोवे।। ठौर नहीं त्रय लोक विषे, तज दैव तिसे तब सिर धुनि रोवे। नित्यानन्द कहै गुरुद्रोहि नहिं, सोई शिष्य सदा निचंत से सोवे।।

दोहाः- गुरु की नित पूजा करे, धरे प्रेम से ध्यान।
उनकी कृपा कटाक्ष से, होय ब्रह्म का ज्ञान।।

- (नित्यानन्द विलास ५-१४)

(६) श्रीराम गुरु अपने वेदान्त ग्रन्थ पंचीकरण में आज्ञा करते हैं-

हे शिष्य! साधु उसे कहते हैं जो स्वधर्म का त्याग नहीं करता, जिसमें समदृष्टि, वैराग्य, शान्ति, दान्ति, धीरज, दया, अदम्भ, अमान, अक्रोध, क्षमा, अद्वेष, शुचित्व आदि शुभ गुण स्वभाव से ही रहते हैं। जो श्रोत्रिय, अर्थात्-वेद (ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित् ताकी वाणी वेद। भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद।) को जानने वाला और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में सत्यनिष्ठा रखने वाला होता है।

जिस साधु में ये सब गुण वर्तमान हों उसे सद्गुरु जानकर उसी का समागम करना (कर बन्दगी विवेक की वेश धरे सब कोय। वह बन्दगी बहि जान दे, जहँ शब्द विवेक न होय।)

शिष्यः- हे स्वामिन्! आपने सद्गुरु के लक्षणों में श्रोत्रिय और ब्रह्म निष्ठ ऐसे दो विशेषण बतालाए, यदि-इन दो में से किसी एक ही विशेषण वाला कोई गुरु होय, तो क्या उससे कल्याण नहीं हो सकता?

गुरुः -हे शिष्य! निःसंदेह एक विशेषण वाले गुरु से यथार्थ बोध प्राप्त नहीं होता। इसलिए दोनों विशेषणों युक्त गुरु की शरण में जाना उचित है इस पर तुझे एक दृष्टान्त सुनाता हूँ सो ध्यान देकर सुनः-

अपने घर को जानेवाले कोई पुरुष मार्ग से जा रहा था। चलते-चलते उसके रास्ते में एक नदी आई। उस नदी को पार होने के लिए वह पथिक नदी किनारे के मनुष्यों से नदी पार होने की युक्ति पूछने लगा। उसकीबात को सुनकर एक पुरुष जो शरीर से हृष्ट पुष्ट और चलनेमें बलवान, किन्तु आँख से अंधा था, उसने कहा कि 'यदि तू मेरे कन्धे पर बैठे तो मैं तुझे उस नदी के पार पहुंचादूं'। उस अन्धे की बात को सुनकर उपर्युक्त पथिक विचार करने लगा कि जो स्वयं आँख से अन्धा है-जिसको नदी का दूसरा किनारा देख भी नहीं पड़ता है, वह मुझे कैसे पार उतार सकेगा? इसलिए ऐसे पुरुष के विश्वास पर जाना भयजनक है, अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारना है। यह विचार कर पथिक ने अंधे से कह दिया कि "मैं तेरे साथ नदी पार उतरने नहीं जा सकता।' उसी समय उसी स्थान पर एक दूसरा पंगु पुरुष बैठा हुआ था। वह आँख से देख तो सकता था किन्तु पैर से चल नहीं सकता था। उसने पथिक से कहा कि 'भाई! तुझे दूसरे के साथ जाने की जरूरत नहीं है। नदी में कहाँ कितना पानी है सो मैं खूब जानता हूँ। इसलिए मेरे बताए मार्ग से जा तो सहज ही पार उतर जाएगा। इतना कह उस पंगु ने मार्ग का निदर्शन इस प्रकार किया कि इस किनारे से जरा नीचे उतर कर बीस कदम सीधे चले जाना, फिर दाहिनी ओर फिर कर चले जाना, बस पार उतर जाओगे। उस पंगु के वचन को सुनकर पथिक ने फिर विचार किया कि 'यह स्वयं बिना पैर का है, यह किसी दिन नदी में क्या गया होगा। तब इसको पानी की गहराई और उथलाई की खबर ही क्या? इसलिए यदि मैं इसके कहने पर नदीं लांघने गया और नदी में किसी जगह पानी अधिक आ गया और उसमें डूबने लगा, तब? उस समय यह पंगु मेरी क्या सहायता कर सकेगा? इस प्रकार विचार कर, उस पंगु की बात भी पथिक ने नहीं मानी। यद्यपि यह पंगु सत्य भी कहता होगा और पानी भी थोड़ा होगा, तथापि-उस पथिक को पंगु के बचन पर विश्वास नहीं आया। इसलिए वह उस पार भी नहीं जा सका।

इतने ही में एक तीसरा मनुष्य दैवेच्छा से आ पहुँचा, जो आँखों से देख सकता था और पैर से चल भी सकता था, तथा तैरने में भी समर्थ और नदी की गहराई उथलाई को जानने वाला था। पथिक की बात को सुनकर उसने कहा कि 'तू मेरे साथ आ, मैं तुझे पार लगा दूँ।' पथिक को उस के वचन पर झट विश्वास आया और उसी आदमी के पीछे पीछे चलकर सहज में ही नदी पार उतर कर स्वदेश को पहुंच गया।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त।

(१) ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होने की इच्छा वाले मुमुक्षु को स्वदेश जाने वाला पथिक समझना चाहिए। (२) जन्म-मरण रूपी प्रवाह करके युक्त संसार रूप नदी है। (३) नदी किनारे बैठा हुआ अन्धा श्रोत्रिय अर्थात-केवल वेदशास्त्र जानने वाला पुरुष है, जिसको शास्त्र निरूपण रूपी पांव तो हैं, किन्तु-दूसरे किनारे रूपी ब्रह्म को देखने की शक्ति नहीं, इससे केवल श्रोत्रिय गुरु की सहायता से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है, (४) पंगु को केवल ब्रह्मनिष्ठ जानना जिसको गुरु प्रसाद से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञानरूपी नेत्र तो हैं जिससे वह संसार रूपी नदी के उस पार के किनारारूप पर ब्रह्म को देखता है, किन्तु वेदवाक्यों के प्रमाण पूर्वक युक्ति से उपदेश करने रूपी पग उसको नहीं हैं। इससे यदि वह जीव को ब्रह्मरूप की प्राप्ति के लिए उपदेश करता हुआ कहे कि ''यह संसार रूपी नदी तुच्छ है, ईश्वर अनुग्रह से यह गोबच्छ खुर के समान सहज में ही पार की जाती है, परमात्मा एक अद्वितीय, अनन्त, असंग, अक्रिय, निर्विकार, निराकर, निर्गुण, नित्य, प्रत्यङात्मा, देहत्रय से विलक्षण, अवस्था त्रयका साक्षी, पंचकोशातीत,व्यापक द्रष्टा, स्वयम् ज्योति, सच्चिदानन्द रूप है। उसीके ज्ञान करके संसार नदी में सहज ही पार हो जाएगा।' ''यह सत्य उपदेश होने पर भी अन्य मुमुक्षुओं को उसके बचन पर विश्वास नहीं आता है। इसलिए उनके वाक्यों में भी सन्देह रहता है। इसलिए दृष्टान्त में जैसे- (५) नेत्र और पग, दोनों वाले पुरुष की, सहायता से पथिक नदी पार हुआ, उसी प्रकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ इन दोनों विशेषणों से युक्त, सद्गुरु द्वारा ही मुमुक्षु संसार नदी से पारहो सकता है। इसलिए श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की ही शरण में जाना उचित है।

अथर्व वेद के मुण्डक उपनिषद् में जिज्ञासुओं को समिधादि भेंट हाथ में लेकर विनयपूर्वक परमतत्व के ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ दोनों विशेषण वाले गुरु की शरण में जाने का निरूपण किया है। उसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र ने भगवद्गीता के चौथे अध्याय के ३४वें श्लोक में भी कहा है:-

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

अर्थः सद्गुरु को साष्टांग नमस्कार करके और बन्ध क्या? मोक्ष क्या? विद्या किसे कहते हैं? अविद्या किसका नाम है? आत्मा कौन है? परमात्मा कौन? तथा उनकी एकता किस प्राकर से जानी मानी जाती है? इत्यादि प्रश्नों तथा सेवा करके प्रसन्न हुए सद्गुरु के पास से परम श्रेष्ठ मोक्ष का साधन, अद्वितीय परमात्मा का ज्ञान, तू प्राप्त कर। ज्ञानी (श्रोत्रिय) तत्वदर्शी (ब्रह्मनिष्ठ) सद्गुरु तुझे उपदेश करेंगे।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के एकादश- स्कन्ध के तीसरे अध्याय में प्रबुद्ध नामक योगीश्वर ने राजा जनक से कहा हैः-

तस्माद्गुरुं प्रपद्येते जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।।

अर्थात्ः- इस लोक के तथा परलोक के सर्वविषय भोग कर्म-जन्य होने से नाशवान् तथा दुःखदाई है। इसलिए उत्तम (नाश रहित परम सुखमय) श्रेय (मोक्ष) को जानने की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष को वेद के सत्य अर्थ के जानने वाले श्रोत्रिय और परमब्रह्म को अपरोक्ष अनुभव करके जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ तथा शान्तिवान् सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए।

७. (अ) सद्गुरु धोबी ज्ञान जल, साबू सिरजन हार।
सुरत शिला पर धोय कर प्रगटे ज्योति अपार।।
गुरु बिन ज्ञान न ऊपजे, गुरु बिन मिटे न भेद।
गुरु बिन संशय ना मिटे, जय जय श्री गुरुदेव।।२७।।

...ॐ जयहरि

आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है, इस आत्मज्ञान की अप्राप्ति से गुरु पदवी के योग्य ब्राह्मण शिष्य भाव को पाता है, इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति से शिष्य पदवी के योग्य क्षत्रियादि भी गुरु भाव को प्राप्त हुए हैं। इसलिए आत्म-ज्ञान ही गुरुपने का सम्पादक है। आत्म-ज्ञान में जैसी महत्ता है, वैसी दूसरे किसी में नहीं। इस कारण से छान्दोग्यउपनिषद् में 'ज्ञान के समान दक्षिणा का अभाव' कहा है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कराने वाले गुरु को जो शिष्य समुद्रपर्यन्त पृथ्वी दक्षिणा रूप में देवे तो भी आत्मज्ञान के समान वह दक्षिणा नहीं। इसलिए आत्म-ज्ञान ही सबसे अधिक है। गुरु शब्द अधिक अर्थ का वाचक है। परन्तु इन सबके अधिक अद्वितीय आत्मा है, इस अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, वह ही गुरु पदवी के योग्य हैं। परन्तु जिसे आत्म-साक्षात्कार हुआ नहीं वह सर्व प्रकार से शिष्य पदवी के योग्य है। **- (कोषीतकी उपनिषद्)**

(आ) अभयदान के दाता-गुरु

बकासुर जब जगद्‌गुरु भोलानाथ शिवजी की सकाम आराधना में अपना शरीर काटकाट कर हवन करने लगा तब महा कारुणिक श्री शंकर जी ने अग्नि कुण्ड से प्रकट हो, उसे अपना आश्चर्य दर्शन देकर दोनों भुजाओं से निवारण करते हुए कहा कि भाई मैं तो जलमात्र के चढ़ानेसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ, तूने वृथा ही अपने शरीर को क्यों कष्ट दिया?

तमाहु चाङ्गालमलं वृणीष्व में यथाभि कामं वितरामि ते वरम्। प्राये यतो येन नृणां प्रपद्यता महा त्वयात्मा भृशमर्ध ते वृथा।। **-(श्रीमद्भा. १०/८८/२०)**

श्री शिवजी के उपुर्यक्त वचनों से यह सहज ही प्रगट होता है कि भगवान् श्री शंकर कितने महाकारुणिक है, यह बात श्रीशिव के हलाहल पान से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसकी सुन्दर कथा- श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध में है।

'एक समय देवता और असुरों ने मिलकर क्षीरसागर का मन्थन किया। मन्थन होने पर सर्व प्रथम उसमें से महोल्वण हलाहल नामक विष निकला। अति वेग से दशों दिशाओं में नीचे से उफनकर आने वाले उस प्रतिकार रहित विष को देखकर देवता-लोग विष्णु भगवान् से भी रक्षा न पाकर अत्यन्त भीत हो, भूतनाथ श्री शंकरजी की शरण में गए। उस समय देव-देव महादेव कैलाश पर जगदम्बा पार्वती के सहित विराजमान थे। सभी देवता समीप जा, प्रणाम कर उनकी स्तुति करने लगेः-

देव देव! महादेव! भूतात्मन्! भूतभावन!
त्राहि नः शरणापन्नास्त्रैलोक्य दहनाद्विषात्।।

त्वमेकः सर्व जगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम्।।

(श्रीमद्भा. ८/७/२१/२२)

इस प्रार्थना को सुनकर श्री शंकर जी प्रसन्न हो पार्वतीजी से बोले कि 'हे प्रिये! देखो, क्षीर सागर से निकले हुए इस काल कूट से देवताओं को कितना कष्ट हो रहा है, समस्त देवता प्राणों की रक्षा के लिए अत्यन्त व्याकुल हैं। अतः उन को अभय देना हमारा अनिवार्य कर्तव्य है, क्योंकि दीनजनों का रक्षण करना-पालन करना ही सामर्थ्यवान् पुरुषों का धर्म है। इसलिए साधु पुरुष प्राणों को क्षणभंगुर समझ उनसे दूसरों की रक्षा करते हैं। इसलिए इस दुःख से देवगणों को बचानेके लिए मैं स्वयं विषपान करता हूँ। भगवती श्री पार्वती जी श्री दयालु शंकर को विषपानार्थ प्रस्तुत देखकर अत्यन्त हर्षित हुईं वे श्री महादेव जी का प्रभाव जानती थीं। तदन्तर करुणा हेतु भूतभावन, भगवान् श्री शंकर दिशाओं में व्याप्त उस हलाहल को हथेली पर रखकर चट कर गए। पान करते समय भी करुणामय भगवान् श्री शंकर ने दया को नहीं

भुलाया। विषपान के द्वारा तो उन्होंने देवगणों पर दया की और हृदय स्थित ईश्वर को कहीं वह विष स्पर्श न हो जाय, एतदर्थ उन्होंने विष को कंठ में ही रोक रखकर मानों ईश्वर पर भी दया की। हलाहल विष कंठ में नीलवर्ण धारण कर श्री शिवजी का भूषण स्वरूप हो गया। इसी कारण श्रीशंकर को नीलकंठ कहते हैं। कहा जाता है के विषपान करते समय शिवजी की हथेली से खिसककर जो थोड़ा सा विष गिर गया था वह, बिच्छू, साँप, विषमय औषधि तथा अन्य डसने वाले जहरीले जीवों ने ग्रहण किया था। इसी कारण यह सब उग्र हो गए। इन सबकी उग्रता को देखते हुए इसका विचार सहज किया जा सकता है कि वह हलाहल विष कितना उग्र रहा होगा। उसे शिवके सिवा और कौन ग्रहण कर सकता था?

इसीलिए कहा हैः-

तप्यन्ते लोक तापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनंतद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।।
- (श्रीमद्भा. ८/७/४४)

अर्थात्ः- साधु पुरुष दूसरों के दुःखों से ही दुःखी हुआ करते हैं। उनका दीन जनों पर दयाद्र होकर प्रेम करना ही परमाराधन है। - (कल्याण)

डूबत भवसागर में -आइके बंधाये धीर,
पारहू लगाइ देत नायकूं ज्यों खेय सो।
पर उपकार सब, जीवन के सारे काज,
कबहु न आवे जाके गुननि को छेप सो।।
वचन सुनाइ भय भ्रम सब दूरि करैं,
सुन्दर दिखाई देत, अलख अभेव सो।
औरहू सनेही हम, नीके करि शोधि देखे,
जग में न कोउ हित-कारी गुरुदेव सो।।१।।

इंदव छन्दः-

योगी कहैं गुरु जैन कहैं,
गुरु बौध्ध कटे, गुरु जंगम मानै।
भक्त कहैं गुरु न्यासि कहैं,
बन-वासी कहैं गुरु और बखानै।।
शेख कहैं गुरु सूफी कहैं गुरु,

या हित सुन्दर होत हिरानै।

बाहु कहैं गुरु बाहु कहैं गुरु,

है गुरु सोइ सर्व भ्रम भानै।।१।।

सो गुरुदेव लिपैं न छिपैं कछु,

सत्व रजस तम ताप निवारी।

इन्द्रिय देह मृषा करि जानत

शीतलता समता उर धारी।।

व्यापक ब्रह्म विचार अखण्डित,

द्वैत उपाधि सबै जिन टारी।

शब्द सुनाय सन्देह मिटावत,

सुन्दर वा गुरु की बलिहारी।।२।।

पूरण ब्रह्म बताय दियो जिन,

एक अखण्डित व्यापक सारे।

राग रु द्वेष करै अब कौन सु

जो अहि मूल वही सब डारे।।

संशय शोक मिट्यो मन को सब,

तत्त्व विचारि कह्यो निरधारे।

सुन्दर शुध्ध कियो मल धोई जू,

है गुरुको उर ध्यान हमारे।।३।।

ज्यों कपड़ा दरजी गहिं व्योंतत

काष्टहि को बढ़ाई कसिता ने।

कंचन कूं जु सुनार कसै पुनि,

लोह को घाट लुहार ही जाने।।

वाहन कूं कसिलेत शिलावर,

पात्र कुम्हार के हाथ निपानै।

वैसे ही शिष्य कसै गुरुदेव जू,

सुन्दर दास तवै मन मानै।।४।।

*** * * * * ***

(इ) गुरु महिमा

साखीः-

प्रथम नमुं गुरुदेव ने जेणे आप्यूं निज ज्ञान।
ज्ञाने गोविंद ओलख्या, टल्युं देहाभिामन।।
तत्वसार त्रिलोकमां, गुरु गोविंदज रूप।
आद्य अंत मध्य एक छे, हरि गुरु संत सरूप।।

मोतीराम छंदः-

हरिगुरु संत सदा पद सेवुं,

जेनु नित्य नाम निरंतर लेवुं।

गुरु गोविंद एक रूप जाण,

रखे भिन्नभाव हृदे में आण।।१।।

गुरु गोविंद थकी छे अधिक

जेनी परमारथ कारण शीख।

गोविन्दना सरज्या पड्या जीव जाल

गुरु तेनी मुक्ति करे तत्काल।।२।।

एवा गुरु पुरण प्रेम दयाल,

पोतानो जाणीने करे प्रतिपाल।

गुरु तणुं ज्ञान ग्रह्युं शुकदेव,

संसार समुद्र तर्या ततखेव।।३।।

मल्या गुरु नारद ने सुखराशी

तो टली तत्क्षण मांय चौरासी।

गुरु बिना कोई न पाये पार,

जेना जश गाय उमिया त्रिपुरार।।४।।

विरंची व्यास वदे गुरु इष्ट

न जाने महिमा प्राणी पापिष्ट,

तेने गुरु द्रोही कृतघ्नी कहिये,

जेणे गुरु ज्ञान ग्रह्यु नहिं हैये।।५।।

गुरु के आप बराबर जाणे,

तेने जमदूत वैतरणी मां ताणे

गुरु के गाल काढ़े ते कपूत,

तेनुं मुख शूले भरे जमदूत।।६।।

गुरनी सेवा मां चूक पड़ावे,

तेने हरि चक्रनी धारे चढ़ावे,

गुरुनी निंदा सुणे निरधार

सीसुं गाली रेडै श्रवण मोंझार।।७।।

गुरु ने चरणे नमावे न शीश

तेने शत्रु-रूपे जाणे जगदीश,

गुरुनी सेजे जे पग धारे,

तेने त्रिलोके मां कोण उगारे।।८।।

गुरु मरैजाद न राखे कोय,

ते तो नर रणमां राक्षस होयः

गुरु बिना चाकर जेवो साप,

जेनुं मुख दीठे चढ़े बहु पाप।।९।।

गुरु बिना नुगरो फरे जन जेह,

मुआ पछी ढोर अवतरे तेह,

स्यूं गुरुगीता मां कहे शिवराय,

जेने वेद शास्त्र निरंतर गाय।।१०।।

गुरु ब्रह्म केवल ज्ञान स्वरूप,

जेने रुदे आतम तत्त्व अनूप,

छे तत्त्वमसि मां अखंड आनंद,

त्रिगुणातीत टाले भव फंद।।११।।

एवा गुरु प्रेमे करीजे पूजे,

तेना घट मांही त्रिभुवन सूझे,

गुरुनू प्रेमे चरणोदक पीधुं,

तेणे त्रिलोक नुं तीरथ कीधुं।।१२।।

पामे प्रसाद गुरुनो प्रीते,

जाणे तेणे जज्ञ कर्या लक्ष नित्ये,

गुरु ने प्रेमे संतोष पमाड्या

जाणे तेणे चवद लोक जमाड्या।।१३।।

गुर ने प्रक्रमा करी लागे पाय,

तेने सउ साधन सहेजे धाय

ऐवा गुरु जाणी ने आयों शरण,

निवारो नाथ जनम ने मरण।।१४।।

धरी धरी देह पाम्यो महादुःख,

हवे हरि आपो अविचल सुःख,

पीडायो पार बिना महाराज,

हवे हरि बांह्य ग्रह्यानी लाज।।१५।।

जेशा अपराध अमारा ईश,

त्यारे कोई काले हुं केम तरीश,

ज्यारे निज माता बालक ने मारे,

त्यारे तेने बीजुं ते कोण उगारे।।१६।।

अभय पद बिरद तमारूं होय,

आवैं शरणे तेने हणे नहिं कोय,

तमो गुण गाये जो कर्म न नासे,

त्यारे कोण चरण तमारा उपासे।।१७।।

रवि ने उगे रहे अंधकार

त्यारे तेने शीद इच्छे संसार,

अमृत ने पीए जो रोग न जाय,

त्यारे शो अमृत नो महिमाय।।१८।।

सुरतरु सेवे न भागे भूख,

त्यारे तेने कोण कहे सुरवृक्ष

तीरथ ने नहाये न जाय पाप

त्यारे शो तीरथ नो परताप।।१९।।

पारस ने परसे न होय हेम,

त्यारे तेने पारस कहिये केम,

सिंह ने शरणे जांबुक खाय

त्यारे सिंह शइणे गये शुं थाय।।२०।।

राम नाम लीधे दमे अज्ञान

त्यारे कोण कहेशे भक्ता भगवान

काम क्रोध, लोभ लुंटे ज्यारे चोर,

त्यारे शुं नाथ तमारो जोर।।२१।।

धणीमां ज्यारे मले नरिं ठग,

तेनी त्रिया कएरे उघाड़े अंग,

पतिव्रता नागी पति ने लाज

जुओ मन मांही तमे महाराज।।२२।।
पीडा पामे दास प्रभु ने खोट,
अमो पर काल चलावे चोट,
प्रभुनुं भजन करे ते पीडाय
ते लेनो तमने बट्टो छे जदुराय।।२३।।
आपो निज भक्ति संग उमराव,
रुदे खेडुं उजड़ फेर बसाव,
बेसारोने बेरखे नाम तमारुं,
तेणे करि कारज थाय अमारुं।।२४।।
त्यारे फरी नगर न लूटे कोय,
ज्यारे रखवालुं हरिनुं होय,
आवी प्रभु करो हृदेमां वास,
त्यारे सउ थाय अविद्या नाश।।२५।।
वरतावोने एक तमारी आण,
उघाडोने राम रतननी खाण
दीनपणुं दूर करोने जदुनाथ
हवे हरि हेते करि झालो हाथ।।२६।।
बोलावीपासे बेसारो बाप,
पमाडो शीद हवे परिताप,
भमावो शीद हवे भगवान
दया करी दीजे अभय पद दान।।२७।।
नाठे नहिं छुटो त्रिभूवन नाथ,
न मूकुं शाम तमारो साथ,
बेरी मेघ बिन्दु बराबर होय,

तमारो संग न मूकुं तोय।।२८।।

माया नेवारो तमो राम राय,

नथी मुजने जपवा देती जराय,

करे छे सांधा बांधा बहु जोर,

अंधकारमुकाम कठोर।।२९।।

हरि गुर संतमां अंतर पाडे,

जीवने लालच लोभ देखाड़े,

एने कोई जीते महा शूरवीर,

डगे नहिं धर्म धुरंधर धीर।।३०।।

सागर सात ते अंजली नीर,

गोपद भूमि गगन समीर,

शून्यमां पूरण देखे सोय

मृत्यु तेने अमृतनुं फल होय।।३१।।

जाणे काई मागशे मारी पास,

एवुं रखे राखता श्री अविनाश

रिद्धि सिद्धि मारे न जोइये मुक्ति,

न मागुं जोग सिद्धिनी जुक्ति।।३२।।

न मागुं एकछत्र रामराज्य

इंद्र तणा आसननुं शुं काज

इच्छुं नहिं अज पदने कैलास

न मागुं गौलोके वैकुंठ वास।।३३।।

पद रज एक चढ़ावुं शीश

तमारी मेहरे मायाने अधीश

इच्छु नहिं अन्य पदारथ कांइ,

राखो निज चरण कमलनी छांय।।३४।।

मागुं प्रेम भक्ति संत संग सार,

मांगु जश गावा लीला अवतार,

नडे नहिं कोई मने संसार,

रहुँ निज नाम तणे आधार।।३५।।

प्रीतम पतित उध्धारण नाम

तार्या कंई कोटि पाम्या निज धाम।।३६।।

साखीः-

सत्य नाम प्रभु तम तणुं, सत सत-पुरुष विचार,
कहे प्रीतम शुध्ध भावडुँ दीजे नित्य देदार।।१।।

गाय शिखे न सांभले, धरे निरन्तर ध्यान,
कहे प्रीतम नर नारमां, नहि को तेज समान।।२।।

ॐ तत्सत्

(इ)

भले बुरे गुरु जन बचन, लोपत कबहुँ न धीर।
राज-काज को छोड़िके चले विपिन रघुवीर।।

गुरु बच जोग अजोगहु, करिये भ्रम विसराय।
राम इते जमदग्नि कै, वचन सहोदर माय।।

बचन बाण सम श्रवण सुनु, सहत कौन रिस त्याग?
सूरज पद-परिहार तें, पाहन उगलत आग।। भर्तृ.।।

(ई)

या जग में कोउ है नहीं, गुरु सम दीन दयाल।
सरनागत कूं जानि के, भलैं करैं प्रतिपाल।।

मनसा बाचा करि 'दया' गुरु चरनौं चित्त लाव।
जगत समुद्र के तरन कूं नांहि न आन उपाव।।

सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं, मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै, 'दया', ते हैं पशू समान।।

नित प्रति बन्दन कीजिए, गुरु कूं सीस नवाय।
'दया' सुखी कर देत हैं, हरि सरूप दरसाय।।

विद्या हवै ब्राह्मण मा जगाम, गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजेजवशठाय, मा मा ब्रूयातवीर्यवती यथास्याम्।।१।।

-श्रुतिः

अर्थः- विद्या, ब्राह्मण के पास आकर कहतीहै कि तू मेरा रक्षण कर मैं तुझे भंडार रूप में होती हूँ। मुझे ईर्ष्या करने वाले कुटिल तथा शठ को न देना, जिससे मैं वीर्यवाली हो रह सकूं।

विद्ययैव समं कामं, मर्तव्यं ब्रह्म वादिना।
आपद्यपि हि घोरायां नत्वे नामिरिणे वपेत्।।

- श्रुतिः

अर्थः- ब्रह्मज्ञानी को विद्या के साथ मृत्यु पाना श्रेष्ठ है परन्तु घोर आपत्ति आई हो तो भी नास्तिक को वह विद्या नहीं देना।

(ए) अभिवादन-गुरु कीर्ति।

श्लोक- लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिक मेवच।
आदरीत यतो ज्ञानं, तं पूर्वमभिवादयेत्।।

- (मनु २/११३)

-जिसके पास से इस लोक संबंधी, वेद संबंधी और अध्यात्म-संबंधी ज्ञान प्राप्त किया हो उस गुरु को प्रथम अभिवादन करना।

श्लोकः- शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविषेत्।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्।।

- (मनु २-११९)

गुरु के बिस्तर अथवा आसन के ऊपर उनकी हाजिरी या गैर हाजिरी में कदापि बैठना नहीं, और अपने बिस्तर या आसन पर बैठे हुए हो उस समय गुरु आवें तो खड़े होकर उनको अभिवादन करना।

श्लोकः- प्रति श्रवण संभाषे, शयानो न समाचरेत्।।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्नपराङ्मुखेः।।

- (मनु. २-१७५)

सोते-सोते, बैठे रह कर, खाते-खाते, पीछे मुख करके खड़े रहकर गुरु की आज्ञा का उत्तर नहीं देना। इसी प्रकार बातचीत भी नहीं करना। (क्योंकि ऐसा करने से तो छड़ाई (उदंडता) मालूम पड़ती है।)

श्लोकः- दुरस्थो नार्चयेदेनं न, क्रुद्धो नान्ति के स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवेनमवरुह्याभिवादयेत्।।२०२।।

शिष्य को गुरु से दूर खड़े रहकर अभिवादन नहीं करना उसी प्रकार क्रोधयुक्त होकर न करना, गुरु उनकी धर्मपत्नी के पास हो तब भी नहीं करना और कोई सवारी के ऊपर बैठा हो तो वहां से उतर कर खड़े होकर अभिवादन करना।

श्लोकः- नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानु कुर्वीत, गति भाषित चेष्टितम्।।१९९।।

गुरु की गैर हाजिरी में उनका अकेला नाम नहीं बोलना। (नाम के पहिले श्री या नाम के अंत में 'जी' ऐसा सम्मान सूचकशब्द रखकर बोलना) उनकी चाल, उनकी बोली ओर उनकी अन्य चेष्टाओं की नकल नहीं करना।

श्लोकः- गुरोर्यत्र परीवादो निंदा नापि प्रवर्तते।
कर्णा तत्रपिधातव्यौ गंतव्यंयाततोऽन्यतः।।२०३।।

जिस जगह गुरु के दोष बोलते हों, उनकी निंदा होती हो उस जगह अपने कान मूंद लेना चाहिए। अथवा वहां से चल देना चाहिए।

श्लोकः- प्रतिवातेऽनुवाते च नाशीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्नकिंचिदिपि कीर्तयेत्।।२०३।।

गुरु की तरफ से हवा आती हो, अथवा शिष्य की तरफ से हवा गुरु के तरफ जाती हो, इस प्रकार नहीं बैठना। गुरु के सुनने में न आवे, इस रीति से भी कोई अनुचित बात नहीं करना।

श्लोकः- गोऽश्वोष्ट्रयान प्रासादुप्रस्तारेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफल कनौषु च।।२०४।।

बैल, घोड़ा, ओर ऊंट की सवारी में, महलों की अट्टारियों में, चटाइयों के बिछौने पर बड़े पत्थर की चट्टान पर और नाव वगैरा में गुरु के साथ बैठने में कुछ हर्ज नहीं।

"गुरौऽर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।।२०५।।

गुरु के गुरु पास में हो तो उन्हें भी गुरु की भांति मान देना।

मंत्राशास्त्र में 'गुरु' शब्द के प्रत्येक वर्ण का इस रीति से अर्थ किया है, "गकार का अर्थ सिद्धि दाता, रेफ का अर्थ पाप नाशक और उकार का अर्थ शंभू है।" अर्थात् जो सिद्धि दे सकते हैं। पापों को विनाश करने की जिनमें क्षमता है, और जो मंगलकर्ता है, उन्हीं को गुरु कहते हैं।

अर्थात् गकार का अर्थ ज्ञान, रेफ का अर्थ तत्व प्रकाशक और उकार का अर्थ शिवतादात्म्यप्रद है। (अर्थात् जो तत्त्वज्ञान को प्रकट कर शिव स्वरूप कर दे वही गुरु है।)

(ऐ) भक्त-लक्षण

जिसको किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है, जो शुद्ध चतुर और उदासीन है जो दुःखों से मुक्त है और 'मैं करने वाला हूँ' इस अभिमान से किसी कार्य का आरंभ नहीं करता (सब कुछ भगवान का ही किया मानता है) वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कुछ चाहता ही है, जोशुभ और अशुभ किसी भी कर्म को आसक्ति और फल की इच्छा से नहीं करता वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

जो शत्रु मित्र में, मान अपमान में ओर सर्दी-गर्मी तथा सुख दुःखादि द्वन्द्वों में समान भाव रखता है, जिसकी (मुझको छोड़कर) किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं है, जो निन्दा स्तुति को समान समझता है, जो चित्त तथा वाणी से केवल मेरा ही मनन और कथन करता है जो किसी भी प्रकार जीवन निर्वाह होने में संतोष रखता है जिसका अपना कोई घर नहीं है अर्थात् जो घर में ममत्व रहित है या जो घर द्वार सबको भगवान् के मान चुका है। वह स्थिर बुद्धि भक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जो श्रद्धावान पुरुष मेरे ही परायण होकर उपर्युक्त धर्म मय अमृत का भलीभांति सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझ को अत्यंत ही प्रिय हैं। (गीता अ.१२/१३-२०)

(ओ) प्रेमरूपा भक्ति

यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १ गुण महात्म्यासक्ति २. रूपासक्ति ३. पूजासक्ति ४. स्मरणासक्ति ५. दास्यासक्ति ६. सख्यासक्ति ७. कान्तासक्ति ८ वात्सल्यासक्ति ९. आत्मनिवेदनासक्ति १०. तन्मयासक्ति और ११ परम बिरहासक्ति इस प्रकार से ११ प्रकार की होती है।

इन भिन्नाभिन्न आसक्तियों से भगवान् को भजने वाले असंख्य भक्त हो गए हैं। उदारहण के लिए कुछ नाम यहाँ दिए जाते हैंः-

१. गुण माहात्म्यासक्त भक्त- देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, काक भुशुण्डि, शेष सत्, शौनक, शाण्डिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु, जनमेजय आदि।

२. **रूपासक्त भक्तः-** मिथिला के नर-नारी, राजा जनक, दण्ड-कारण्य के ऋषि, वृज नारियाँ आदि।

३. **पूजासक्त भक्त-** श्रीलक्ष्मी जी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्री भरतजी आदि।

४. **स्मरणासक्त भक्त-** प्रह्लाद जी, ध्रुव जी, सनकादि।

५. **दास्यासक्त भक्त-** श्री हनुमानजी, अक्रूरजी, विदुरजी आदि।

६. **सख्यासक्त भक्त-** अर्जुन, उद्धव, संजय, श्रीदाम, सुदामादि।

७. **कान्तासक्त भक्त-** अष्ट पटरानियाँ आदि।

८. **वात्सल्यासक्त भक्त-** कश्यप, अदिति, सुतपा, प्रश्नि, मनु, शतरूपा, दशरथ, कौशल्या, नंद, यशोदा, वसुदेव, देवकी आदि।

९. **आत्मनिवेदनासक्त भक्त-** श्री हनुमानजी, राजा अम्बरींष, राजा बलि, विभीषणजी, शिवि आदि।

१०. **तन्मयासक्त भक्त-** याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि ज्ञानी गण अथवा कोण्डिन्य, सीतक्ष्ण आदि प्रेमी मुनिगण।

११. **परम विरहासक्त भक्त-** उद्धव, अर्जुन, ब्रज के नरनारी।

श्री गोपीजनों में ग्यारहों प्रकारके प्रेम का विकास था, उपर्युक्त भक्तों ने एक-एक प्रकार ; ही प्रेम का विकास था सो बात नहीं है। जिस भाव की प्रधानता थी, उसी में उनका नाम लख दिया गया है। (नारद-भक्ति-सूत्र-प्रेम दर्शन)

(औ) भक्ति की प्राप्ति के साधन

प्रबुद्ध नामक योगीश्वर ने महाराज निमि से प्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति के साधन इस प्रकार बतलाए हैं-

जिसको अपना परम कल्याण जानने की इच्छा हो उसे वेद के ज्ञाता और परब्रह्म में स्थित शान्त स्वरूप गुरु की शरण जाना चाहिए। और गुरु को ही आत्मा एवम् इष्टदेव समझकर निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उन भगवत धर्मों को सीखना चाहिए। जिनसे अपने आपको दे डालने वाले परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं। मन से सब विषय-भोगों में वैराग्य, साधु, महात्माओं का संग, सब प्राणियों के प्रति यथायोग्य, दीनों के प्रति दया, समान अवस्था वालों से मित्रता और बड़ों के प्रति विनय का व्यवहार, तन मन, धन से पवित्र रहना, कष्ट सहकर भी अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन रूपी तप करना, शीत ऊष्ण आदि को सहना, व्यर्थ बातचीत का त्याग या भगवानका मनन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःख आदि आदि द्वंद्वों में समभाव। सर्वत्र सब तीर्थों में अपने आपको तथा ईश्वर को देखना, एकान्त में रहना, घर आदि को भगवान् का मानना, भगवान् का गुणगाने वाले शास्त्रों में श्रद्धा रखना, दूसरे शास्त्रों की निंदा नहीं करना, मन वाणी और कर्मों का संयम, सत्य भाषण, मन और

इन्द्रियों को वश में रखना, अद्भुत-लीला करने वाले श्री हरि के जन्म और कर्म गुणों का श्रवण कीर्तन और ध्यान करना, भगवान् के लिए ही सब विहित कर्म करना, यज्ञ, दान, तप, जप आदि सदाचार अपने प्रिय लगने वाले सब पदार्थ और स्त्री, पुत्र, घर तथा प्राणों को भी परमात्मा के अर्पण कर देना और इस प्रकार भगवान ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं ऐसे भक्तों से मित्रता रखना-करना, जड़ चेतन जीवों की मनुष्यों की ओर उनमें भी साधु स्वभाव वाले महापुरुषों की विशेष रूप से सेवा करना, परस्पर में भगवान के पवित्र यश का कथन करना और इस भगवद् गुणगान के द्वारा ही परस्पर प्रीति, तुष्टि और दुखों की निवृत्ति करना-ये सब साधन सद्गुरु के समीप रहकर सीखना चाहिए। इस प्रकार बर्ताव करने वाले और पाप समूह के नाशक श्री हरि का स्वयं स्मरण करनेवाले और दूसरों से कराने वाले भक्तों के हृदय में इस साधन रूप भक्ति के द्वारा प्रेम लक्षणा भक्ति उत्पन्न हो जाती है। और उनका शरीर पुलकित हो जाता है। वह फिर प्रेम मग्न हो जाता है। - (श्रीमद्भागवत ११/३/२१-३१)

(अं) भक्तों के लक्षण

इसी प्रकार गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने-प्यारे भक्तों के लक्षण बतलाते हुए कहा

"जो किसी भी जीव से द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र और दयालु है जो ममता और अहंकार से रहित सुख-दुःखों की प्राप्ति में समभाव वाला और क्षमाशील है; जिसका चित्त निरन्तर मुझमें लगा है जो सदा संतुष्ट है, मन और इन्द्रियादि को जीते हुए हैं-मुझमें दृढ़ निश्चयी है और जिसने अपने मन बुद्धि को मुझे सौंप रक्खा है। वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जिससे किसी जीव को उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं किसी से उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगों से छूटा हुआ है वह भक्त मुझे प्रिय है।

(अः) ॐ-सद्गुरु अंग।

जै सद्गुरुनां सेवे चरण, तेह ना टले जन्म वे मरण,
महावाक्य नुं आपे ज्ञान, मुकावे देहनुं अभिमान।
भूतटाली ने करे भगवन्त, कहे प्रीतम ते सद्गुरु संत।।१।।

गुरु थी मोटा नथी सुर शेष, न मोटा ब्रह्मा विष्णु महेस
गुरु सरखा मोटा ते गुरु, कहे प्रीतम वर्णन शुं करूं।।२।।

मन वांणे वर्णत नव थाय, जेहने निगम निरंतर गाय
शास्त्र पुराण कहेछे सहू, गुरुनो महिमा मोटो बहू
कहे प्रीतम जे को जाणशे, अखंड अभय पदवीमाणशे।।३।।

गुरु नां चरण सेवे जे सदा, तेनी टल भवनी आपदा,
उठ करोड़ तीरथ कहै वाय, गुरु सेवतां सर्वे थाय।
शीष चरणांमृत लेहे ग्रहे, कहे प्रीतम परम पद लहे।।४।।

गुरु शब्द श्रवणों सांभले, तेना ताप ततक्षण टले
शीतलता सउअंगे थाय, जन्म मरण नुं जोखम जाय
घटमां प्रगटे ज्ञान प्रकाश, कहे प्रीतम होय हरिनो वास।।५।।

गुरु संतोषी आपे सुख, नरक तणुं नव पांमे दुःख,
प्रेम प्रीत शु पूजा करे, गर्भ बास ते शाणो फरे
चन्द्र बिना जेवी जांमनी, कंथ बिना जेहेवी भांमनी।।६।।

लवण बिना अन्न जेहे बु जथा, तप बिना संन्यास सर्वथा,
गुरु बिना नर ऐहे वो जाण्य, कहे प्रीतम ते सत्य प्रमाण्य
विश्वेश्वर ईश्वर गुरु आप, परसे तेहे नां न रहे पाप।।७।।

वंदे शीव विरंची शेष, हरी नुं समरण है ये हमेश;
गंगा आधे तीरथ जेह, चरण कमल रज ईछे तेह;
वेद वदे जेनी कीरती घणी, प्रीतम संत ते शिरोमणि।।८।।

हरि चंदन ने संत पवन, हरि सिंधु ने संत प्रजंन;
पर उपगारा परमारथी, बंधन छोड़े संसार थी
अनेक अधम ने औधारता, केहे प्रीतम कारज सारता।।९।।

संत संग दुर्लभ संसार, नौका सप्त भव तारण हार,
चौरासी ना टाले फन्द, उपजावे उर अति आनन्द
हरि नाम धन्य आपे सार, प्रीतम प्रगटे प्रेम अपार।।१०।।

ॐ

मनन

मनन- श्रवण के पश्चात मुमुक्षु को जन्म मरणादि विकारवान् तथा आसक्ति द्वारा सर्व एषणा उत्पन्न करने वाले इस शरीर को अन्वय व्यतिरेक कर दुःख का कारण रूप जानना, सर्व एषणा का त्यागकर मुमुक्षु को बालक की भांति राग द्वेष से रहित हो रहना। तात्पर्य कि-रागद्वेष पूर्वक विषय में इन्द्रियों की प्रवृत्ति जीव को दुःख का कारण रूप है। इस कारण से ही रागद्वेष पूर्वक इन्द्रियों की प्रवृत्ति से रहित बालक दुःख पाता नहीं। इसलिए मुमुक्षु को बालक की तरह रागद्वेष पूर्वक इन्द्रियों की प्रवृत्ति से रहित होकर वेदान्त अर्थ का मनन करना। अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा विरोध की निवृत्तिपूर्वक वेदान्त के अर्थ के चिन्तन को शास्त्रवेत्ता मनन कहते हैं। यह मनन रागद्वेष वाले बहिर्मुख पुरुष से नहीं होसकता। इसलिए राग द्वेष से रहित हो मुमुक्षु को वेदान्त अर्थ का मनन करना चाहिए।

- (आत्मपुराण)

दोहा-

मनन तिसको कहत हैं, मन से करे विचार।
बैठि इकान्तिक देश में, सोधे सार असार।।१।।

युक्ति वादक भेद को, अरु पुनि कहे अभेद।
तिनहीं करके दूर होय, असंभावना खेद।।२।।

अर्थ यह है कि पूर्व-गुरुमुख से महावाक्यों का जो श्रवण किया था उसको एकान्त स्थान में बैठ के विचार करके सार और असार के शोधन करने को मनन कहते हैं। शिष्य कहता हैः-

"हे भगवान! आपने जो सार असार का शोधन कहा सो सार क्या है, और इनका शोधन किस प्रकार होता है? सो आप कृपा कर कहिए।" इस प्रकार गुरु कहते हैं - "है शिष्य! पूर्व 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि जिन महावाक्यों का श्रवण कहा है; उन सर्ववाक्यों के तीन-तीन पद होते हैं। अहं पद जीव का वाचक होता है, ब्रह्मपद ईश्वर का वाचक होता है। अस्मद् पद चेतन मात्र का बाचक होता है। शुद्ध सतोगुण वाली माया में चेतन का जो आभास पड़ा है, उसको ईश्वर कहते

हैं और मलिन सतोगुण वाली जो अविद्या है, उसमें चेतन का जो आभास है, उसको जीव कहते हैं। इस प्रकार अल्पज्ञ जीव, अल्पशक्ति, पराधीनता आदि अनेक जीवत्व धर्म वाला है। माया में आभास जो ईश्वर है सो कैसा है? सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है और स्वतंत्र है। इनके अतिरिक्त और भी ईश्वर धर्म उसमें बहुत हैं। परन्तु जीव और ईश्वर के अल्पज्ञता, सर्वज्ञता आदि जितने धर्म कहे जाते हैं; सो सब उपाधिक धर्म हैं। वास्तव में उनके कोई धर्म नहीं है। क्योंकि यह माया और अविद्या उपाधि है, इसी से जीव और ईश्वर में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का आरोपण किया जाता है। वास्तव में चेतन का कोई धर्म नहीं है।

अतः जो कोई धर्मों सहित जीव और ईश्वर की एकता कहता है वह महामूर्ख है। क्योंकि दोनों के धर्मों का आपस में विरोध है फिर जिनको विरोध हो, उनके संबंध में एकता कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? जैसे कोई मलीन कर्म करने वाले भंगी को ब्राह्मण से एकता कहे, तो वह सम्भव कैसे होगी? ब्राह्मण का धर्म तो वेद अध्ययन आदि शुद्ध है, और भंगी का कर्म मूत्र विष्टा उठाना मलिन है इससे उन धर्मों का विरोध है। और जब धर्मों का त्याग दें, तो मनुष्य मात्र में एकता बन सकती है, उसमें कोई भी विरोध नहीं है।

जैसे घटाकाश और मठाकाश की घट, मठ उपाधि के सहित एकता कहें तो नहीं बनती है। क्योंकि घट में दस सेर अन्न समाता है, और मकान में हजारों मन आ सकता है। फिर उनकी एकता कहना कैसे बने? इससे उपाधि सहित एकता कहना विरुद्ध है। घर मठ रूपी उपाधि और उसके जो आनन रूप धर्म है, उन सर्व को त्याग के केवल आकाश मात्र की एकता बनती है। इसी प्रकार माया अविद्या और उनके सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदि धर्मों के सहित एकता नहीं बनती है। परन्तु उन सर्व को त्याग के "चेतन मात्र एक ही हैं, वही सार है और सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदिक धर्म सहित माया-अविद्या असार है" इस प्रकार से विचार करके सार और असार को भली प्रकार निश्चय करना चाहिए।

अब दूसरे दोहे का अर्थ कहते हैंः- प्रमेय कहिए-जीव ब्रह्मत्व, एकत्व-गत-कहिए-उसमें असंभावना, अर्थात्-संशय और खेद। अर्थात् दुःख रूपी भेद की बाधक और अभेद की साधक जो युक्तियाँ हैं। उनसे प्रमेय गत असंभावना को दूर करे। यदि ऐसा कहें कि प्रमेयगत असंभावना क्या है? तो सुन, यह जो वेदान्त शास्त्र के वचन 'जीव ब्रह्म के भेद' को अथवा 'अभेद' को कथन करते हैं, इसका

नाम 'प्रमेयगत असंभावना है। इसकी निवृत्ति के वास्ते भेद के बाधक और अभेद के साधक महावाक्यों के अर्थ का युक्तिपूर्वक बारंबार चिन्तवन करना चाहिए इसी को मनन कहते हैं। अपने चित्त में इस प्रकार का विचार करें कि वास्तव में द्वैत है नहीं। क्योंकि यदि परमार्थ से द्वैत होता तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए कहते हैं कि परमार्थ से एक चेतन सत्‌रूप, त्रिकालाबाध है। जो वस्तु परमार्थ से सत् हो, उसकी तीन काल में निवृत्ति होती नहीं है। और द्वैत की तो अद्वैत ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। इससे द्वैत माया मात्र है। सो माया और उसका कार्य-प्रपंच-मिथ्या होने से मुझ चैतन्य में द्वैत कर सकता नहीं। जैसे वास्तविक रज्जू में सर्प है ही नहीं, तो फिर वह किसको काटेगा? तैसे ही वास्तविक माया का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। इसी से माया को 'अचिन्त्य शक्ति' कहा है, जो युक्ति के आगे ठहर नहीं सकती। वह युक्ति यह है कि (१) यदि माया को सत्य कहैं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-सत्य वस्तु का नाश नहीं होता है, और माया का ज्ञान से नाश हो जाता है। इससे माया सत्य नहीं कही जाती। और (२) जो माया को असत्य कहें, तो भी बात नहीं बनती। क्योंकि-माया और माया के कार्य की जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों काल में प्रतीति होती है। इसीलिए असत्य भी नहीं कही जाती है। (३) सत्य-असत्य दोनों को मिलाके कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-जब सत्य, असत्य ही संभव नहीं तो मिलाने की बात कहां? इससे किसी रीति से भी माया का स्वरूप नहीं बनता और यदि ऐसा कहें कि (४) 'माया चेतन से भिन्न है', तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि चेतन से माया भिन्न है तो जिस देश में माया है उस देश में चेतन का अभाव होगा। और चेतन को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है। इस से वेद विरोध होगा। अतः भिन्न कहना भी नहीं बनता है। यदि ऐसा कहें कि (५) 'माया चेतन से अभिन्न है' सो भी नहीं बने, क्योंकि चेतन स्वरूप में स्थिति होने को ही मोक्ष कहते हैं। जब नाना प्रकार के साधनों से चेतन स्वरूप में स्थित होगी, तो मोक्ष दशा में जीव के साथ माया फिर चिपट जावेगी, जिससे सब साधन निष्फल होवेंगे। अतः माया को 'अभिन्न' कहना भी नहीं बनता है। और फिर (६) 'भिन्न अभिन्न' मिला के कहें? सो भी नहीं बनेगा। यदि माया को (७) 'सावयव' कहें? तो भी नहीं बने, क्योंकि-माया सावयव हो तो माया की प्रीतीति होनी चाहिए। परन्तु वह नत्र से किसी को प्रतीत होती नहीं है। और (८) जो माया को 'निरवयव' कहें? तो उससे जगत् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि-निरवयव पदार्थ से किसी की भी उत्पत्ति देखने में आती नहींहै, मृत्तिका आदिक

सावयव पदार्थों से घट आदि की उत्पत्ति देखने में आती है, निरवयव से किसी की उत्पत्ति नहीं होती है, इससे माया को उपादान कारण कहा है। परन्तु-निरवयव भी बनता नहीं। और (९) सावयव निरवयव मिला के कहें? सो भी नहीं बनेगा। क्योंकि सावयव निरवयव तो उसका स्वरूप बना ही नहीं तो मिला के कैसे बनेगा? किन्तु किसी भी रीति से माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। इससे मिथ्या माया से द्वैत नहीं होता। जैसे मिथ्या सर्प से रज्जू विषवाली नहीं होती है, तैसे ही मिथ्या मायासे चेतन आत्मा में द्वैत नहीं होता है। माया उसे कहते हैं कि है तो नहीं और है ऐसी भासे।

जैसे 'बाजीगर की बाजी' तैसे ही ब्रह्म आत्मा का वास्तव भेद नहीं है, और भेद की नांई प्रतीति होती है, इसी को माया कहते हैं। और जो ऊपर नौ युक्तियाँ कही हैं, उनसे माया का स्वरूप नहीं बनता है तो आत्मा से ब्रह्म जुदा कैसे होगा? और जो आत्मा से ब्रह्म को जुदा कहो तो-आत्मा से जो भिन्न है सो सब अनात्मा ही कहा जाता है, इससे ब्रह्म भी आत्मा से जुदा होगा तो वह भी अनात्मा ही होगा।

ब्रह्म को 'अनात्मा' किसी वेद शास्त्र ने अंगीकार किया नहीं है। इसी से जाना जाता है कि आत्मा से ब्रह्म जुदा नहीं है। और जो आत्मा का ब्रह्म से जुदा कहें सो भी बने नहीं। क्योंकि जिस देश में आत्मा है उसी देश में ब्रह्म नहीं होगा। और ब्रह्म को तो वेद ने सर्वव्यापी कहा है। अतः वेद से विरोध होगा। यह किसी भी आस्तिक जन को अंगीकार नहीं हो सकता, इससे आत्मा भी ब्रह्म से जुदा नहीं है। ब्रह्म और आत्मा दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, जैसे वृक्ष ओर तरु दोनों पयार्य हैं। जैसे एक ही आकाश के उपाधि भेद से चार नाम कहे हैं तैसे ही उपाधि के भेद से चेतन के अनेक नाम कहे जाते हैं। जैसे घट उपाधि से घटाकाश कहते हैं, और जल उपाधि से जलाकाश कहते हैं। बादल की उपाधि से मेघाकाश कहते हैं, और सर्व पदार्थों के अन्तर बाहर होने से महाकाश कहा जाता है। परन्तु आकाश में कोई टुकड़े नहीं हुए हैं, वह तो एक ही है। तैसे ही-कूट कहिये मिथ्या बुद्धि और चिदाभास, उनमें जो निर्विकार चेतन है, वही कूटस्थ कहा जाता है। और बुद्धि व अज्ञान में चेतन के आभास को जीव कहते हैं। और सर्व पदार्थों के अन्तर बाहर जो व्याप रहा है, उसको ब्रह्म कहते हैं। इस रीति से नामों का ही भेद हे, वस्तु भेद है नहीं, अर्थात्-ब्रह्म से आत्मा जुदा नहीं है। आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही चेतन के नाम हैं। और ब्रह्म आत्मा का जो भेद जानते हैं, उनके लिए वेदों में भेद

का कथन किया है। भेद दृष्टि वाले को पशु भी कहा है। इससे भी जाना जाता है कि वेद भगवान् का भी अभेद में ही तात्पर्य है। जब इस प्रकार की युक्तिपूर्वक महावाक्यों के अर्थ का चिंतन करेगा, तब ब्रह्म आत्मा का अभेद निश्चय होकर एक परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा। और जो अनात्मा पदार्थों का भेद भासता है, सो भी युक्ति से विचार करने पर नहीं भसेगा। सो युक्ति यह है कि-जितना पृथ्वी का कार्य घट, पट, वृक्ष, पहाड़ आदि हैं, सो सभी पृथ्वी रूप ही हैं, तैसे ही पृथ्वी जल का कार्य होने से जलरूप ही है। इसी प्रकार जल अग्नि का कार्य होने से अग्नि रूप ही है। ऐसे ही अग्नि वायु का कार्य होने से वायु रूप ही है, वायु आकाश का कार्य होने से आकाश रूप ही है और माया विशिष्ट ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति कही है, सो उसका कार्य होने से माया विशिष्ट रूप ही है। उसमें जो माया भाग है सो तो पूर्व कही रीति से मिथ्या है और चेतन भाग ब्रह्म आत्मा रूप एक ही है। इस रीति से द्वैत नहीं है। क्योंकि किसी भी तरफ को चलो आकाश तो एक ही है। तैसे ही विधि मुख करके देखो तो आत्मा से ही सर्व विधान करना पड़ेगा और जो निषेध मुख करके देखो तो आत्मा में ही सबका निषेध कहना होगा। किसी भी रीति से द्वैत नहीं बनता है। तेरी कल्पना में ही द्वैत है, सो कल्पना मात्र ही है, जो तुझ अधिष्ठान से जुदा नहीं है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती है। ऐसी युक्तियों का बारम्बार विचार करने का नाम 'मनन' है। इस प्रकार मनन करने से सार का ग्रहण होता है। यही उसमें 'रत्नपना' है और श्रवण ही उसका 'कारण' है। क्योंकि श्रवण बिना मनन नहीं होता है। और साधारण असाधारण भेद से दो प्रकार का उसका 'स्वरूप' है। प्रमेयगत असम्भावना की निवृत्ति उसका फल है। महावाक्यों का अर्थ दृढ़ निश्चच नहीं हो तब तक चिंतन करना चाहिए, और जब दृढ़ निश्चय हो जावे तब नहीं करना यही उसकी 'अवधि' है।

- (चौदह रत्न गुप्त सागर)

-जिस प्रकार गाय चरकर आनेपर निवृत्ति से बैठकर पागुर करती है, उसी के उसकी तृप्ति होती है। उसी प्रकार वेदान्त श्रवण करने के पश्चात-एकान्त में खूब मनन करने से 'दृढ़-बोध' रूपी तृप्ति होती है।

- (पंची करण)

ॐ

आरती नं. ४

(शिव भाव)

ॐ अचलं गुरुदेवं

ॐ[१] अचलं गुरुदेवं, गुप्त प्रगट परिपूरण[२]।
ॐ[२] गुप्त प्रगट परिपूरण, श्री नित्यानन्दं।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।टेक।।

भावार्थः- हे शिष्य! प्रणवरूप परमात्मा अचल है। निश्चय करके प्रणवरूप परमात्मा चंचलता रहित-विक्षेप रहित है,और वह अन्तर बाहिर परिपूर्ण हैं। निश्चय करके परिपूर्ण सर्वसिद्धि सम्पन्न, नित्यानन्द स्वरूप है। (वही तेरा असली स्वरूप है।) हे प्रणव प्रिय आत्मा! तू जय (मुक्तरूप है), इसलिए स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके ज्ञानरूप देव बन मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! (टेक)

---

१. (अ) प्रणवो धनुःशरोह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं, शरवत्तन्मयो भवेत् ।। (मु. २/२४)
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (मु. २/८)

अर्थात्-ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम-सबसे बड़ा कहाता है, वह धनुष है, और आत्मा निश्चय तीर है तथा जिस लक्ष्य पर बाण लगाना है, वह 'ब्रह्म' परमात्मा है। अर्थात् ॐ के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष्य पर लगा करता है। परन्तु-बहुत ही सावधानी से इस बाण को लगाना चाहिए, क्योंकि बेपरवाही से यह बाण नहीं लग सकता। अतः आलस को त्याग अपने कर्तव्य पर आरूढ़ होकर ॐ के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना-चाहिए। जिस प्रकार धनुष से छूटा हुआ बाण सीधा लक्ष्य की ओर जाता है, बीच में इधर-उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। इधर-उधर नहीं भटकना चाहिए, ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे। जैसे परमात्मा सत्, चित्, आनन्द है, इसी प्रकार जीव भी आनंद प्राप्त करके सच्चिदानन्द बन जाये क्योंकि आत्मा सत्, चित्, पूर्व से ही है, आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ, अतः

जीवात्मा परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द बन जायेगा। परमात्मा का साक्षात्कार होने से देहादिक बन्धन, सर्व संशय तथा समस्त कर्मसमूह नष्ट हो जाते हैं।

(ब) यह आत्मा स्थूल और सूक्ष्म देह से भिन्न है, सबका दृष्टा है, व्यापक है, स्वयं ज्ञानवाला है, प्रकाशक है तथा आकाशवत् है। जैसे-अग्नि दाह्य काष्ठ के मध्य ही रहता है, परन्तु काष्ठ से भिन्न है, प्रकाशक है और काष्ठ को दाह करता है, जैसे काष्ठ में प्रविष्ठ अग्नि काष्ठ के संग में उत्पत्ति, नाश, अल्पता, महत्व और नानात्व गुणों को धारण करता है, तैसे ही यह आत्मा भी इस देह के संग से देह के गुणों को धारण करता है, पर देह से भिन्न और अमर है। यदि कोई कहे कि जो देह से आत्मा भिन्न है तो देह के गुण क्यों धारण करता है? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर के आधीन, माया के गुण से पुरुष का यह स्थूलादि शरीर उपजाया हुआ है। इस देह में मैं और मेरा यह अभिमान करने से ही जीवात्मा संसार में गिरता है। इससे उद्धार पाने का उपाय 'आत्मविद्या' है। इसलिए अपने ही में स्थित, देह से भिन्न, आत्मा के ज्ञान की इच्छा से, आत्मा में चित्त मिलाय, क्रम से स्थूल और सूक्ष्म देहादिकों में आत्मबुद्धि को छोड़े। यह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है सो कहते हैं-आचार्यरूप नीचे की अरणी, शिष्यरूप ऊपर की अरणी तथा उपदेशरूप मंथन का काष्ठ, इनसे ब्रह्म-विद्यारूप, परम सुखदायक,अग्नि उत्पन्न होता है। जिस समय बुद्धिमान् गुरु से चतुर बुद्धिवाला शिष्य यह विद्या रूपी-अग्नि पाता है, तब यह विद्या-रूपी अग्नि गुणों के कार्यरूप संसार की निवृत्ति करके, जिनसे निर्मित होकर यह जगत् जीव के संसार का निमित्त रूप होता है; उन गुणों को भस्मकर काष्ठ रहित अग्नि के समान आप भी शांत हो जाता है। इसी प्रकार कार्य कारण और विद्या की एकता होने से जीव परमाननन्द रूप होता है। - (श्री भा.११/१०/८/१३)

श्री भगवान् ने अर्जुन के प्रति 'श्री गीता जी में योग का सूचन किया है उसका पृथक्करण यह योग-गीता है (योगश्चित्त वृत्ति निरोधः) 'चित्त वृत्तिका निरोध' यही योग है, चित्त वृत्ति का निरोध प्राण के निरोध से होता है, कारण कि प्राण का व चित्त का बहुत निकट का सम्बन्ध है। चित्त अथवा मन सवार रूप है और प्राण उसका वाहन रूप घोड़ा है, इससे प्राण द्वारा मन बाहर जाता है और प्राण का निरोध होने से मन रुकता है, और उसके लिए प्राणायाम आदि क्रियाएँ सूचन को हैं। एकाग्र दृष्टि रखने में भी प्राण का निरोध तथा मन का निरोध होता है, तैसे ही ध्वनि सुनने में प्राण का निरोध होता है और इसलिए कितनेक सगुण ब्रह्म की मूर्ति रूप मानसिक उपासना करते हैं कि जिसमें बाहिर की चक्षु दृष्टि को रोककर अन्दर को मन रूप दृष्टि से मन से मूर्ति की कल्पना करने में आती है और उसमें सेवा, पूजा, भोग आदि सामग्री मन ही से कल्पी जाती है, तैसे ही उससे अनुग्रह भी मांगने में आता है, इस प्रकार की मानसिक पूजा योग का एक अंग है-स्वरूप है; इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म की मानसिक उपासना भी योग का स्वरूप है।

यह उपासना बहुत काल के अभ्यास से दृढ़ होती है, यानी वह धारणा रूप हमेश के सेवन के ध्यान रूप फल अथवा योग रूप हो फलती है, ज्ञान होने से पूर्व जो इसका सेवन किया हो तो मन को विषयों के तरफ से रोकने में सहायकारी होता है इससे काल पाकर मन को निर्वासिक कर सामान्य निर्विकल्प रूप स्थिति से पहुंचाता है इसलिए उभय कल्याण के हेतु से श्री भगवान् ने अर्जुन के प्रति गीता योग का सूचन किया है।

अर्जुन पूछते हैं कि- हे श्रीकृष्ण भगवान् ॐकार का महात्म्य रूप तथा स्थान मुझे कृपा करके कहो।

श्री भगवान् कहते हैं किः-

ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम्।।

(गीता.८/१३)

ब्रह्मा, विष्णु और महेश मेरे ॐकार स्वरूप के रक्षण करने वाले हैं, अग्नि, वायु और ूय यह तीन उसके देवता हैं, अग्नि उसका स्थान है, वहाँ तीनों वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। अब उनकी उत्पत्ति और वर्ण कहता हूँ वह सुनोः-

ॐकार से वेदों की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद का नीलवर्ण है, रजोगुण से उसकी उत्पत्ति हुई है। सामवेद का श्वेत वर्ण है- तमोगुण से उत्पत्ति हुई है। ॐकार का अक्षर परम नाम और शांति रूप है, मकार उसका कीलक है। ॐकार अक्षर ब्रह्मरूप है, हृदय कमल विषे रहता है।

पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, ब्रह्मा यह चार अकार अक्षर के साथ हैं, यजुर्वेद और सनातन विष्णु यह दो उकार अक्षर के साथ हैं तथा आकाश, सूर्य, सामवेद और महेश्वर यह चार मकार अक्षर के साथ हैं।

अब तीनों अक्षरों की उत्पत्ति और वर्ण कहता हूँ। अकार अक्षर का पीला वर्ण है, रजोगुण से उत्पन्न हुआ है। उकार अक्षर शुक्ल वर्ण है सत्वगुण से उत्पन्न हुआ है, मकार अक्षर कृष्णवर्ण है तमोगुण से उत्पन्न हुआ है। हे अर्जुन अकार, उकार और मकार यह तीनों अक्षर मिलकर एक ॐकार होता है। ॐकार कैसा है कि मानो ज्योति स्वरूप है और तीन उसके स्थान हैं और तीन उसकी मात्रा हैं और तीन उसके स्वरूप है, तीन उसके देवता हैं ऐसा ॐकार ब्रह्मरूप है। ॐकार से वेद उत्पन्न हुए हैं, ॐकार से देवता उत्पन्न हुए हैं और ॐकार से स्थावर, जंगम, त्रिलोकी उत्पन्न हुई है। ॐकार रूप ब्रह्म हृदय कमल विषे निवास करता है, उसके अभ्यास में अच्युत भगवान् रहते हैं, उन भगवान् की ब्रह्मरूप यज्ञ से (ज्ञान से) पूजा होती है। अब ब्रह्म यज्ञ की सामग्री कहता हूँ वह सुनोः-

इस यज्ञ में दृढ़तारूप अग्नि, मन की अखंड स्वरूपाकार वृत्ति और संतोष रूप समिध, इन्द्रियाँ रूपी अर्घ्य आदि इस यज्ञ की सामग्री है। देवता रूप परमात्मा जगत् के कर्ता अग्नि के विषे रहे हुए हैं। और उसके नीचे ईंधन रूप लकड़ी आत्मा है और ऊपर की लकड़ी यह ॐकार का ध्यान है इस ध्यान को मथो तो इस देह के विषे ही परमात्मा रूप वह अग्नि प्रकट होती है जो वह अग्नि थोड़ी होवे तो पाप को भस्म करती है और जो विशेष होती है तो मुक्ति रूप निर्वाण पदको पहुँचाती है। तीन प्रकार का ॐकार का ध्यान है। उस ध्यान से ब्रह्म की पूजा करे अथवा यजन करे और तेल की धारा के समान सूक्ष्म मंत्र लंबी धारावत् ॐकार के उच्चारण रूप करना है। घंटा के समान वहाँ शब्द होता है ऐसे अविनाशी ॐकार को जो जानता है वही वेदवेत्ता पुरुष है। अब वायु के आराधन की विधि कहता हूँः-

पूर्वक (पूरक) वायु, विषे ब्रह्मा का ध्यान करे, वह ब्रह्मा कमलासन के ऊपर बैठे हुए हैं, रक्त वर्ण चतुर्मुख ब्रह्मन् हृदय का ध्यान करता है। और कुंभक विषे विष्णु का ध्यान करे, का कि जो श्याम वर्ण चतुर्भुज ब्रह्म नाम के ध्यान करता है और रेचक विषे महेश्वर का ध्यान करै, कैसे कि महेश्वर माया से पर हैं। अक्षरऔर मात्रा सर्व का बिन्दु आश्रय है। ऐसे अकार उकार मकार और अर्धमात्रा रूप बिंदु मिल कर ॐकार रूप नाद से बिंदु को बींधे उसे नाद से इस प्रकार बींधे कि ॐकार की ध्वनि का नाद प्राण को समान करे। नाड़ी से वायु को चलावे, जिह्वा अग्र से वायु को रोके जो वायु स्थिर होवे तो योगी योग की युक्ति को पावे नासिका के बीच मे वायु का संचार करे और आगे निरालंब पद है उसे प्राप्त होवे और नीचे का वायु रोका करे और ज्योति सहित ब्रह्मरूप को मिलने के प्रवाह को प्राप्तकरे। कैसे हैं हरि भ्रम से पार, वहाँ अनहद शब्द होता है, उस शब्द में ध्वनि होती है, उस ध्वनि में ज्योति है, ज्योति में मन रहता है वहां मन लवलीन (लय) होता है। वह विष्णु का परम पद है उस ध्यान को 'ब्रह्म' कहते हैं। उस ब्रह्म को पाने से परमानन्द की प्राप्ति और स्थिति होती है। पूर्वक कुंभक व रेचक के वखत (समय) हृदय विषे स्थित जो परमहंस परमात्मा भगवान् हैं उन्हें नमस्कार करना। परमात्मा कैसे हैं कि अंत और अनित्य से रहित निर्दोष हैं-उस ईश्वर को भजने से मुक्ति मिलती है। जो ऐसे भगवान् को (शून्यरूप) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सत्यरूप आत्मा को जानता है वह पाप और पुण्य से निर्लेप रहता है। अब शून्य की महिमा सूनोः-

शून्य से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है। उसके ध्यान को ब्रह्म कहते हैं, वह नाभि कमल विषे कमल है वहाँ दश अंगुल कमल की नाल है वह नाल बहुत कोमल है उसका मूल ऊर्ध्व है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।

(गीता १५/१)

उस कमल का वर्ण केले के फूल सरीखा है और कमल की जाति प्रकाश रूप है। उस कमल के मोटे ठाण (पत्ते) हैं, और अति सुन्दर पुरुष पुरुषोत्तम उस कमल के विषे बसते हैं वहां आनन्दमयी स्थल है वह विष्णु का परम पद है।

अर्जुन पूछते हैं कि हे भगवान्! हृदय विषे जो ऊर्ध्व मूल कमल कहा है वह जानना भी कठिन है। और प्राप्त करना भी कठिन है। इसलिए उस कमल के प्राप्त करने की युक्ति मुझे बतलाओ।

श्री भगवान् कहते हैः- हे अर्जुन! ऊर्ध्व मूल जो कमल कहा उसे ॐकार की आराधना करके सीधा करो, उस कमल के गर्भ में जाकर कमल को प्रकाश करे तो व्याधि का नाश होवे और शरीर में परम सुख उपजे, उस कमल में डोड़ी है उसके पहिले पत्र हैं केशर सरीखा रंग है उस डोढ़ी विषे पूर्ण पुरुष विष्णु निवास करते हैं, अंगुष्ठ मात्र मुनि लोगों ने उसका वर्णन किया है उस कमल के आठ पत्र हैं उन आठों पत्रों पर इन्द्रादिक देवता बास करते हैं वे देवता भी ज्योति स्वरूप हैं। उस कमल की डोड़ी में सूर्य बसते हैं, सूर्य के ऊपर चन्द्र है, चन्द्र के ऊपर अग्नि है, अग्नि में ज्योति है, ज्योति में सिंहासन है, कैसा है सिंहसन कि नाना प्रकार के रत्नों से जड़ा हुआ सूर्य सरीखा प्रकाशरूप उस सिंहासन पर देवताओं के श्री देवता देवयतिनारायण बसते हैं।

कैसे हैं नारायण? निर्दोष सुख निधान हैं, उन नारायण का स्वरूप और वर्ण कहता हूँ- वे अति सुन्दर रूप है, अष्टभुजा, प्रफुल्लित कमल की भांति अष्ट हस्त, उन अष्ट भुजाओं में अष्ट आयुध हैं, कौन से आयुध कि? शंख, चक्र, गदा, मूशल, खड्ग, धनुष बाण अंकुश ऐसे हरि हैं, सुवर्ण के कमल, सरीखे परम शुद्ध हैं, शुद्ध सफेद सरीखे परम शुद्ध निर्मल हैं, कोटि चन्द्रमा की कान्ति को धारण करे हुए हैं, कोटि सूर्य सरीखा प्रकाश और कोटि चन्द्रमा सरीखी शीतलता है भुजा विषे बाजूबंद है, चरणों विषे नूपुर हैं, कंठ विषे चन्द्रघंटा और कटि विषे तंडादि है और कानों में मुकुन्द कुण्डल है चार युग वर्ण धारण किए हुए हैं चार आकार धारण किए हुए हैं, सत्ययुग, शुक्र, त्रेता रक्त, द्वापर पीत, कलियुग नील, ऐसे चार वर्ण हैं, सूक्ष्म रूप हैं, निराकार हैं, अप्रमेय हैं, मर्यादा से रहित अपार हैं अति निर्मल हैं ज्योति स्वरूप हैं, ऐसे पुरुषोत्तम ज्ञान-विज्ञान के कारण रूप हैं किसी भी वस्तु की साधना की अपेक्षा से रहित हैं नाद ओर विंदु की कला से अतीत हैं, जो ऐसे पुरुषोत्तम को जाने उसे ही वेद वेत्ता समझना।

अर्जुन पूछते हैं कि अदृश्यरूप वस्तु विषे किस प्रकार भावना उत्पन्न हो सके? और दृश्य रूप वस्तु नाशवाली है तो अक्षर जो ब्रह्म वरण चिह्न से रहित है उसका योगी पुरुष किस प्रकार ध्यान करते हैं? श्री भगवान् कहते हैं कि वे ब्रह्म को सर्व में निरंतर परिपूर्ण जानते हैं और अपने आप विषे भी आदि, अन्त और मध्य विषे उसे परिपूर्ण रहा हुआ जानता है और वह ज्ञान रूप समझे यही उनकी समाधि है।

हृदय विषे कमल की डोढ़ी विषे शुद्ध स्वरूप भगवान् हैं ॐकार मंत्र से उस भगवान् का नाम उच्चारण करें वह मुक्ति को पावे। इसलिए हे अर्जुन! उठते, बैठते, सोते, चलते, सर्वकाल, विषे मेरा नाम स्मरण करे, वह योग युक्त होता है इसमें संशय नहीं।

मन्मना भव मद्‌भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्यैव मात्मानं मत्परायणः।।

(गीता १८/६५)

स (अ) प्रणव माहात्म्यः-

ॐ यह अक्षर परमात्मा का निर्देशकारी विज्ञान-घन आप्त चिन्तामणि है। ॐ अक्षर पृथक्-पृथक् बहने वाली शब्द और अर्थ की धारा का गंगा-यमुना समान संगम करके, ज्ञान सरस्वती आविर्भूत कर अहंभाव में रहने वाली विचार भिन्नता को त्रिवेणी स्नान कराके उस स्पन्दन स्फुरण वा संवित को पवित्र कर देता है। ॐ के चिंतन क्रम में अर्थात् जप में पूर्ण लक्ष्य देने से बैखरी में वाचक शब्द और उसके अर्थ का संयोग कर मध्यमा में विचार व विचारणीय अर्थ का एकत्व सिद्ध करके साधक ऊर्ध्वगति प्राप्त कर लेता है। इन दो भूमिकाओं का उल्लंघन करने से मन और प्राण का जय होता है, क्योंकि ऊपर वर्णन किए अनुसार मध्यमा में विज्ञान स्पंदन के साथ बुद्धि वृत्ति का संयोग होता है। जब मध्यमा और बैखरी का शमन हो जाता है। तो मन, बुद्धि और प्राण का भी शमन हो जाता है। चन्द्र सूर्य और मन प्राण के शमन से ईड़ा और पिंगला नाड़ी निरुद्ध होती है। और उर्ध्वमार्ग में प्रयाण कराने वाली विषुवत्-सुषुम्णा अर्थात् मध्य नाड़ी खुल जाती है है। पश्यन्ती वाणी में होने वाले जप से अर्थात् ध्यान जप से ऊर्ध्वगति में जाने वाला उपासक अंत में महाव्योम अर्थात् मूर्ध्नाकाश में प्रवेश करता है जहाँ नाद शक्ति का और ज्ञान शक्ति का अथवा शब्द का और अर्थ का परम एकीभाव प्रकट होता है। इस अवस्था में आपाततः साधक के विचार स्फुरण में स्वयंसिद्धि विज्ञानघनत्व करतलामलकवत् हो के आन्तर जगत् प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् वह अपने को उत्पादक, व्यापक, विज्ञानघन, निरंजन, सर्वगामी, स्पन्दनतत्व रूप, विचार-शक्ति पूर्ण अनुभव करता है। - (वि.द.)

"तस्य वाचकः प्रणवः" उसका वाचक प्रणव होता है। (यो.द.१/२७)

दोहाः- प्रणव कहत ॐकार को, है ईश्वर को नाम।
सुमिरण ते सब दुख कटत, चित्त लहत विश्राम।।

उस ईश्वर का वाचक प्रणव (ॐकार) है। अर्थात् ॐ यह ईश्वर का अति उत्तम नाम है केवल इस नामसे ईश्वर के अनेक नाम गुणों का ग्रहण होता है। (अ उ म्) ये तीन अक्षर मिलकर ॐ होता है। अकार विराट्, अग्नि, विष्णु आदि अर्थ का वाचक है, उकार से हिरण्यगर्भ, शंकर, तैजस नामों का ग्रहण होता है। अब उन सबका अर्थ भाषा में वर्णन किया जाता है-ईश्वर विराट् है अर्थात् विविध प्रकार के जगत् में शोभित प्रकाशित है। अग्नि है अर्थात् वेदशास्त्र ज्ञानवानों से सत्कार किया गया व पूजित है। विष्णु है अर्थात् सम्पूर्ण आकाश से पृथ्वी पर्यंत भूतों में व्यापक है। हरिण्यगर्भ अर्थात्-सम्पूर्ण हिरण्य नाम तेजवान पदार्थ सूर्य आदि जिस के गर्भ में अर्थात्-अंतर्गत प्राप्त है ऐसा हिरण्यगर्भ ईश्वर है। शंकर है अर्थात् कल्याण-आनंद का करने वाला है। तैजस है अर्थात् तेज स्वरूप प्रकाश रूप है। ईश्वर है अर्थात्-संपूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त है। प्राज्ञ है अर्थात्-ईश्वर अति उत्कृष्ट ज्ञान रूप है, प्रकृति है-प्रकर्ष करके जब जगत् का उत्पन्न करने वाला कारण है। यह सब स्तुति वाचक नाम और अर्थ का ग्रहण ॐ शब्द मात्र से होता है, यह संक्षेप अर्थ है, इससे अधिक प्रणव का अर्थ है। इससे अनेक ईश्वर के नाम व स्तुति वाचक प्रणव ईश्वर के सब नामों में से उत्तम नाम है।

''तज्जपस्तदर्थ भावनम्'' (यो.द.१/२८)

उसका जप उसके अर्थ का भावन है।

दोहाः- ओंकार जप अर्थयुत, अर्थ अनुरूप स्वरूप।
ईश्वर की कर भावना, भारत रूप अनूप।।

उसका अर्थात् प्रणव का जप व उसका अर्थ जो ईश्वर है, उसका भावन है अर्थात् प्रणव का जप करते हुए ईश्वर की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है व एकाग्र व जप आभ्यास में प्राप्त चित्त में परमात्मा प्रकाशित होता है।

ततः प्रत्यक्चेतानाधिगमोप्यन्तराया भावश्च।। (यो.द.१/२९)

तिस से भिन्न चेतना का साक्षात्कार होता है व विघ्नों का भी अभाव होता है।

दोहाः- ईश्वर के प्रणिधान ते, होत आतमा भान।
आन्तरीय सब विघ्न को, तब अभाव पहिचान।।

तिससे अर्थात् -प्रणव के जप व ईश्वर प्रणिधान से जैसे ईश्वर असंग, ज्ञानरूप, क्लेश आदि शून्य है इसी तरह जीव चेतन रूप क्लेश रहित है। सदृश होने से ईश्वर के ध्यान से ईश्वर से अनुग्रह द्वारा जीव स्वरूप चेतन सब क्लेशों से भिन्न साक्षात्कार होता है व योग के विघ्नों

का भी अभाव (नाश) होता है। - (योग दर्शन१/२७-२९)

(ब) एकान्त में पद्मासन में बैठ, शरीर को सम रख नासाग्र पर दृष्टि रखकर ॐकार जपे, स्थूल सूक्ष्म तथा कारण यह तीन शरीर हैं, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरिया ये चार अवस्थाएँ हैं। जाग्रतावस्था का अभिमानी विश्व स्थूल भोग का भोक्ता है, स्वप्नावस्था का अभिमानी तैजस सूक्ष्म का भोक्ता है, सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ आनन्द का भोक्ता है, तुरिया में अनुभव में आने वाला आत्मा सर्वसाक्षी है विराट् और विश्व अकार, हिरणयगर्भ और तैजस उकार और अव्याकृत और प्राज्ञ मकार है पवित्र वा अपवित्र जो सर्वदा प्रणव जपता है वह पाप से लिपायमान नहीं होता। - (योग चूड़िमणि उपनिषद्)

(स) जो बहुत बड़ा पाप होवे तो भी वह ध्यान योग द्वारा नाश पाता है। शब्द का कारण शक्ति है इस शक्ति से परे सच्चिदानंद रूप ब्रह्म है, इसको जो जानता है वह संशय रहित होता है। शुद्ध ब्रह्म अति सूक्ष्म है पुष्प में जैसे गंध है, दूध में जैसे घी और तिल में जैसे तेल है, उसी प्रकार शरीरादि में ब्रह्म है। जैसे डोरे में पारे रहते हैं वैसे ही आत्मा में सर्वभूत मात्र है। स्थिर बुद्धि वाला अतः अविवेकरहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित है। पूरक काल में नाभि स्थित श्री विष्णु का ध्यान करे, कुंभक काल में हृदय में स्थित श्री ब्रह्मा का ध्यार करें और रेचक काल में ललाट में स्थित पाप के नाश करनेवाले श्रीशंकर का ध्यान करें, आठ पंखड़ियों वाला तथा केल के पुष्प सरीखा अधोमुख कमल यह हृत्कमल कहलाता है इसमें सर्वदेव हैं। नाभि-हृदय और मूर्धा यह तीन स्थान, वहाँ वृत्ति ले जाने के तीन मार्ग, विष्णु, ब्रह्मा और शंकर के तीन ईश्वर; अकार, उकार और मकार यह तीन अक्षर व मात्रा और अर्धभामा इसे जो जानता है वह वेद वेत्ता है। तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न तथा बड़े घंटे के नाद सरीखा, वाणी से नहीं उत्पन्न हुआ, और प्रणव के पीछे प्रतीत होनेवाले नाद की जो उपासना करता है वह वेद वेत्ता है। प्रणव धनुष, जीव बाण और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है-प्रमाद का त्याग कर, बाण की तरह तन्मय होकर वह लक्ष्य बींधने के योग्य है लिंग देह को नीचे की अरणी करके तथा प्रणव को ऊपर की अरणी करके ध्यान रूप मंथन के अभ्यास से सूक्ष्म दृष्टि द्वारा परमात्मा को देखे।

जैसे कमल की नाल से मनुष्य जल को मुख में खींचता है वैसे ही साधक वायु को भ्रू-मध्य तरफ चढ़ाने अर्धमात्रा को डोरी करके कूपरूप आधारादि कमल में से सुषुम्णा के मार्ग से मन वायु तथा अग्नि को भ्रूमध्य में लावे, दोनों भ्रू के मध्य नाक के ऊपर के भाग में जो ललाट का एक देश है वह ब्रह्म रूप अमृत का स्थान है, धारणा द्वारा उस ब्रह्म का अनुभव करने से पुरुष अविनाशी होता है। - (ध्यान विदुपनिषद्)

ॐ मुनि वसिष्ठ[३] सनकादिक[४], याज्ञवलक[५] आदि।
ॐ याज्ञवलक आदि। श्रेय[६] पद लख निज गूढ़,
ॐ श्रेय पद लख निज गूढ़, शिरोमणि हुए ज्ञानी[७]।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।१।।

भावार्थः- हे शिष्य! इस अचल पद को प्राप्त करना हो तो जिस प्रकार (गृहस्थी) वशिष्ठ जी, (ब्रह्मचारी) सनकादिक (सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) तथा (गृहस्थी-त्यागी) याज्ञवल्क्य और इनसे आदि लेके मुनिगण श्रेय पदका अनुसरण कर-अपने गूढ़ (गुप्त) स्वरूप का साक्षात्कार करके ज्ञानियों में शिरोमणि हुए हैं, वैसा ही तू भी आचरण कर (अपने स्व-स्वरूप को पहचान।)

हे प्रणवप्रिय! आत्मज्ञानरूप देव बन! मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ।।१।।

---

२ - ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

भावार्थः- ॐ ब्रह्म पूर्ण (पूर्ण=परिपूर्ण, सम्पूर्ण अनन्त, जैसा चाहिए वैसा, जिसमें जरा भी कमी नहीं है ऐसा शक्तिमान, ॐ ठीक निःसंदेह सत्य सत्य (अवति इति ॐ रक्षकः सबका रक्षण करने वाला) है और उस पूर्ण ब्रह्म से प्रकट हुआ यह जगत् भी पूर्ण है, क्योंकि-पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण ब्रह्म में से यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है, तो भी इससे उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार की कोई भी कमी नहीं हुई है। क्योंकि वह पूर्ण है, पूर्ण में से पूर्ण निकाला जाय तो मूल पूर्ण में कोई भी कमी नहीं आती।

(ईशोपनिषद् का शांति मंत्र)

३- वशिष्ठ जी महासमर्थ ज्ञानी हुए हैं। गृहस्थ होते हुए श्रुतिमतानुसार निज कर्तव्यों का पालन करते हुए हजारों वर्ष कठिन तप करके ब्रह्मर्षि हुए थे। इनकी 'शान्ति' जग-प्रसिद्ध हैं। मुनि विश्वामित्र ने ७० हजार वर्ष लोह भक्षण कर कठिन तपस्या की। इनकी तपस्या को देखकर इन्द्र का इन्द्रासन हिलने लगा। इनमें तप के प्रभाव से नूतन ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने तक की शक्ति आ गई। सब कोई सिवाय वशिष्ठजी के इन्हें ब्रह्मर्षि कहने लगे। एकमात्र वशिष्ठजी ही ऐसे थे जो इन्हें 'राजर्षि' करते थे। यह बात विश्वामित्र को बहुत बुरी लगती। इससे उनके साथ ये बैर रखने लगे। यहाँ तक कि इन्होंने वशिष्ठजी के १०० पुत्रों को मार डाला और भी कईप्रकार के दुःख पहुँचाने के कार्य किए। परन्तु वशिष्ठजी न तो अपनी शान्ति से डिगे ही और न

विश्वामित्र को 'ब्रह्मर्षि' ही कहा। इससे एक दिन विश्वामित्र 'यह वशिष्ठ ही मुझे 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहता, यह एक प्रकार का कंटक है, इसे साफ कर डालना चाहिए।' ऐसा विचार कर इनको मार डालने के इरादे से वशिष्ठाश्रम में पहुँचे।

रात्रि का समय था, ११ बज चुके थे, चाँदनी छिटक रही थी, वशिष्ठजी पर्णकुटिया में लेटे हुए थे और अरुन्धती पादचम्पी कर रही थीं। रात्रि विशेष गई हुई थी, इससे 'अब निद्रा लेना चाहिए' ऐसा कह वशिष्ठजी कुटिया के बाहर आए शरद पूर्णिमा की रात्रि के निरभ्र आकाश में शीतल चन्द्रप्रकाश को देख वशिष्ठजी बोलेः- ''हे अरुन्धती! आओ बाहर देखो, चाँदनी कैसी सुन्दर, सुखद और शान्तिप्रद खिल रही है, जिस प्रकार कि विश्वामित्र की उग्र तपस्या।''

अरुन्धती कुटिया से बाहर निकलते निकलते बोलीः- ''वह विश्वामित्र जिसने मेरे सौ पुत्रों को मार डाला? फिर भी आप उसकी प्रशंसा ही करते हैं?''

वशिष्ठ बोलेः- हे देवी! ऐसा कभी ख्याल मत करो कि तुम्हारे पुत्रों को विश्वामित्र ने मारा। कोई किसी को न मार सकता है न जिला सकता है। जब जीव के कर्म उदय होते हैं भोगने को जन्म लेना पड़ता है, और जब खत्म होते हैं तो शरीर त्याग करना पड़ता है। तुमने उन लड़कों में 'अपनेपन' का भाव रखा इसलिए इस समय खेद कर रही हो।

अरुन्धतीः- पर आप भी तो जिद नहीं छोड़ते जब सब कोई उन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहते हैं तो आप ही क्यों नहीं कहते? आप उन्हें 'ब्रह्मर्षि' कह दें तो यह उपद्रव तो शान्त हो जाय।

वशिष्ठः- हे देवी! क्या तुम ऐसा ख्याल करती हो कि मैं विश्वामित्र से द्वेष रखता हूँ? और द्वेष के कारण उन्हें ब्रह्मर्षि नहीं कहता? ऐसा विचार कदापि न रखना। भगवत् मार्ग में चलने वाला पथिक ज्यों ही राग द्वेष में लगाकि उसकी गाड़ी वहीं रुकी समझो। आत्म परीक्षण करने वाले को फौरन विदित हो जाता है कि उसकी प्रगति हो रही है या अवनति या वहीं रुक गई है। प्राणी संसार को धोखा भले ही देवे, परन्तु परमात्मा-सद्गुरु देव को नहीं दे सकता, क्योंकि वे तो अर्न्तयामी हैं, उनसे कुछ भी छिपा रह नहीं सकता। इसलिए सत्य समझो- मैं विश्वामित्र को अपने हृदय से प्रेम करता हूँ और चाहता हूँ कि वे शीघ्राति-शीघ्र ब्रह्मर्षि बन जायँ।

अरुन्धतीः- तो फिर उनकी ख़ामी उन्हें प्रत्यक्ष में जाकर क्यों नहीं बता देते?

वशिष्ठः- विश्वामित्र स्वयं महाबुद्धिमान्, उग्रतपस्वी और प्रतिभाशाली रत्न हैं। ऐसे पुरुषों को इशारों से ही संकेत मात्र से ही सावधान करने की शास्त्र की नीति है। जो पुरुष क्षिप्रबुद्धि और शुद्धान्तःकरणी होते हैं, उन्हें गुरु अथवा महान् पुरुष पोथी पत्रों से नहीं कहते सुनते, एकाध शब्द ही कहते हैं, जिस पर विचार कर श्रेयसाधक गुरु के मन्तव्य को समझ जाता है, या उसे समझ प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है। क्योंकि श्रवण से दस गुणा मनन और सौ गुणा

निदिध्यासन करना जो कहा है-उसका यही तात्पर्य है। विश्वामित्र में सबकुछ गुण हैं, पर एक मात्र थोड़ा क्रोध है, और उसी के कारण उनमें राजस की विशषेता हो जाती है। यह हटा कि- बस 'बह्मर्षि' के ब्रह्मर्षि ही हैं।

विश्वामित्र कुटिया की आड़ से यह सब सुन रहे थे। उन्हें विचार आया-''अहा! मैं कैसा नीच, पापी और दुष्ट हूँ कि जिस दयालु बह्मर्षि के मेरे प्रति ऐसे उदार भाव हैं, उसे ही मैं मार डालने को आया हूँ?'' धिक्कार है मुझे-ऐसा कह परसे को वही जमीन पर पटक, एकदम वशिष्ठजी के चरणों में आकर पड़कर बोलेः 'ब्रह्मर्षि! आप धन्य हो, धन्य हो, मुझे क्षमा करो! वशिष्ठजी ने उसी समय उन्हें अपने हृदय से लगाते हुए कहा ''पधारो ब्रह्मर्षि''! इस समय किधर पधारना हुआ? ''विश्वामित्र ने सब इत्थंभूत वर्णन किया। ब्रह्मर्षि ने कहा-'कोई हर्ज़ नहीं, जो हुआ सब ठीक ही है' गतं न शोचामि'। ऐसे ब्रह्मर्षि (ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ) वशिष्ठजी हुए हैं।

* * * * * *

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी को जब बारह वर्ष की आयु में औदासीन्य ने घेर लिया, तो ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी ने योगवशिष्ठ द्वारा ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। यह 'योग वशिष्ठ' ग्रन्थ महा रामायण के नाम से संसार में सुप्रसिद्ध है। उसमें उन्होंने इसी बात को सहस्त्रों दृष्टान्तों और युक्ति प्रयुक्ति द्वारा बतलाया है किः-

''यह सब जगत् ब्रह्मरूप है। स्थावर जंगम जो कुछ जगत् दीखता है वह सब ब्रह्मरूप है। जैसे सुपुष्ति स्वप्न है, वैसे ही इस जगत् की उत्पत्ति है और जैसे स्वप्न में सुषुप्ति होती है, वैसे ही जगत् का प्रलय होता है तथा जो प्रलय में 'शेष' रहता है, वही नित्य, सत्य ब्रह्म, आत्मा सच्चिदानन्द है-वह सब का अपना आप है। जगत् और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं, जैसे- मृगतृष्णा की नदी भासती है, वैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। जब अज्ञान रूपी बीज नष्ट होता है, तब जगत् का अभाव हो जाता है।

जो मनुष्य देह का अभिमान रखता है, उसको मृत्यु ग्रहण करती है। परन्तु जो निर्वपु है, उसको मृत्यु का कुछ भय नहीं है। क्योंकि वह आकाशरूप है, और मृत्यु के चंगुल से बाहर है। शुद्ध चिन्मात्र में जो 'अहमस्मि' चैतन्योन्मुखत्व हुआ है, उसी का नाम स्वयम्भू ब्रह्मा है। दो प्रकार के शरीर होते हैं-एक अन्तर्वाहक दूसरा आधिभौतिक। ब्रह्माजी का शरीर अन्तर्वाहक है क्योंकि वह अपने आप ही उपजता है।

जगत् का बीज मन है। जब मन का उपशम होता है, तब दृश्य भ्रम मिट जाता है, शुद्ध बोध होता है। असत् रूपी जगत् जिससे भासता है उसी का नाम मन है। और संकल्प विकल्प उस मन का स्वरूप है। यह सब जगत् संकल्प रूप है, और स्वरूप के प्रमाद से पिण्डाकार

भासता है। जब तक शुद्ध बोध नहीं होता, तब तक 'दृश्य-भ्रम' निवृत्त नहीं होता। जिस देव के जानने से पुरुष फिर जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता उसकी प्राप्ति सत्संग और सत्शास्त्रों के विचार से होती है, जिससे दृश्यरूपी विशूचिका निवृत्त हो जाती है। संसार का अत्यन्त अभाव हो जाने पर जो बोध मात्र शेष रह जाता है, वह परमात्मा का रूप है जो कि सब के भीतर बाहर स्थित है और सबको प्रकाशित करता है। उस (परमात्मा) का साक्षात्कार जगत् का अत्यन्त अभाव जानने से ही होता है।

* * * * * *

जगत् वास्तव में कुछ नहीं है, केवल मन की फुरना से ही जगत् भासता है। जब मन फुरना से रहित होता है तब सब कल्पनाएँ मिट जाती हैं और एक आत्मसत्ता स्पष्ट भासती है। जाग्रत के अभाव में सुषुप्ति हीन अवस्था परमात्मा का रूप है, जिसमें चेतन और जड़ दोनों नहीं है। वह चेतन चिन्मात्र, परमात्म रूप है, जो स्थावर में स्थावरभाव और चेतन में चेतनभाव में व्याप रहा है, और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ जिसको नहीं पा सकतीं, वही परमात्मा का रूप है।

* * * * * *

जिस पुरुष की कल्पना मिट गई है, और जिसको शुद्ध, निर्विकार, ब्रह्म-सत्ता का साक्षात्कार हुआ है, वह पुरुष, संसारभ्रम से मुक्त हुआ है, चैतन्य रूप-रत्न है और जगत् उसका चमत्कार है। आत्म समुद्र में जगत् तरङ्गरूप है, आत्म-स्वर्ण में जगत् भूषणरूप है, आत्मा में मन ने जगत् की कल्पना की है, वास्तव में कुछ हुआ ही नहीं। यह जगत् मृगतृष्णा की नदी की नाई असत् है, असम्यक् ज्ञान से ही भासता है और विवेक से शान्त हो जाता है। जब दृश्य का अत्यन्ताभाव जान कर दृढ़ वैराग्य के द्वारा आत्म-स्वरूप का अभ्यास किया जाता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होकर भ्रम मिट जाता है और यही परम कल्याण है।

-(योग वाशिष्ठ)

* * * * * *

(४) सनकादिकः- एक समय बद्रिकाश्रम में अट्ठासी हजार ऋषियों ने एक चित्त होकर, सनकादिक चारों कुमारों से हाथ जोड़ कर विनम्र प्रार्थना की किः- हे ब्रह्मस्वरूप ऋषिकुमारो! आप लोग बालब्रह्मचारी, अखंडमहायोगीश्वर हैं। आपने हजारों वर्ष महान् कठिन तप कर ब्रह्म साक्षात्कार किया है। सो जिस मार्ग करके आपको यह उपलब्धि हुई है वह कृपा कर के संक्षेप में हमसे कहिए। इसके उत्तर में चारों भाई इस प्रकार बोलेः-

सनकः- "शाश्वत सुख का उपाय 'परमात्मा स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना' यही है"।

सनन्दनः- "मन का लय करना यही 'परमात्मा के ज्ञान होने का' उपाय है"।

सनातनः- "शुद्ध निष्काम कर्म-उपासना करना, यह 'मन के लय' करने का उपाय है"।

सन्त्कुमारः- "यह सर्व जगत् विनाशी है, ऐसा विचारपूर्वक जानना तथा अनुभव करना और वैसा दृढ़ निश्चय करना यह "निष्काम होने का उपाय है"। (श्रीमद्भागवत्)

(५) याज्ञवल्क्यः- याज्ञवल्क्य ऋषि ने प्रथम वैशम्पायन नाम ऋषि से वेद-विद्या का अध्ययन किया था। उस विद्या को उन्होंने (वैशम्पायन ऋषि ने) क्रोध युक्त होकर उनसे ले लिया। यह वृत्तान्त तैतिरीय उपनिषद् में है। उनकी दी हुई विद्या का त्याग करके याज्ञवल्क्य ऋषि फिर विद्या प्राप्त करने के लिए सूर्य भगवान् को प्रसन्न करने के हेतु से महान् तप करने लगे। सूर्य भगवान् सूर्य मंडल में रहने वाले नाम, रूप तथा क्रिया युक्त सर्व प्रपञ्च के स्वरूप वाले, रक्त पुष्प समान नेत्र वाले तथा नख से लेकर केश पर्यन्त, सुवर्ण समान शरीर वाले हैं। ये सूर्य भगवान् ऊपर, नीचे तथा मध्यवर्ती सर्व जीवों को मन वाञ्छित पदार्थ देने वाले और समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म और कारण उपाधिवाले, विराट्, हिरण्य-गर्भ और ईश्वर रूप हैं। इन सूर्य भगवान् में से श्वास प्रश्वास के समान बिना ही यत्न के सर्व वेद उत्पन्न होते हैं। ये सूर्य भगवान् ऋक् यजुष् और साम तीन वेद स्वरूप हैं। ये सूर्य भगवान् दिन के प्रथम भाग में ऋग्वेद रूप से, दिन के मध्य भाग में यजुर्वेद रूप से, और दिन के अन्त भाग में अथर्वाङ्गि रस युक्त सामवेद रूप से प्रकाशित होते हैं। जैसे मधु मनुष्य को आनन्द देने वाला है, इसी प्रकार वसु आदि देवताओं को आनन्द देने वाले और सब कर्मों का फल देने वाले, सूर्य भगवान् आदित्यरूप मधु हैं। आदित्य में सूर्य भगवान् सर्वदा निवास करते हैं। यह आदित्य रूप मधु रक्त, शुक्ल, कृष्ण, पीत और अतिकृष्ण इन पांचों रूपों से युक्त है। यह आदित्यरूप मधु यथाक्रम रक्त आदि रूप वाले ऋक्, यजुष्, साम, अर्थ्वाङ्गिरस और उपनिषद् इन पाँच वेद रूपी भ्रमरों से बना हुआ है। जैसे मक्खी पुष्प में से रस को ग्रहण करके जहाँ मधु होता है वहाँ ले जाती है, इसी प्रकार ऋग्वेदादि भ्रमर, यागादि कर्मरूप पुष्पों में से मन्त्ररूप को प्राप्त होकर, यागादि कर्मों की सूक्ष्म अवस्था रूप जो पुण्य रूप अदृष्ट है, उस अदृष्ट रूपी रस को आदित्य रूप मधु में ले जाते हैं। ये सूर्य भगवान् सबको आनन्द देने वाली वृष्टि करते हैं-स्मृति में कहा हैः-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।

अर्थात्:- 'अग्नि में दी हुई आहुति सूक्ष्म रूप से आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता हैं और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।' सूर्य भगवान् सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाले प्राणरूप हैं, ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यंत सर्व स्थावर-जङ्गम प्राणी सूर्य भगवान् के हृदय में रहते हैं।

ऐसे सूर्य भगवान को याज्ञवल्क्य तप से प्रसन्न करने लगे। सूर्य भगवान् को प्रसन्न करके उन्होंने उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की। पश्चात्, गृहस्थाश्रम धारण करके याज्ञवल्क्य अधिकारी शिष्यों को चारों वेदों का अध्ययन कराने लगे। शिष्य मंडली चार प्रकार की थी। एक मण्डली ऋग्वेद, दूसरी यजुर्वेद, तीसरी सामवेद और चौथी अथर्ववेद का अध्ययन करनेवाली थी। जैसे-सूर्य भगवान् पूर्वादि दिशाओं के मध्य में प्रकाशते हैं, तैसे ही चार प्रकार के शिष्यों के मध्य में याज्ञवल्क्य शोभित होते थे।

याज्ञवल्क्य की कीर्ति दूर-दूर फैल गई। याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनकर आश्वलादि ब्राह्मण (ईर्ष्यावश) सन्ताप को प्राप्त हुए और जनक बहुत प्रसन्न हुए। 'दुष्ट पुरुष परायी कीर्ति सुनकर विषाद को प्राप्त होते हैं और सज्जन दूसरे की बड़ाई सुनकर प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों को याज्ञवल्क्य की प्रशंसा सुनकर महा शोक हुआ, और राजा जनक उनकी कीर्ति सुनकर आनन्द को प्राप्त हुए।

हे प्रिय दर्शन! वस्तु कोई भी द्वेष रूप नहीं है; परन्तु द्वेषी पुरुष अपने द्वेष के कारण उसमें दोष देखता है और रागी पुरुष उसमें गुण देखता है, तथा उदासीन पुरुष को न राग होता न द्वेष होता है। अतः वह सब वस्तुओं को असत् समझकर सबमें समान ही रहता है। राजा जनक, याज्ञवल्क्य को अपनी सभा में बुलाकर उनसे उपदेश लेना चाहते थे और आश्वालादि ब्राह्मण उनको ऐसा करने से रोकने के लिए अनेक प्रकार से याज्ञवल्क्य और याज्ञवल्क्य की विद्या की निन्दा किया करते थेः-

"आश्वालादि के निन्दा बचन"

'इस याज्ञवल्क्य ने किसी लौकिक गुरु से तो विद्या प्राप्त की नहीं है। सुनते हैं सूर्य भगवान् से इसने विद्या प्राप्त की है। ऐसा भला कहीं सम्भव है? यदि उसने सूर्य नारायण से साक्षात् ही विद्या अध्ययन किया है तो वह अपने मुख से शिष्यों को क्यों पढ़ाता है? जैसे कि हम सब ब्राह्मण मुख से विद्या पढ़ाते हैं। इसलिए-'मैंने सूर्य भगवान् से विद्या पढ़ी है' यह याज्ञवल्क्य का कथन यथार्थ नहीं है। और 'सूर्य के रथ में बैठकर मैंने विद्या पढ़ी है' यह भी याज्ञवल्क्य का कहना असंगत है, क्योंकि यदि पूर्व में रथ में बैठा कर सूर्य से विद्या पढ़ाई हो तो अब भी प्रज्ज्वलित अग्नि में बैठकर याज्ञवल्क्य विद्याका पठन क्यों नहीं करता? 'याज्ञवल्क्य के तप से प्रसन्न होकर सूर्य भगवान् ने दूसरा शरीर धारण करके याज्ञवल्क्य को वेदों का पाठ कराया था'-यदि कोई ऐसा कहे तो यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि-यदि सूर्यदेव का शरीर अंगीकार किया जाएगा तो जैसे शरीर वाले स्त्री आदि पदार्थ अनित्य हैं, इसी प्रकार सूर्य भगवान् भी अनित्य ठहरेंगे। यदि सूर्यनारायण अनित्य हों, तो उनमें और हममें विशेषता ही क्या है?

इसलिए सूर्य से विद्या प्राप्त होना सम्भव नहीं है। और दूसरा कोई प्रसिद्ध गुरु याज्ञवल्क्य का है नहीं। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि-याज्ञवल्क्य अपने कपोल कल्पित वचनों को वेद मानकर उनका अध्ययन करता और शिष्यों को कराता है और मैंने सूर्य के पास वे वेद पढ़े हैं ऐसा कहकर अज्ञानी जीवों को मोह में डालता है। ''गुरु सम्प्रदाय के अनुसार उदात्तादि स्वर विशिष्ट वर्णों की आनुपूर्वी को बुद्धिमान वेद कहते हैं''। इस प्रकार के वेद के लक्षण से रहित जितने वचन हैं वे नट पुरुष के वचन के समान हैं। क्योंकि इस याज्ञवल्क्य का गुरु-सम्प्रदाय प्रसिद्ध नहीं है। इसलिए याज्ञवल्क्य के वचन नट पुरुष के वचन के समान हैं। पदक्रम के सम्प्रदाय के बिना ही याज्ञवल्क्य हाथ हिलाकर, 'यजुर्वेद को नट के समान पाठ करता है। इसलिए याज्ञवल्क्य यजुर्वेद को नहीं जानता। पूर्व में वैशम्पायन से उसने यजुर्वेद का अध्ययन किया था। उसको भी वह हाल में नहीं जानता तो अन्य वेद को वह किस प्रकार जानता है? नहीं जान सकता'' इत्यादि।

इस लोक में अपनी कीर्ति सुनकर तो प्रायः सभी प्रसन्न होते हैं। किन्तु-बिरले पुरुष ऐसे होते हैं जो दूसरे की कीर्ति सुनकर प्रसन्न हों। शिष्ट पुरुष ही दूसरे पुरुष की बड़ाई सुनकर आनन्द मनाते हैं। नहीं तो सब अपनी कीर्ति सुनना चाहते हैं। जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र प्रसन्न होकर उछलता है, इसी प्रकार दूसरे की कीर्ति सुनकर शिष्ट पुरुष फूले नहीं समाते। ऐसे पुरुष ही धन्य हैं। मूढ़ पुरुष तो दूसरे की कीर्ति सुनकर, प्रसन्न होने के बदले, उलटे खिन्न होते हैं। ऐसे पुरुष बुद्धिमानों की सभा में निन्दा के पात्र और परलोक में दुःख के भाजन बनते हैं। उपर्युक्त प्रकार से आश्वलादि ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य की कीर्ति पर अनेक प्रकार से बट्टा लगाना चाहा, परन्तु राजा जनक के मन में से उनकी कीर्ति निकली नहीं। किन्तु और भी अधिक समाती गई।

''याज्ञवल्क्य की क्षमा''

हे प्रिय दर्शन! इस प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों द्वारा की हुई निन्दा को यद्यपि-याज्ञवल्क्य जानते थे और लोगों से उन्होंने सुन भी रखा था, तो भी वे क्षोभ को प्राप्त नहीं होते थे। अपितु आत्मज्ञान के प्रभाव से उलटे प्रसन्न होते थे। जैसे-वर्षाकाल में गर्जना बिना ही मेघ जल की वृष्टि करते हैं, इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी अपने मुख से अपनी स्तुति किए बिना; पूर्व के समान अपने शिष्यों को अर्थ सहित सर्व वेदों का पाठ कराते रहते थे, और निन्दा करने वाले ब्राह्मणों से कभी कुछ भी नहीं कहते थे, जैसे मार्ग में भौंकते हुए कुत्तों को देखकर हाथी उनके भौंकने पर किञ्चित भी ध्यान नहीं देता, वह झूमता हुआ चला ही जाता है, इसी प्रकार आश्वलादि ब्राह्मणों के द्वारा निन्दा सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि किञ्चित भी खिन्न नहीं होते थे, उलटे प्रसन्न हुआ करते थे।

इस प्रकार की याज्ञवल्क्य की कीर्ति सुनकर मिथिलापति राजा जनक को उनके दर्शन की इच्छा हुई। जनक राजा के इस अभिप्राय को जानकर राजा के पुरोहित आश्वलादि ने राजा जनक के सामने उनकी निन्दा की। बुद्धिमान राजा आश्वलादि ब्राह्मणों के दुष्ट अभिप्राय को जान गए, परन्तु उन्होंने उनको कुछ भी नहीं कहा। याज्ञवल्क्य को बुलाने की इच्छा से राजा ने यज्ञ आरम्भ किया और अपने विश्वासी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को उसने इस प्रकार आज्ञा दीः-

"हे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यो! मैंने यज्ञ करने का विचार किया है, इसलिए तुम सब देशों में जाकर सब ब्राह्मणों को बुला लाओ!" इस प्रकार राजा जनक की आज्ञा पाकर सेवकगण कुरु पाञ्चाल से लेकर सब देशों में गए और उन देशों में रहने वाले सभी विद्वान् ब्राह्मणों को बुला लाए और शिष्यों सहित याज्ञवल्क्य को भी लिवा लाए। ब्राह्मणों के आ जाने से जनकराज के महल में वेदों की महान् ध्वनि होने लगी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों को यह ध्वनि आनन्द देती थी। राजा जनक के यज्ञ में आश्वलायन, आर्तभाग, आनंद, भुज्य, उषस्त, कहोल, ब्रह्मनिष्ठ गार्गी, अरुण नाम के ब्राह्मण का पुत्र उद्दालक, शकल का पुत्र शाकल्य (जिसका दूसरा नाम विदग्ध है) ये सब उस यज्ञ में अपने-अपने शिष्य मण्डल के साथ आए थे। इनके सिवाय अनेक विद्वानों के वहाँ आने से करोड़ों ब्राह्मण एकत्र हो गए थे। इस प्रकार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य के आगमन का उपाय किया।

प्रसंग पाकर राजा जनक आश्वलादि सब ब्राह्मणों से हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगेः-
हे ब्राह्मणो! अश्वमेधादि सामग्री से मैं देवताओं का पूजन करना चाहता हूँ, आप सब ब्राह्मण मुझे आज्ञा दीजिए, आपकी आज्ञा पाकर में सर्व दिशाओं को भेरी शब्दों से पूर्ण करूँगा।"

राजा जनक के इस प्रकार पूछने पर ब्राह्मणों ने आज्ञा दे दी। तब राजा को यह इच्छा हुई कि 'इस मेरे यज्ञ में एकत्र सभी ब्राह्मण महात्मारूप हैं, सदाचारी हैं, वेद-वेदान्त में कुशल हैं और शिष्यों से युक्त हैं, किन्तु-इन सब ब्राह्मणों में अधिक वेदवेत्ता कौन है? यह मुझे जानना चाहिये।' सब ब्राह्मणों में से एक की श्रेष्ठता जानने के लिये राजा अपने मन ही मन में विचार करने लगा :-

"यदि मैं इस ब्राह्मण के समाज में किसी से पूछूगां कि - 'तुम सब ब्राह्मणों में कौन सबसे अधिक विद्वान् है, तो ब्राह्मण अपने किसी मित्र को ही अधिक विद्वान् बतावेंगे। क्योंकि जिससे जिसका द्वेष होता है; वह साक्षात् देव, गुरु अथवा विद्या में बृहस्पति के समान हो तो भी द्वेषवान् उसकी निन्दा ही करता है। और जिसका जिसमें स्नेह होता है (यदि वह एक अक्षर भी न जानता हो और कृषिकार के समान महा मूढ़ हो तो भी) स्नेहवान् उसकी स्तुति करता है। इसलिये राग-द्वेष वाले किसी ब्राह्मण से पूछने से सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण का निश्चय नहीं हो सकता। यदि कोई

कहे कि जो ब्राह्मण राग द्वेष से रहित, उदासीन हो तो उससे पूछने से अधिक विद्वान् का पता लग जायगा, तो यह भी ठीक नहीं है। उदासीन से पूछने पर भी अधिकता का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि शमदमादि गुणों के ज्ञान से अधिकता का ज्ञान होता है, और क्रोधादि दोषों के ज्ञान से न्यूनता का ज्ञान होता है। शमदमादि गुणों वाला उदासीन होता है। उदासीन को क्रोधादि दोषों का ज्ञान ही नहीं होता। इसलिए उदासीन के वचन से सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण का निश्चय होना असम्भव है। यदि कोई कहे कि -'उदासीन को यद्यपि स्वयं ब्राह्मणों के गुण दोष का ज्ञान नहीं होता, किन्तु यदि तुम सब ब्राह्मणों के गुण दोषों का उदासीन के सामने वर्णन करोगे; तो वह तुमको सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को बतायेगा' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि-जब मैं अपने मुख से ब्राह्मणों के गुण दोष सुनाऊँगा, तब उदासीन उनमें से किसकी श्रेष्ठता कहेगा? यह बात तो मैं उसके बताने से पहिले ही जान सकता हूँ। उदासीन से गुण दोष कहना निष्फल है। ऐसा करने से भी श्रेष्ठता का निश्चय नहीं हो सकता। यदि मैं एक, एक ब्राह्मण को एकान्त में बुलाकर पूछूँ कि - ''तुम सबसे श्रेष्ठ हो या नहीं? और उसके कहने से सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को जान लूँ, तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि यदि मैं एक-एक को बुलाकर पूछूंगा, तो सभी अपने को अधिक बतावेंगे, कोई भी अपने को न्यून नहीं बतावेंगे। इसलिये इस उपाय से भी श्रेष्ठ विद्वान् का निश्चय नहीं हो सकता। कोई कहे कि -'गुह्य अर्थ का बोध कराने वाले प्रश्न तुम सब ब्राह्मणों से करो और जो तुम्हारे प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे, उसी को श्रेष्ठ जान लो, तो इस उपाय से भी श्रेष्ठ विद्वान् का निश्चय नहीं होगा। इसमें तो उलटी मेरी हानि होगी। क्योंकि यदि मैं ब्राह्मणों से कहूँगा कि - मैं तुमसे गुह्यप्रश्न करूँगा, तो ब्राह्मण क्रोधित होकर मुझे शाप देकर भस्म कर देंगे। इसलिए पूर्वोक्त किसी उपाय से सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण का निश्चय नहीं होगा। ब्राह्मणों में अधिकता और न्यूनता की जांच तो परस्पर इनके शास्त्र-विवाद कराने से ही होगी। इसलिये सर्व ब्राह्मणों का परस्पर विवाद कराके सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण का निर्णय करना चाहिये। इसमें भी एक हानि है - यदि मैं इन ब्राह्मणों से कहूँगा कि -'तुम सब परस्पर विवाद करो' तो ये ब्राह्मण क्रोधित होकर मुझे शाप देंगे। इसलिये मुझे ऐसा करना चाहिये कि मेरे कहे बिना ही ये सब परस्पर विवाद करें। धन के सिवा ऐसा कोई दूसरा उपाय नहीं है, धन ही समस्त विवादों का कारण है। इसलिए यदि मैं इन सब ब्राह्मणों के सामने बहुत सा धन रक्खूंगा, तो धन के लोभ से ब्राह्मण स्वयं ही परस्पर विवाद करेंगे। उनके विवाद करने से सबसे श्रेष्ठ विद्वान् का निर्णय हो जायगा।

''ब्राह्मणों की इस समाज में याज्ञवल्क्य के सिवा कोई भी दूसरा ब्राह्मण पूर्ण विद्वान् नहीं है। सूर्य भगवान् के शिष्य याज्ञवल्क्य ही सबसे अधिक विद्वान् हैं। कोई कहे कि-याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता को तुमने किस प्रकार जाना? तो उसका उत्तर यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा गर्व इत्यादि दोषों का जिसमें अभाव हो, वहीं विद्वान् है। विद्वान् के ये लक्षण याज्ञवल्क्य

में घटते हैं। याज्ञवल्क्य में काम क्रोधादि दोष नहीं हैं। क्योंकि इतनी विद्या प्राप्त होने पर भी उनमें गर्व नहीं है, वे जड़ पुरुष के समान मौन धारण किये बैठे हैं। इसलिए उनके समान विद्वान् कोई दूसरा नहीं है। यदि कोई कहे कि यदि याज्ञवल्क्य राग-द्वेष से रहित हैं, तो वे तुम्हारा धन किस प्रकार लेंगे? 'क्योंकि' राग-द्वेष बिना धनादि पदार्थों का ग्रहण नहीं होता।'' तो इसका उत्तर यह है कि याज्ञवल्क्य जो मेरा धन ग्रहण करेंगे; तो वे अपने भोग के लिये ग्रहण नहीं करेंगे, जीवों के उपकार के लिए ही करेंगे, और इसी लिये वे ब्राह्मणों को सभा में जीतेंगे। यह मेरा धन जब उनके हाथ में जायगा, तो उस धन से सबका उपकार होगा। क्योंकि मुनि का धन तथा शरीर अपने भोग के लिये नहीं होता, केवल दूसरों के उपकार के लिये ही होता है। जैसे कोई पामर धनादि की इच्छा से प्रसन्न दृष्टि से राजा की ओर देखते हैं, इसी प्रकार ये मुनि प्रसन्न दृष्टि से मेरी और देखते हैं। इससे यह समझ में आता है कि मुनि का मेरे ऊपर परम अनुग्रह है। भाव यह है कि जहां-जहां प्रसन्नता पूर्वक दृष्टि होती है, वहाँ-वहाँ धनादि पदार्थों की इच्छा होती है, अथवा अनुग्रह होता है। इच्छा अथवा अनुग्रह बिना प्रसन्नता पूर्वक दृष्टि नहीं होती। मुनि में धनादि पदार्थों की इच्छा तो है नहीं, अतएव अनुग्रह से ही ये मेरी और देखते हैं। याज्ञवल्क्य में राग-द्वेष नहीं है, क्योंकि याज्ञवल्क्य को जीतने की इच्छा वाले जो अहंकारी ब्राह्मण हैं; वे मिलकर मुनि के प्रति अपशब्द बोलते हैं। परन्तु मुनि उनके वचनों का अज्ञानी पुरुष के समान सुन रहे हैं। अपशब्द सुनकर भी मुनि जड़ के समान उनको उत्तर नहीं देते। इससे जानने में आता है कि मुनि के मन में क्षोभ नहीं है। जो क्षोभ से रहित होता है, वह राग द्वेष से रहित होता है।''

इस प्रकार राजा जनक ने भली भांति विचार कर, कामधेनु के समान एक हजार गौ, और चालीस हजार सोने के निष्क, सभा में लाने के लिये मंत्री को आज्ञा दी। भाव यह है कि एक हजार गौओं के दो हजार सींग होते हैं, उनमें (एक-एक सींग में) बीस-बीस सोने के निष्क राजा ने बंधवाये, (नौ तोले सुवर्ण का एक निष्क होता है)। शास्त्र की रीति से जब गौएँ सभा में आगयीं, तब राजा सब ब्राह्मणों से इस प्रकार कहने लगा :- 'हे सर्व ब्राह्मणो! आप लोगों में से एक से एक बढ़कर वेदवेत्ता हैं, जो आप में सबसे श्रेष्ठ 'ब्रह्मवेत्ता' हों, वे इन सब गौओं को अपने आश्रम में ले जाँय।

राजा के इस प्रकार के वचन सुनकर सभी ब्राह्मण नीचे को मुख करके चुप हो गये। अपनी विद्या के बल से कोई भी ब्राह्मण सब ब्राह्मणों को जीतने को समर्थ नहीं हुआ। सारे ब्राह्मणों को चुप देखकर याज्ञवल्क्य मुनि अपने सामवेदपाठी शिष्य से कहने लगे:- '' हे सामवेदपाठी शिष्य! तू इन सब गौओं को जल्दी से मेरे घर पर लेजा, और सब ब्राह्मणों से ऊँचे स्वर से कहदे कि ''हे ब्राह्मणो! सबसे श्रेष्ठ, ब्रह्मवेत्ता, याज्ञवल्क्य गौओं को लिये जाता है।'' मुनि के

वचन सुनकर सामवेदपाठी शिष्य इसी प्रकार सब ब्राह्मणों से कहकर गौओं को मुनि के आश्रम में ले गया। यह देखकर ब्राह्मण याज्ञवल्क्य पर क्रोध करने लगे और राजा जनक परम आनंद को प्राप्त हुए।

तात्पर्य यह है कि मुनि एक ही समय में ब्राह्मणों को दुःख के कारण और जनक राजा को सुख के कारण हुए। सांख्य शास्त्र वाले शब्द स्पर्शादि विषयों में ही सुख दुःख मानते हैं, यह उनका मानना ठीक नहीं हैं। क्योंकि 'सुख-दुःख विषयों में नहीं रहता, अपने मन में रहता है', यही पक्ष समीचीन है। क्योंकि स्नेहवाले चित्त में सुख की उत्पत्ति होती है, जैसे कि जनक को सुख उत्पन्न हुआ। जिस चित्त में द्वेष होता है, उसमें दुःख की उत्पत्ति होती है, जैसे कि ब्राह्मणों को दुःख उत्पन्न हुआ। यदि सुख-दुःख धर्म विषयों में होते हों, तो विषयों से सबको सुख अथवा दुख की प्राप्ति होती। इस विषमता का सब जीवों को अनुभव है। इसलिये विषयों का धर्म सुखःदुःख नहीं है। बाह्य कारण बिना ही 'यह वस्तु रमणीक है' ऐसी कल्पना से मन में सुख होता है। और 'यह वस्तु अरमणीक है' ऐसी कल्पना से दुःख उत्पन्न होता है। जैसे कि निर्जन बन में रहने वाले राग-द्वेष रहित पुरुष को अपने मन से ही आनंद होता है, और निर्जन बन में रहने वाले रागी पुरुष को अपने मन से ही वहां दुःख होता है। किसी विषय के कारण बन में सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होती, वह मन से ही होती है। इसलिए 'मन ही सुख-दुःख का आश्रय रूप है' यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार गौओं को गयी देखकर, क्रोध के कारण ब्राह्मण अपने-अपने आसन से उठकर खड़े हो गये। उनके होंठ थर-थर काँपन लगे और वे अपने ऊपर के दांतों से नीचे के होंठ को चबाने लगे। इस प्रकार सब ब्राह्मणों की चेष्टा देखकर आश्वल (नाम के एक) ब्राह्मण को अत्यन्त क्रोध आ गया। उसने याज्ञवल्क्य के पास आकर अपशब्द कह, वाद-विवाद करने को उद्यत हो; 'अतिमोक्ष' सम्बन्धी ८ प्रश्न किये। जिस का योग्य उत्तर याज्ञवल्क्य ने ऐसा दिया कि उसे हार मान कर बैठना पड़ा। इसके बाद आर्तभाग, भुज्यु, उपस्त, कहोल, गार्गी, उद्दालक आदि ने शास्त्र सम्बन्धी विविध प्रश्न किये। शाकल्य ने तो अपनी दुर्बुद्धि का परिचय तक दिया, किन्तु याज्ञवल्क्य बराबर शान्त रहे और 'अपनी शास्त्रयुक्त-अमोघ वाणी द्वारा सब पराजित हो रहे हैं' यह भी दृष्टा रूप से देखते रहे। इस समागम का राजा जनक पर बहुत बड़ा असर पड़ा। ब्रह्मवेत्ता का द्वेष शाकल्य ने किया, इससे वह भस्म हुआ। इसके पश्चात्, जो ब्रह्मविद्या सूर्य भगवान् ने याज्ञवल्क्य को कही तथा जो सर्व ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य से पूछी, वह ब्रह्मविद्या याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कही, जिस का बृहत् प्रसंग 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में है। यह याज्ञवल्क्य गृहस्थ थे, पर जब एक दिन राजा जनक ने त्याग का प्रत्यक्ष रूप देखना चाहा तो राजा दूसरे दिन प्रातःकाल में देखता है कि मुनि सब वैभवादि तथा स्त्री को त्याग वन को चले गये हैं।

६ - श्रेयपद :- मंत्र :- अन्यच्छ्रे योऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष ॐ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रे यो वृणीते।। २-१।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।२-२।। (कठोपनिषद्)

भावार्थ :- यमराज नचिकेता से कहते हैं हे नचिकेता! इस लोक तथा परलोक में जीवों को प्राप्त होने के श्रेय और प्रेय ऐसे दो प्रकार हैं। बुद्धिमान् पुरुषों को प्रीतिकारक मोक्ष रूप नित्य सुख सब से उत्कृष्ट होने से 'श्रेय' कहलाता है। मूढ़ पुरुषों का प्रीतिकारक विषयरूप (विषय जन्य) संसार के सुख है, और वे अनित्य हैं। इसलिए श्रुति भगवती उसे 'प्रेय' कहती है। स्वरूप, साधन, प्रमाण और अधिकार, इन चार भेदों से श्रेय और प्रेय रूप फल परस्पर विलक्षण हैं। मोक्ष रूप श्रेय का नित्यसिद्ध फल आनन्द 'स्वरूप' आत्मा ही है। 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इस प्रकार का अभेद ज्ञान श्रेय का साधन है। उपनिषद्रूप-वेदान्त शास्त्र इसका प्रमाण हैं और विवेक, वैराग्य, शमादि षट्-संपत्ति, मुमुक्षुतादि-चतुष्टय साधन सम्पन्न पुरुष 'श्रेय' का 'अधिकारी' है। विषय जन्य अनित्य सुख 'प्रेय' का 'स्वरूप' है। यज्ञादिक कर्म उसके 'साधन' हैं। वेद का कर्म-कांड भाग उसका 'प्रमाण' है। और सकाम पुरुष उसका 'अधिकारी' है। हे निचकेता! श्रेय और प्रेय, इन दोनों प्रकार के फल में जो अधिकारी पुरुष श्रेय फल को सम्पादन करता है, वह अपने प्रयोजन से भ्रष्ट हुए बिना कृतकृत्य होता है, और जो मूढ़ बुद्धि पुरुष प्रेयरूप फल को प्राप्त करता है, वह इस संसार की घटमाल में जन्म मरण के चक्कर खाता हुआ केवल दुःखों की परंपरा का ही भोक्ता हुआ करता है। सुख की अभिलाषा से आंकड़ी (बलैया) से चिपटे हुए आटे-(आटे की गोली) खाने को जाते ही मत्स्य जैसे मृत्यु को पाता है। वैसे ही सुख की अभिलाषा से और दिव्य स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा से जो पुरुष प्रेय को साधने जाता है वह जन्म मरण के चक्कर में ही पड़ता है। निष्काम पुरुष, संसार में होता हुआ भी 'श्रेय' सम्पादन करने ही की बुद्धि रखता है और मूढ़ (सकाम पुरुष) संसार में होता हुआ बड़े-बड़े भोगों की इच्छा द्वारा कर्मों में प्रवृत्त हो जन्म-मरण की घटमाल में जुड़ा रहता है। जब वेद और पुराणादिक शास्त्रों का अध्ययन और उसके अर्थ का यर्थाथ ज्ञान होता है, तब ही मनुष्य को श्रेय प्रेय बुद्धि उत्पन्न होती है। जो अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले होते हैं, उनके श्रेय की, और विषयों में आसक्त सामान्य बुद्धि वालों को प्रेय की, इच्छा होती है। हे नचिकेता! सकाम पुरुषों को स्त्री पुत्रादिक की प्राप्ति और उनके सुरक्षण की इच्छा अभिलाषा होती है। परन्तु, मूढ़मति ऐसा विचार नहीं करते कि-उनकी प्राप्ति तथा उनका रक्षण दैवाधीन है। हे नचिकेता तुम्हारे जैसा बुद्धिमान-वैराग्यवान पुरुष "स्त्री पुत्रादिक की प्राप्ति और रक्षण दैवाधीन है", ऐसा मानकर उनके संबंध की कुछ भी चिंता संताप किए बिना निष्काम कर्म कर, निरन्तर मुख्य श्रेय का ही विचार करता है।

हे नचिकेता! 'सर्व दुःखों से रहित जो मोक्ष सुख है, वह ही मेरे संपादन करने योग्य है, इसके सिवाय दूसरा कुछ भी सुखकारक नहीं है,' ऐसा बुद्धिमान् पुरुष विचार करते हैं। श्रेय की प्राप्ति ब्रह्मवेता पुरुष के उपदेश बिना नहीं होती, इसलिए-वेद के तात्पर्य को जानने वाले ब्रह्मवेता गुरु के पास जाकर अधिकारी जन को 'श्रेय का स्वरूप' जानना चाहिए। - (आत्मपुराण)

* * * * * *

७- ज्ञानी सर्वत्र एक आत्मा को देखता है, अतएव उसको आत्मा की दृष्टि से सब समान है। वह नीच में भी, और उच्च में भी, धूल के परमाणु में भी और सूर्य में भी, अधम में भी और उत्तम में भी, दुष्टाचारी में भी और धर्मिष्ठ में भी, ऐसे ही सर्वत्र, एक ही आत्मा को देखता है। संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थ, अवस्था और भावादि के ठीक रूप और तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति करने की आवश्यकता है, यही नानात्व है, जिसके बाद नानात्व में एकत्व देख पड़ता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही परम ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव जीवात्मा जैसे उत्तम, सुन्दर, सुभग आदि वस्तुओं के द्वारा उनका ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करता है, अर्थात्-निश्चय करता है कि उत्तम, सुन्दर, सुभग आदि सत्त्वगुण के कारण हैं, वैसे ही अशुभ, अमंगल और घृणित को प्रकृति के निकृष्ट गुण का परिणाम जानता है। तात्पर्य यह है कि-शुभाशुभ आदि द्वन्द्व की जानकारी प्राप्त कर और आत्मा की दृष्टि से दोनों को अनात्म जान (उन में से किसी में आसक्ति न रख), केवल, शुद्ध आत्मा में स्थित रहता है। अतएव ज्ञानी के लिए अन्तर्दृष्टि से न कुछ निकृष्ट है और न उत्तम है। उसकी दृष्टि में सब उस एक के अंश हैं, जो सृष्टि के निमित्त अपने-अपने स्थान में अपना-अपना उद्देश्य साधन कर रहे और करवा रहे हैं। संसार में जो कुछ है, उन सबका अपना-अपना नियत स्थान और उद्देश्य है, अपनी-अपनी दशा है, अपने-अपने काम हैं और अपने-अपने लिए अनुभव प्राप्त कर रहे हैं, और दूसरों से करवा रहे हैं। ब्रह्म अनन्त है और उसके एक अंश का भी प्रकाश अनन्त प्रकार का होना चाहिए। अतएव-श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है "-द्यूतं छलयतामस्मि" मैं छलियों में जुआ हूँ। रुद्राध्याय में लिखा है-यह एक अनन्त ही नाना रूपों को धारण कर सब प्रकार की आवश्यक वृत्तियों का सम्पादन कर रहा है। यहाँ तक कि उस (अनन्त) को चोरों का पति भी कहा है जैसे कि "तस्काराणांपतये नमः" इसका यह भाव नहीं है कि जुआ अथवा चोरी उत्तम है, किन्तु-भाव यह है कि जुआ, चोरी आदि निकृष्ट कर्म के अशुभ परिणाम की जानकारी प्राप्त कर उससे निवृत्त होना चाहिए यही उन के अस्तित्व का उद्देश्य है।

* * * * * *

ज्ञानी, सब कर्मों को करता हुआ भी अकर्ता है, और सांसारिक पदार्थों से आवेष्टित रहने पर भी उन सबों से वह न्यारा है। क्योंकि वह शरीरों और कोशों से अपने को पृथक् आत्मा जानता

है, और सांसारिक पदार्थों को उनकी बाह्य आकृति की दृष्टि से असत् जान उसमें कुछ भी आसक्ति नहीं रखता। महाभारत शान्तिपर्व अ. १०८ में राजा जनक का वचन है:-

अनन्तं ब्रत मे वित्तं, यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलाया प्रदीप्तायां, न मे किञ्चन दह्यते।।

अर्थातः- अनन्त धन मेरा कहा जाता है। तथापि-मेरा यथार्थ में कुछ नहीं है। यदि मिथिला की मेरी राजधानी जलने लगे, तथापि-मेरा कुछ भी नहीं जलेगा। उपनषिद् का वचन है,-''सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन्।'' निश्चय करके ये सब (एक) ब्रह्म ही के रूप हैं-, यहाँ कुछ भी नानात्व नहीं है! इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्येक बन्धन टूट जाता है, इच्छाएँ नाश हो जाती हैं, और मन की वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं। ऐसा ज्ञानी, शरीर और मन से कर्म को करता हुआ भी यथार्थ में कुछ भी नहीं करता।

स्मरण रखना चाहिए कि केवल वेदान्त की पुस्तकों के पढ़ने से और तर्क द्वारा वेदान्त के सिद्धान्तों को समझने से कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। शास्त्र-पठन विवेक के लिए है और ज्ञान की प्राप्ति तो ज्ञान-योग के अभ्यास द्वारा ही होती है। पाण्डित्य होने से बुद्धि द्वारा विषय का ज्ञान अवश्य होता है! किन्तु, वह ज्ञान निकृष्ट है, इससे आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता! श्रीमद्भागवतगीता के अध्याय ६ के श्लोक ४६ के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं:-

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।।

'तपस्विभ्यः अधिको योगी, ज्ञानिभ्यः अपि। ज्ञानं अत्र शास्त्रपाण्डित्यं, तद्वद्भ्यः अपि मतो ज्ञातः, अधिकः श्रेष्ठ, इति कर्मिभ्यः अग्निहोत्रादि कर्म तद्वद्भ्यः अधिको योगी विशिष्टो यस्मात् तस्मात् योगी भव अर्जुन।''

भाव यह है कि - 'ज्ञानमात्र शास्त्रपाण्डित्यम्' अर्थात् यहाँ ज्ञान से तात्पर्य शास्त्र में पण्डिताई से है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति बड़ी कठिन है। उपनिषद् में लिखा है कि -

अणोरणीयान् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात्। नैषा तर्केणमतिरापनेया।
ना विरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञाने नैव माप्नुयात्।।

अर्थात - वह आत्मा निश्चय ही सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और सब तर्कों से परे है। यह (आत्म भाव) तर्क से प्राप्त नहीं हो सकता। जिसने कुत्सित कर्मों का करना नहीं छोड़ा, जिसकी इन्द्रियाँ वश नहीं हुई, जिसका मन एकाग्र न हुआ, और जिसका चित्त शान्त न हुआ, ऐसा (पुरुष)

केवल पुस्तक जनित ज्ञान के द्वारा आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा की प्राप्ति कैसे हो, इस विषय में उपनिषद् का वचन है :-

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितंगह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।।

(कठोपनिषद् २.१२)

तिलेषुतैलं दधनीव सर्पि रापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १-१५)

तस्याभ्यासो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा।
वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम्।।

(केनोपनिषद्)

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।।
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।
नान्यैर्देवेस्तपसा कर्मण वा।।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तुतं।
पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।

(मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्:- आत्मा बड़ी कठिनता से ऐसा देखा जाता (देखा जानेवाला) है, गुप्त रीति से व्याप्त है, हृदय में टिका हुआ है, गुहा में छुपा है और सनातन है। अध्यात्मयोग के ज्ञान द्वारा विद्वान् पुरुष उस परमात्मा को जानकर, हर्ष और शोक का त्याग कर देता है। जैसे तैल तिल में, घी दही में, जल झरने में और अग्नि काष्ठ में गुप्त रहता है; वैसे ही परमात्मा आत्मा में (है) (वह) उसी को प्राप्त होता है जो उसको सत्य और ध्यान द्वारा खोजता है। अभ्यास, दम और सदाचार उस (ज्ञान) के आश्रय हैं, वेद अङ्ग है और सत्य उसके रहने का स्थान है। यह

आत्मा केवल सत्य, ध्यान, सम्यक्ज्ञान और स्थायी शम-दम से मिलता है। वह शरीर से ज्योतिः स्वरूप, जाज्वल्यमान है। जिसको यति लोग पाप रहित होने पर देखते हैं। वह (आत्मा) नेत्र से, वाक्य से किसी दूसरी शक्तियों से और केवल ध्यान एवं उत्तम कर्मों द्वारा भी नहीं मिल सकता। वह तो शुद्धान्तः करण होकर ज्ञान प्राप्त करने पर ही देखने में आता है, (इसके पूर्व नहीं) ध्यान द्वारा वह उसको अनवच्छिन्न देखता है।- (ज्ञानयोग)

* * * * * *

मुनि का अर्थः-

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ॐकारो विदितेऽयेन स मुनिर्नेतरो जनः।।

जो मनुष्य ॐकार को अनन्त मात्रा रूप सर्व द्वैत भाव के उपशम स्थान रूप, तथा आनंद रूप जानता है उसे 'मुनि' कहने में आता है; अन्य को नहीं। (मांडूक्य)

ॐकार उपासना से अभय पद प्राप्तिः-

श्लोक :- ॐकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ॐकारं पादशो ज्ञात्वा, न किचिदपि चिन्तयेत्।।

शब्दार्थ :- ॐकार को पाद (ब्रह्मपाद) के साथ एक रूप जानना चाहिए, तथा पादों को मात्रा रूप मानना चाहिये, पाद के साथ ॐकार का ज्ञान होने के पश्चात् किसी भी अन्य वस्तु ा चिंतन नहीं करना।

युञ्जीत प्रणवेचेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्।।

शब्दार्थ :- मन को प्रणव के विषे लगाना कारण कि प्रणव ब्रह्म रूप तथा निर्भय रूप है, : कारण जो नित्य प्रणव में जुड़ा हुआ है उसे कभी कुछ भय नहीं रहता।

प्रणवोह्यपरंब्रह्म, प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरो वाह्योऽनपर; प्रणवोऽव्ययः।।

शब्दार्थः- प्रणव रूप ॐकार अपर ब्रह्मरूप वैसे ही पर ब्रह्म रूप है। यह प्रणव अपूर्व रूप अनन्तर, अबाह्य, अनपर (जिससे परे दूसरा कोई नहीं) तथा अव्यय रूप है।

आत्म भाव का साधन।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैवच।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्।।

शब्दार्थ:- =ॐकार रूप प्रणव सर्व का आदि रूप, मध्य रूप तथा अन्त रूप है, इस प्रकार ॐकार रूप प्रणव को जानने के पश्चात् मनुष्य आत्म भाव को प्राप्त होता है।

ॐकार की सर्वव्यापकता।

श्लोक:- प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्व व्यापिनमोंकारं यत्वा धीरो न शोचति।।

शब्दार्थ:- ॐकार रूप प्रणव को ईश्वर रूप जानना चाहिए तथा वह प्रणव सब के हृदय में रहा हुआ है, अधिकारी इस प्रणव को सर्व व्यापी मानता है, इसलिए वह कभी शोक को प्राप्त नहीं होता। (गौड़पादकारिका)

'ईश्वर प्रणिणधानाद्वा', 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' (योगसूत्र)

अर्थात्:- 'परमेश्वर में किये जाने वाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान-भक्ति विशेष से संतुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्त पर अनुग्रह करते हैं; अतः पाप आदि कारणों से होने वाले विघ्न और प्रतिबंधकों के अभाव हो जाने से उस भक्त को थोड़े ही समय में समाधि और उसके फल की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।' 'उस ईश्वर का वाचक-नाम-प्रणव-प्रति-पाद्य ईश्वर का चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।'

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणव के अर्थभूत परमात्मा का भली भांति चिन्तन करने से अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है, तदन्तर बुद्धि में स्पष्ट रूप से परमात्मा प्रकाशित होते हैं; अर्थात् परम तत्व ज्ञान का उद्गम होता है - यह इन तीनों सूत्रों का सम्मिलित अर्थ है।

(योगाङ्क)

-वाचिक ज्ञानी:-

वाचिक ज्ञानी मकेघणारे, भणी ग्रन्थ बतावे ज्ञान।
आप, उद्योत, थया बिना रे, एतो सर्वे छे जीव समान।।
बातसुणी वेदान्तनीरे, कोई ब्रह्मने माने परोक्ष।
प्रत्यक्ष लक्ष्य ब्रह्म बिना रे, केम जीव नो थाये मोक्ष।।

*** * * * * ***

वांणी केरी जाल मांरे, घणा जीव विचारा घुंचाय।
अन्तर ग्रन्थी छुटे नहीं रे, मत ताणी अधूरा जाय।।
ढग गुरु ओना ठाठ मांरे, कोई जीव न पावे पार।
उग्र अनुभवी जो मकेरे, तेनो आवे छे तत्व विचार।।

अेम विचारी सर्वनेरे करवो तत्व-दर्शी नो संग।
आवे कदी अनुभव तणी रे, थाय भ्रांति सर्व नो भंग।।
सुकृत कोटी जन्म ना रे, जेने उदय थयेला होय।
दर्शन तत्वदर्शी तणां रे, कहे छोटम पाए सोय।।

(प्रह्लाद चरित्र)

श्लोकः- मुनिर्भवति, मौनात्र, नारण्य वसनान्मुनिः।
मुनिर्भवति वश्यात्मा, स्थितिधीर्मुनिरुच्यते।।

अर्थात्:- मनुष्य गूंगा रहने से या अरण्य में बसने से मुनि नहीं होता पर मन को वश करने से मुनि होता है; क्योंकि स्थिर बुद्धि वाला मुनि कहलाता है।

ज्ञानीः- यो हि न कुरुते पापं, सर्व भूतेषु कर्हिचित्।
कर्मणा मनसा वाचा, स ज्ञानी कथ्यते बुधैः।।

अर्थात्:- जो मन वचन या कर्म से किसी समय किसी भी प्राणी के प्रति पाप नहीं करता, उसे समझदार मनुष्य ज्ञानी कहते हैं।

बहुनात्र किमुक्तने, ज्ञाततत्वो महाशयः।
भोग मोक्ष निराकांक्षी, सदा सर्वत्र नीरसः।।

ज्ञानी पुरुष के अनेक प्रकार के लक्षण हैं, उनका लक्षण पूर्ण रीति से वर्णन करना तो कठिन है, परंतु ज्ञानी पुरुष का एक साधारण लक्षण यह है कि ज्ञानी आत्मतत्व का जानने वाला, आत्म स्वरूप के विषे मग्न, भोग और मोक्ष की इच्छा से रहित तथा सदा योग आदि साधनों में प्रीति करने वाला होता है। (अष्टा.गी.)

विधि को कियो कुम्हार जिन, हरि को दस अवतार।
भीख मंगावत ईश को, ऐसो कर्म उदार।।

(भर्तृ.)

जलधि डूब चह मेरु चढ़, विद्या रिपु व्यौपार।
अनहोनी होवे न कहुं, होनी अमिट विचार।।

(भर्तृ.)

ज्ञान गरीबी गुण धरम, नरम वचन निरमोष।
तुलसी कबहुँ न छाँड़िये, शील सत्य संतोष।।

सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मया जी, वै स्वाराज्य मधि गच्छति।।

(मनु. १२/८१)

मनुजी कहते हैं - समस्त भूतों में स्थित अपने आत्मा को और समस्त भूतों को अपने आत्मा में देखता हुआ आत्म यज्ञ करने वाला पुरुष स्वाराज्य लाभ करता है।

मनोनिग्रह।

मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। कामना वाला मन अशुद्ध और कामना रहित मन शुद्ध कहलाता है। मन ही मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण है। विषयों की आसक्ति वाला बंध के हेतु है और विषयों की आसक्ति रहित मन मोक्ष की प्राप्ति कराता है। इससे मुमुक्षुओं को अपने मन को विषय वासना से रहित करना चाहिये। जहाँ तक (मन) हृदय में स्थित होकर विषयासक्ति को त्याग न करे वहाँ तक उसका निरोध करना यह ज्ञान तथा ध्यान है। इससे भिन्न ग्रन्थ का विस्तार है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही आत्मा है। तीन अवस्था से परे और सर्व भूतों में स्थित आत्मा को जानकर अधिकारी मुक्ति पाता है। शब्द - ब्रह्म और परब्रह्म को पाता है। बुद्धिमान ग्रंथ का अभ्यास कर ब्रह्म को अनुभव कर धान्यार्थी जैसे भूसे का त्याग कर देता है उसी प्रकार सर्व ग्रंथों का त्याग करें। अनेक रंग की गायों में जैसे दूध एक रंग का होता है वैसे ही सर्व शास्त्रों में एक ब्रह्म ही साक्षात् व परंपरा से प्रतिपाद्य है। जैसे दूध में घी गुप्त रहा हुआ है - उसका विवेक युक्त मन द्वारा अनुभव करना चाहिए। जो निरवयव निर्मल, शांत, सर्वभूतों का आधिष्ठान रूप और सर्व भूतों में स्थित है वह ब्रह्म मैं हूं - ऐसा विद्वान अनुभव करे।

(ब्रह्मविन्दूपनिषद्)

मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक।
जो यह मन हरि सो मिलें, तो हरि मिले निःशंक।।

परमानंद प्राप्ति का मार्ग।

साधक ॐकार की हंस रूप से उपासना करें। अकार उसकी दाहिनी पंख है, उकार बाँयी पंख है, मकार पुच्छ है और अर्धमात्रा शिर है, रजोगुण तमोगुण उसके पांव हैं, सत्व - गुण उसका शरीर है और धर्म तथा अधर्म उसकी दांयी-बांयी आखें हैं। उसके शरीर में सात लोक इस प्रकार जानना :- पांव में भूर्लोक, जानु में अंतरिक्ष लोक, कटि में स्वर्लोक, नाभि में महर्लोक, हृदय में जन लोक, कंठ में तप लोक, दोनों भ्रू और ललाट के मध्य में सत्य लोक स्थित है। अकार के देव अग्नि, उकार के देव वायु, मकार के देव सूर्य, और अर्धमात्रा का देव वरूण है। अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा इन चार मात्राओं में प्रत्येक की उदात्त, अनुदात्त और स्वाति ऐसी तीन-तीन कला होने से चार मात्रा की १२ कला वा मात्रा होती है। घोषिणी, विद्युन्माली, मतंगी, वायु वेगिनी, नाम धेया, ऐंद्री, वैष्णवी, शांकरी, महती, ध्रुवा, मौनी तथा ब्राह्मी यह बारह नाम कलाओं के हैं। पहली कला की धारणा में स्थित अन्त करण वाले का मृत्यु होवे तो वह राजा होता है, दूसरी कला की धारणा में प्राण वियोग होवे तो यक्ष, तीसरी कला की धारणा में शरीर छूटे तो विद्याधर, चौथी कला की धारणा में शरीर तजे तो गंधर्व, और पांचवी कला की धारणा में मरे तो देव होता है, छटी कला की धारणा में शरीर तजे तो इन्द्र के सायुज्य को, सातवीं कला की धारणा में मृत्यु होवे तो विष्णु लोक को, आठवीं कला की धारणा में मरण होवें तो शिव लोक को, नवीं कला की धारणा में प्राण वियोग होवें तो महालोंक को, दसवीं कला की धारणा में शरीर पड़े तो ध्रुव लोक को प्राप्त होता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।
(कठ.२/२४)

भावार्थ :- जो व्यक्ति पाप से निवृत्त नहीं हुआ है अथवा जो केवल इन्द्रिय परायण है एवं जो असमाहित अर्थात् एकाग्रता रहित, चञ्चल चित्त है वह कभी आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता; अथवा जो व्यक्ति अशांत मन वाला है अर्थात् फल कामना से आसक्त चित्त वाला है, वह केवल विचार के द्वारा आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

उपनिषद् में आत्मा की प्राप्ति के विषय में कहा है :-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। (कठ.३/१२)

समस्त भूतों के अन्दर आत्मा-चैतन्य गुप्त रूप से निहित है, यह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। किन्तु ध्यान निश्चल सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्म दर्शियों को यह आत्मा दिखाई देता है। अर्थात् वह उनके सामने प्रकट होता है।

* * * * * *

श्री पञ्चीकरण वार्तिकम्

श्लोक :- ॐकारः सर्व वेदानां सारस्तत्व प्रकाशकः।
तेन चित्त समाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते।।१।।

ॐकार यह सर्व वेदों का सार रूप है, और ब्रह्म तत्व को प्रकाश करने वाला है, उस प्रणव की उपासना द्वारा मुमुक्षुओं के चित्त के समाधान को निरूपण करते हैं ।।१।। प्रथम नित्य मुक्त और विक्रिया से रहित ऐसा एक परब्रह्म था वह अपनी माया में भली प्रकार प्रतिबिंबित होने से अव्याकृत रूप (ईश्वर रूप) जगत् का बीज हुआ ।।२।। उस बीज से जिसका शब्द गुण है, ऐसा आकाश उत्पन्न हुआ, उस आकाश से स्पर्श गुण वाला वायु उत्पन्न हुआ और उस वायु से जिस का रूप गुण है ऐसा तेज उत्पन्न हुआ ।।३।। उस तेज से रस रूप ऐसा जल उत्पन्न हुआ, और उस जल से गंध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई, इनमें आकाश एक शब्द गुण वाला ही है, और वायु शब्द और स्पर्श ऐसे दो गुणवाला ।।४।। तेज यह शब्द स्पर्श और रूप गुणवाला कहलाता है, और जब कि जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण हैं ।।५।। पृथ्वी यह शब्द स्पर्श, रूप, रज, और गंध ऐसे पांच गुण वाली है। उन अपंचीकृत पंच महाभूत से सूत्रात्मा जिसको लिंग शरीर रूप अथवा महत् कहते हैं, वे उत्पन्न हुए ।।६।। इन अपंचीकृत पंच महाभूतों से पांच स्थूल भूत उत्पन्न हुए और इसमें विराट स्वरूप उत्पन्न हुआ, पंचीकृत ऐसे पंच महाभूत को विद्वान लोग स्थूल भूत ऐसी संज्ञा से कहते हैं ।।७।। पृथिव्यादि जो अपंचीकृत पंच महाभूत हैं, इन प्रत्येक के दो प्रकार से विभाग करे, और पुनः उनका एक भाग लेकर उसके चार प्रकार से विभाग करे ।।८।। और फिर एक-एक भाग को क्रम पूर्वक एक-एक भूत के विषे डाले, इससे (ऐसा करने से) आकाश भूत के पांच भाग होते हैं ।।९।। इसी प्रकार वायु आदि के चार भागों की व्यवस्था करे यह पंचीकरण हुआ, ऐसा तत्वदर्शी गण कहते हैं ।।१०।। ये पंचीकृत भूत हैं, और उन का कार्य विराट् स्वरूप है यह विराट्, निराकार जो परमात्मा उसका स्थूल शरीर है ।।११।। अधिदेव, अध्यात्म और अधिभूत ऐसे तीन प्रकार के विभाग द्वारा एक ब्रह्म भ्रम से जनाता है, परन्तु तत्व से (वास्तविक रीति से) ऐसा नहीं है ।।१२।। देवता के अनुग्रहयुक्त ऐसी इन्द्रियों से जो बाहर के विषयों का ज्ञान होता है, उन शब्दादि विषयों का ज्ञान जाग्रत अवस्था का कहाता है ।।१३।। श्रोत्र (कान) अध्यात्म है, ऐसा कहा है, श्रवण करने के विषय रूप शब्द वह अधिभूत कहा है, और वहां दिशा यह अधिदैवत है ।।१४।। चमड़ी (त्वचा) यह अध्यात्म कहा गया है, स्पर्श करने के विषय रूप जो स्पर्श वह अधिभूत है और वायु इसमें अधिदेव है ।।१५।। चक्षु अध्यात्म है ऐसा कहा है, देखने के विषय रूप जो रूप वे अधिभूत और उनमें सूर्य अधिदैवत है ।।१६।। जिह्वा यह अध्यात्म है, उसी प्रकार स्वाद के विषय रूप जो रस वह अधिभूत और और जिह्वा के विषे अधिदैवत वरूणदेव हैं

॥१७॥ नासिका यह अध्यात्म कहाती है सूंघने के विषय-रूप गन्ध अधिभूत और उसमें पृथ्वी अधिदैवत है ॥१८॥ वाणी यह अध्यात्म कहलाती है, बोलने के विषय रूप शब्द अधिभूत और उसमें अधिदैवत अग्नि है ॥१९॥ हाथ यह अध्यात्म कहलाते हैं, जो ग्रहण करने का विषय यह अधिभूत और इन्द्र उसमें अधिदेव है ॥२०॥ पांव यह अध्यात्म कहाते हैं, उसमें जो जाने का विषय है अधिभूत है और उसमें अधिदैवत विष्णु है ॥२१॥ गुदा अध्यात्म कहाती है उसमें जो मल त्याग का धर्म है यह अधिभूत और मृत्यु अधिदैवत कहलाता है ॥२२॥ लिंग इन्द्रिय अध्यात्म है, स्त्री आदि द्वारा जो आनंद का हेतु वह अधिभूत और प्रजापति उसके अधिदैव हैं ॥२३॥ मन अध्यात्म कहाता है, उसमें जो मनन का विषय वह अधिभूत और उसमें चन्द्र यह अधिदैव है ॥२४॥ बुद्धि अध्यात्म है ऐसा कहा गया है उसमें जो जानने का विषय है वह अधिभूत और बृहस्पति उसके अधिदेव हैं ॥२५॥ इसी प्रकार अहंकार यह अध्यात्म है और अहंकार का विषय अधिभूत तथा उसमें अधिदैवत रूद्र है ॥२६॥ चित्त अध्यात्म है, उसमें जो चिंतन का विषय वह अधिभूत और यहां क्षेत्रज्ञ यह अधिदैव है ॥२७॥ अज्ञान अध्यात्म, उसमें जो विकार होता है वह अधिभूत और ईश्वर उसका अधिदैव कहा गया है ॥२८॥ इस प्रकार देवताओं के अनुग्रह से युक्त ऐसी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा तथा अन्त: करण द्वारा अपने-अपने विषय का जो कर्म तथा ज्ञान उत्पन्न होता है वह जागरित कहाता है ॥२९॥

यह जागृत अवस्था और करण का आश्रय रूप ऐसा शरीर इन दोनों का जो अभिमानी है, वह विश्व इस प्रकार कहलाता है ॥३०॥ इस विश्वको भेद की निवृत्ति के अर्थ विराट् रूप में देखे पांच ज्ञानेन्द्रियां है और पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३१॥ कान, त्वचा, आँख, नासिका और जीभ यह पांच ज्ञानेन्द्रिय है, और, वाणी, हाथ, पग, गुदा, लिंगेन्द्रिय यह पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३२॥ मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त यह अन्त: करण चतुष्टय है। इसमें मन संकल्प रूप है, तथा बुद्धि निश्चय रूप है ॥३३॥ इसी प्रकार अहंकार अभिमानरूप कहा गया है और जो चित्त है वह स्मरण धर्म वाला कहाता है ॥३४॥ प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान यह पांच प्राण वृत्तियां कही गई हैं ॥३५॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी यह पांच सूक्ष्म भूत हैं। ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, अन्त:करण, प्राण, भूत और अविद्या, काम तथा कर्म यह सब लिंग शरीर हैं इसको विद्वान् पुर्यष्टक ऐसा जानते हैं ॥३६॥ प्रत्यगआत्मा का यह सूक्ष्म शरीर मायिक है, इन्द्रियों के उपराम पाते हुए जाग्रत के संस्कार से उत्पुन्न हुए ज्ञान की तरह ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने वाला इन दोनों रूप करके जो स्फुरण होता है, वह 'स्वप्न' कहाता है ॥३७-३८॥ ज्ञानी पुरुष दोनों शरीर का कारण रूप और चैतन्य भास से युक्त ऐसे तैजस को हिरणयगर्भ रूप चिन्तन करे ॥३९॥ आत्मा के आश्रय रहा जो अज्ञान वह अव्यक्त है, और वह अव्याकृत ऐसा कहाता है, वह सत् नहीं असत् नहीं, और सत् असत् नहीं, आत्मा से भिन्न

नहीं, अभिन्न नहीं तथा भिन्नाभिन्न नहीं ।।४०।। वह सावयव नहीं, निरवयव नहीं और उभय रूप भी नहीं, मिथ्या पने के ज्ञान से ब्रह्मात्मा के एक पने के विज्ञान से वह हेय है ।।४१।। बाह्य तथा आन्तर ज्ञान का उपसंहार और बट के बीज में बट की भांति बुद्धि के कारण पन में स्थित, वह सुषुप्ति कहाती है ।।४२।। इन दोनों (ग्राह्य ग्राहक) का जो अभिमानी वह प्राज्ञ ऐसा कहाता है, मुमुक्षु प्रज्ञात्मा को कारण रूप से चिंतन करे ।।४३।। चैतन्य रूप एक तत्व, अति अविवेक से विश्व, तैजस, प्राज्ञ, विराट्, सूत्रात्मा और अक्षरात्म से भेद पाया हुआ मालूम होता है ।।४४।। इससे विश्वादिक जो तीन, यह वैराटादिक तीन रूप हैं, इससे दूसरों के अभाव की भली प्रकार सिद्धि के अर्थ एकपन एकत्व से ही देखे ।।४५।। वाच्य वाचक के अभेद से तथा पृथकपन के अभाव हो जाने से, विश्व तथा प्रज्ञादि लक्षण वाला समग्र जगत ॐकार मात्र है ।।४६।। अकार मात्रा यह विश्व है, उकार को तैजस कहा है, और जो मकार है वह प्राज्ञ है इस प्रकार क्रम है देखे ।।४७।। समाधि के समय से प्रथम बहुत प्रयत्न से ऐसा विचार कर क्रम से स्थूल सूक्ष्म सर्व का चिदात्मा के विषे लय करे ।।४८।। विराट् और विश्व रूप अकार का उकार में भली प्रकार लय करे सू त्रात्मा तथा तैजस रूप उकार का मकार में भली प्रकार लय करे ।।४९।। अव्याकृत और प्राज्ञरूप मकार का चिदात्मा के विषे भली प्रकार लय करे। जो मैं चिदात्मा नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य युक्त सद्रूप, अद्वय, परमानन्द का समूह रूप और वासुदेव रूप हूँ, ऐसा जानकर विवेचन करने वाला जो चित्त उसका उसके साक्षिरूप चिदात्मा में भली प्रकार लय करे ।।५०-५१।। चिदात्मा के विषे विलीन किये हुए उस चित्त को फिर कुछ भी चलायमान न करे और पूर्ण तथा अचल समुद्र की तरह पूर्ण बोध रूप निश्चल (स्थिर) होवे ।।५२।। इस रीति से श्रद्धा भक्ति युक्त, जितेन्द्रिय, जितक्रोध, और एकाग्रचित्त वाला योगी अद्वय आत्मा को देखे।।५३।। जिस हेतु से आदि मध्य और अन्त में यह सर्व जगत् दुःख रूप है। उस हेतु से सर्व का परित्याग करके सदा तत्व में है निष्ठा जिसकी ऐसा होय ।।५४।। जो योगी सर्व व्यापक, शान्त, आनंद रूप और अद्वय ऐसे आत्मा को देखता है, उस योगी को दूसरा कोई पाने योग्य या जानने योग्य शेष नहीं रहता ।।५५।। सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित वासुदेव परब्रह्म को जो देखता है वह विद्वान् कृत कृत्य होता है, और सदा जीवन मुक्त होता है ।।५६।। वह जो व्यवहार में कभी-कभी द्वैत को देखता है, परन्तु चैतन्य के अन्वय से बोधात्मा से व्यतिरेक रूप नहीं देखता; किन्तु दिशा की भ्रांति और चन्द्र के विभाग की तरह वह द्वैत को मिथ्या रूप ही देखता है और शरीर की प्रतीतिता प्रारब्ध के संचय होने से होती है ।।५७-५८।। उसके विदेह कैवल्य में प्रारब्ध के क्षय पर्यन्त की ही विलंब है, इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है। प्रारब्ध की अनुवृत्ति तो मुक्तको आभास मात्र सी है ।।५९।। जाना है तत्व जिसने ऐसा वह पुरुष सर्वदा मुक्त ही है, और प्रारब्ध भोग के शेष का भली-उत्तम प्रकार नाश हुये पश्चात् अविद्या रूप अंधकार से पर, सर्व आभास से अत्यन्त रहित, चैतन्य रूप, निर्मल, शुद्ध, मन वाणी का अविषय।

वाच्य वाचक से निर्मुक्त त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य से रहित, सर्वज्ञान का घनरूप और आनंद रूप ऐसे परमात्म पद को वह पाता है ॥६०-६०-६२॥ यह प्रकरण अमानीपन-गर्व रहितता आदि नियमों से और गुरु भक्ति के प्रसाद से पवित्रतम पुरुषों को यत्न से जानने योग्य है ॥६३॥ इस लोक परलोक के भोगों में आसक्ति रहित बुद्धि वाला (निर्मल बुद्धि वाला) योगी इस विद्या का सर्वदा संध्या काल में प्रयत्न से भली प्रकार अभ्यास करे ॥६४॥ जो पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर निरन्तर स्वात्मा का चिन्तन करता है वही जीवन मुक्त है और उसे पुनर्जन्म का सम्भव नहीं ॥६५॥

इति

* * * * * *

श्री शंकराचार्य मंडन मिश्र के प्रति कहते हैं :-

प्रणवाभ्यसनोक्तकर्मणः।

करणेनापि गुरोर्निषेवणात्॥

अप गच्छति मानसं मलं;।

क्षमते तत्व मुदीरितं ततः॥

अर्थात् :- हे मंडन पण्डित! ॐकार का निरन्तर जप करने से, शास्त्र की आज्ञानुसार निष्काम कर्म करने से और गुरु की सेवा करने से मन के मल दूर हो जायं तब वह मन गुरु के कहे हुए आत्मतत्व को धारण करने में समर्थ होता है।

हरिरेकः सदा ध्येयो, भवद्धिः सत्व संस्थितैः।
ओमित्येवं सदा विप्राः पठत ध्यान केशवम्॥

अर्थ :- आप लोगों को सत्व गुण में स्थित होकर निरंतर एक श्रीहरि का ही ध्यान करना चाहिये। हे विप्रगण! इस प्रकार ॐ का सदा जप करो और केशव का ध्यान करो।

-(महाभारत)

आचार्य प्रह्लाद के प्रति कहते हैं :-

बेटा प्रह्लाद! वैष्णव धर्म में सबसे अधिक महत्व गुरु का ही माना गया है। ऋषियों ने कहा है कि :-

बाल मूक जड़ान्ध   .ङ्गवो बधिरस्तथा।
सदा चार्येण संदृष्टाः प्राप्नुवंति परांगतिम्।।१।।

गुरुणा योऽभिमन्येत गुरुं वा योऽभिमन्यते।
तावुभो परमां सिद्धिं नियमादुप गच्छतः।।२।।

-(नारद पञ्चरात्र)

अर्थात् :- शिष्य चाहे बालक हो, मूक हो, जड़ हो, अंधा हो, पङ्गू हो, और चाहे बधिर हो; किन्तु मदीयत्व के अभिमान के साथ यदि उसको अच्छे आचार्य कृपा दृष्टि से देखते हैं तो शिष्य अवश्य ही परमपद मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जिस शिष्य को गुरु अपना रक्ष्य मानते हैं अर्थात् जिस शिष्य की रक्षा का भार सद्‌गुरु अपने ऊपर समझते हैं और जो शिष्य सद्‌गुरु को अपना रक्षक-मोक्ष प्रदाता समझते हैं, वे दोनों ही शिष्य-प्रपत्ति के नियमानुसार परम सिद्धि-मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतएव हे राजकुमार! तुम हम गुरुओं को अपना रक्षक मानों। हम लोग यदि तुमको अपना रक्ष्य न मानते तो तुम्हारे साथ इतनी माथा पच्ची न करते और अबसे बहुत पहिले ही तुमको तथा तुम्हारे दूसरे साथियों को दैत्यराज के कठोर हाथों में सौंप कर यह कह देते कि ये पागल हो गये हैं, और इनको सम्भालना हमारी शक्ति के बाहर है। परन्तु हम तुम्हारा बध नहीं, कल्याण चाहते हैं। तुम हम पर विश्वास करो। वैष्णव धर्म के अनुसार ही तुम विश्वास करो; तुम्हारे हरि तुमको परमपद् अर्थात् मोक्ष देगें।

इस पर प्रह्लाद कहता है :-

'आचार्य चरण' इसमें सन्देह नहीं कि आपने हमको शास्त्रज्ञान दिया है, आप लोग हम लोगों के गुरु है और पिता के पद से भी अधिक पूज्य हैं, किन्तु वैष्णवता के गुरु नहीं वैष्णव धर्म में उसके उपदेश के लिये, सद्‌गुरु की आपने जो महिमा कहीं है उसके लिए भी आप सद्‌गुरुपद के लिये योग्य हो जायं, तो मेरे हर्ष का पारावार न रहे। इसी अभिप्राय से तो मैं आप लोगों से बारम्बार कहता हूँ कि आप लोग भी हरिभक्त होकर एकबार कहें तो 'हरे र्नामेव नामैव नामैव मम जीवनम्' फिर देखें हम लोग आपको अपना विद्या गुरु ही नहीं, धर्म गुरु भी मानने लेगें और फिर आपकी यह पाठशाला वैष्णव शाला संसार के नाम न जाने कितने पतित पामर प्राणियों की उद्धार शाला बन जाय। गुरु जी! वैष्णव शास्त्रों में जहां सद्‌गुरु की महिमा कहीं गई है वहाँ उनके लक्षण और आचार भी तो कहे हैं:-

ऋषियों ने कहा है :-

स्वयं वा भक्ति संपन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः।
स्वकर्मनिरतो नित्य मर्हत्याचार्यतां द्विजः।।

नाचार्य कुल जातोऽपि ज्ञान भक्तयादि वर्जितः।
न च हीन वयो जातिः प्रकृष्टा नाम नापदि।।

(भारद्वाज संहिता)

अर्थात् :- वे ब्राह्मण, आचार्य पद के योग्य होते हैं जो स्वयं भक्त हों ज्ञान एवं वैराग्य के गुणों से भूषित अपने कर्म के करने वाले हों; ब्राह्मण एवं गुरु कुल में उत्पन्न होने पर भी ज्ञान-भक्ति आदि से रहित व्यक्ति आचार्य पद के योग्य नहीं होते और उत्कृष्ट जाति एवं उत्कृष्ट वय के शिष्य के विषे हीन वय एवं हीन जाति का व्यक्ति आचार्य पद के योग्य नहीं होता इसी कारण हम लोग चाहते हैं कि आप भगवद्भक्त होकर हम लोगों के सर्वथा आचार्य बनकर हम लोगों का उद्धार करें।

सद्गुरु-लक्षणः-

लोह कूं ज्यूं पारस पाषानहु पलटि लेत।
कंचन छुवत होत, जगमें प्रमानिये।।
द्रुम कुं ज्यूं चंदन, पलट ही लगाय वास।
आपके समान ताकु शीतलता आनिये।
कीट कुं ज्यूं भृगिंहू, पलट के करत भृंगि
सौउ उड़ि जाइ ताको अचरज मानिये।।
सुन्दर कहत यह सगरे प्रसिद्ध बात
सद्य शिष्य पलटै सो, सद्गुरु जानिये।।१।।

पढ़े के न बैठे पास; अक्षर न वांचि सकै;
बिन हीं पढ़ेते कैसे आवत है फारशी।
जह्वरी के मिले बिन परखि न जाने कोई
हाथ नग लिये रहै संशय न टार सी।।
वेदहु न मिल्यो काउ बूटी कूं बताइ देत,
भेद बिनु पाये वाके औषध है छारसी।
सुन्दर कहत मुख रंचहु न देख्यो जाइ,
गुरु बिन ज्ञान जैसे अंधेरे में आरसी।।२।।

ॐ गुरु से बढ़कर शिष्य८, नहिं कोई जग मांहीं,
ॐ नहिं कोई जग मांहीं। गुरु बिन मोक्ष न होय,
ॐ गुरु बिन मोक्ष न होय, निगमागम गाई।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।२।।

भावार्थ :- हे शिष्य! जिस प्रकार शिष्य के लिये गुरु से बढ़कर संसार में कोई नहीं है; उसी प्रकार गुरु की दृष्टि में भी उत्तम, सेवक-शिष्य से चढ़कर प्रिय कोई नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि से संसार तो तीन काल में रहता नहीं, केवल ज्ञान (मुक्ति) रहती है। उसे यदि शिष्य न हो तो किसे देवें! "बिना शिष्य के मुक्ति (ज्ञान) का प्रकाश नहीं (उपयोग नहीं) और बिना मोक्ष के गुरु पद की सिद्धि नहीं", यह वेद शास्त्र का कथन है; इसलिए तू सब चिन्ता त्याग मुमुक्षु बन, हे प्रणवरूप, पिय आत्मा, गुरुदेव स्वरूप प्राप्त कर मुक्त हो!

मुक्त हो! मुक्त हो! ।।२।।

---

८. प्रिय शिष्य :-

सत्वं प्रियान् प्रिय रूपों ँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्य साक्षी। नैता ँसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति वहवोमनुष्याः ।।कठ.उ.२/३।।

यमाचार्य ने कहा :- हे नचिकेता! मैंने तुमको बेटे-पोतों का लोभ दिया; प्रिय आकृतिवाली सुन्दर स्त्रियों का लोभ दिया और समस्त संसार के सुखों का प्रलोभन दिया परन्तु तूने इनको दुःख रूप विचार करके स्वीकार नहीं किया। मैंने तुझे इस सांसारिक धन के क्रम का, जिसमें प्रायः मनुष्य लिप्त है, भी लोभ दिया। परन्तु इनमें से तूने किसी भी वस्तु को प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। और भी जितनी एषणा अर्थात् राज्य और प्रभुत्व की इच्छा है, उसका लोभ दिया, परन्तु तूने उसे भी स्वीकार नहीं किया। सारांश यह कि जितनी बाधाएँ आत्मज्ञान के मार्ग में हैं उन सबको पेश किया परन्तु तू किसी बाधा से नहीं रूका और न किसी वासना में लिप्त हुआ, अतः तेरी बुद्धि पूर्ण प्रशंसा के योग्य है। क्योंकि :-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपिवहवो यं नविद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।कठ.उ.२/७।।

यमाचार्य बताते हैं जिस ब्रह्मविद्या को श्रवण के वास्ते भी बहुत से मनुष्यों को अवसर नहीं

मिलता (अर्थात न तो योग्य आचार्य मिलाता है और न प्रबल इच्छा ही उसके जानने की होती है) तथा प्रायः मनुष्य इस ब्रह्मविद्या को पढ़ते और सुनते हैं, तो भी इसकी वास्तविक दशा को भली प्रकार नहीं जान सकते। क्योंकि जगत् में नियम ही यह है। प्रथम तो रत्नों की दूकानें ही बहुत कम होती है, दूसरे इसके ग्राहक भी बहुत कम होते हैं। लाखों करोड़ों दीनों को तो रत्नों का नाम तक नहीं मालूम। और बहुत से मोल लेने की शक्ति ही नहीं रखते, और जो रखते हैं, वह पहिचान नहीं सकते। ऐसे ही बहुत से लोग ब्रह्मविद्या की इच्छा रखते हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या के पास जाकर भी अल्प-विद्या के कारण ब्रह्म-विद्या की पहिचान नहीं कर सकते। वास्तव में ब्रह्म-विद्या के जानने वाले आचार्य (जो इसका उपदेश करें) बहुत थोड़े मिलते हैं।

पूर्ण विद्वान मनुष्य ही विद्या को प्राप्त कर सकता है। इस विद्या को जानना सरल नहीं है; क्योंकि जब तक 'ब्रह्म-श्रोत्रिय' अर्थात् ब्रह्मविद्या को जानने वाला, और 'ब्रह्मनिष्ठ' अर्थात् - अनुभवी आचार्य, उपदेश करने वाला, न मिले, तब तक इसे कोई जान नहीं सकता। परन्तु आचार्य की खोज महा कठिन है, क्योंकि जो ब्रह्मविद्या जानते हैं, वह कहते नहीं, और जो कहते हैं, वे जानते नहीं, अतएव इसका पता लगाना महा कठिन है। क्योंकि जो कहे कि "मैं ब्रह्मविद्या जानता हूँ वह वास्तव में कुछ भी नहीं जानता, इसलिये उस से शिक्षा पाना व्यर्थ है। और जो जानने का प्रण न करे, उसे हम किस प्रकार समझ सकते हैं कि वह जानता है इससे शिक्षा लेनी चाहिए। क्योंकि ब्रह्म-विद्या के पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों ही कठिनता से दृष्टि पड़ते हैं।

(यमाचार्य ने इस कथन से यह प्रकट किया है कि नचिकेता तू बड़ा ही बुद्धिमान है, जो ब्रह्मविद्या को सीखना चाहता है)।

मंत्र :- नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्य धृतिर्वतासित्वादृ ङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।। (कठ. उ. २/९)

अर्थ :- यमाचार्य ने कहा हे नचिकेता! तू मेरी दी हुई उस विद्या को तर्क करके नष्ट नहीं कर देता, क्योंकि यह तर्क से भी बलवान् वेद के जानने वाले आचार्य का उपदेश है। तर्क में भूल हो सकती है, यथा 'हेतु' की जगह 'हेत्वाभास' अर्थात् धोखा देखने में आता है। परन्तु वेद का उपदेश सत्य ज्ञान के वास्ते है। हे प्रिय पुत्र! जिस ब्रह्म-विद्या को तू ने प्राप्त किया है, उसको सत्य और धैर्य के साथ क्रिया से पूर्ण होकर काम में ला। आचार्य ने कहा-हे नचिकेता! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ। कि तेरे जैसा और भी विद्यार्थी मुझको मिले, क्योंकि अधिकारी विद्यार्थी के पढ़ाने से ऋषि-ऋण पूरा होता है। आशय यह है कि जिस समय किसी गुरु को अधिकारी विद्यार्थी मिल जाता है, तो उसको इतनी प्रसन्नता होती है। कि जिसकी सीमा नहीं। गुरु के लिये 'सत् शिष्य' के समान प्रिय त्रिलोक में कोई वस्तु नहीं होता है।"(कठोपनिषद्)

ॐ गुरु कीरती[९] अपरोक्ष, मुमुक्षु जन करता,
ॐ मुमुक्षु जन करता। नुगरा कुत्रक[१०] करके,
ॐ नुगरा कुत्रक करके, शून्य मोक्ष ते होता।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।३।।

भावार्थ :- हे शिष्य! जो मुमुक्षु होता है वह प्रणवरूप गुरुदेव की अपरोक्ष-प्रत्यक्ष कीर्ति गुण चिन्तन करता है, और नुगरा कुतर्कता करके मोक्ष से शून्य-विमुख होता है, निश्चय करके कुत्रक करने से मोक्ष से शून्य होता है। हे प्रणव प्रिय आत्मा! गुरुदेव (परमात्मा) की भांति मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो।।३।।

हे प्रणव प्रिय आत्मा! गुरुदेव (परमात्मा) की भांति मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ।।३।।

शिष्य प्रशंसा :-

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया।
यदविद्याबन्धमुक्तया, ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ।।५२।।

गुरु कहते हैं - हे शिष्य! तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझ से पवित्र हो गया। क्योंकि-तू अविद्या रूपी बंधन से छूटकर, ब्रह्मभाव को प्राप्त होना चाहता है।

ऋणमोचनकर्तारः, पितु; सन्ति सुतादयः।
बन्धमोचनकर्ता तु, स्वस्मादन्यो न कश्चन ।।५३।।

अर्थात् :- पिता के ऋण को चुकाने वाले तो पुत्रादि भी होते है, परन्तु भव बंधन से छुड़ाने वाला अपने से भिन्न कोई नहीं है। -(विवेक चूड़ामणि)

९ - गुरु कीर्ति :-

यावदायुस्त्रयो बंद्या, वेदांतो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानप्रसिद्धयर्थ, कृतघ्नत्वापनुत्तये ।।१।।

अर्थात् :- जब तक शरीर की आयु है, तब तक वेदान्त शास्त्र और उसके उपदेष्टा गुरु तथा ईश्वर इन तीनों की बन्दना करना योग्य है। क्योंकि ज्ञान होने के प्रथम तो ज्ञान प्राप्ति के लिये वेदान्त शास्त्र का श्रवण, गुरु सेवा और ईश्वर भक्ति कर्तव्य है। और ज्ञान हो जाने के पश्चात कृतघ्नता रूप पाप की निवृत्ति के लिये इनका सेवन उचित है। क्योंकि जिन वेदान्त, गुरु और ईश्वर की कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनके उपकार को भूलन से ही कृतघ्नना की प्राप्ति होगी।

इस हेतु कृतघ्नता रूपी महा पाप से बचने के लिये ज्ञान हो जाने पर भी निरन्तर वेदान्त, गुरु और ईश्वर की सेवा करते रहना चाहिये। अर्थात् - परिपूर्ण, अखण्ड, एक रस, परमात्मा के ज्ञान द्वारा दुस्तर संसार-सागर से तरने और कृतघ्नता दोष की निवृत्ति के लिये, ईश्वर और गुरु में भक्तिपूर्वक, देहापात-पर्यन्त, वेदान्त-शास्त्र का विचार करते हुए, काल व्यतीत करना चाहिये। - पंचीकरण

सोरठा :- ह्वै जबही गुरु संग, करै दंड जिमि दंडवत।
धारै उत्तम अंग, पावन पाद सरोज रज ।।१।।

*** * * * * ***

चौपाई :-

गुरु समीप पुनि करिये वासा।
जो अति उत्कट हूवै जिज्ञासा।।
तन मन धन बच अर्पी देवे।
जो चाहै हिय बन्धन छेदे।।
तन करि बहु सेवा विस्तारै।
आज्ञा गुरु की कबहुं न टारै।।
मन में प्रेम राम सम राखे।
ह्वै प्रसन्न गुरु इमि अभिलाषे।।
दोष दृष्टि स्वपने नहिं आने।
हरिहर ब्रह्म रंग रवि जाने।।
गुरु-मूरति को हिय में ध्याना।
धारै जो चाहे कल्याणा।।

-(विचार सागर तरंग ३।१३।१५)

कागभुसण्डी जी गरुड जी के प्रति अपनी पूर्व जन्म की कथा कहते हुए कहते हैं :- हे गरुड़ जी! मैं बहुत वर्षों तक अयोध्यापुरी में रहा, फिर अकाल पड़ा तो विपत्ति के वश मैं परदेश को गया। हे गरुड़ जी! सुनो, मैं दीन, मलीन, दरिद्री और दुखी होकर उज्जैन नगर को गया।

वहाँ कुछ समय बीतने पर मुझे कुछ सम्पत्ति मिल गई, तो फिर महादेव की सेवा करने लगा। वहाँ एक ब्राह्मण वेद की रीति से महादेव की पूजा सदा किया करता था। उसे और दूसरा कुछ काम नहीं था। सो वह बड़ा साधु, परमार्थ को जानने वाला महादेव का उपासक था, और भगवान् की निन्दा नहीं करता था। मैं कपट से उसकी सेवा करने लगा। परन्तु ब्राह्मण बड़ा नीति का जानने वाला और दयालु था हे स्वामी! उस ब्राह्मण ने मुझे बाहर से नम्र देखकर पुत्र की भांति पढ़ाया। श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझको महादेव का मंत्र दिया और अनेक प्रकार से अच्छा उपदेश किया। मैं नित्य महादेव के मंदिर में जाकर मंत्र जपा करूं, परन्तु हृदय में कपट और अहंकार विशेष हो गया। मैं दुष्ट, पापबुद्धि, नीच जाति और ऐसा अज्ञान के वश था कि ब्राह्मण और हरिभक्तों को देखते ही जल जाता और विष्णु से बैर करता था।

गुरु जी मुझको नित्य समझाते (कि देव-देव में गुरु-गुरु में, गुरु-देव में भेद-बुद्धि रखना अच्छा नहीं), और मेरे आचरणों को देखकर दुखी रहते। परन्तु मुझे बड़ा क्रोध होता, क्योंकि पाखण्डी को कहीं नीति अच्छी लगती है? अर्थात् नहीं लगती।

एक बार गुरु जी ने बुलाकर मुझे बहुत प्रकार की नीति सिखाई कि "हे पुत्र! महादेव की सेवा का यहीं फल है कि - रामचन्द्र जी ('विष्णु-गुरु) के चरणों में अचल भक्ति हो। प्यारे! महादेव और ब्रह्मा तक रामचन्द्र जी का भजन करते हैं, फिर क्षुद्र मनुष्य का क्या कहना? जिसके चरणों से देव, दानव, असुर और मनुष्य सभी प्रीति करते हैं, उससे विमुख होकर सुख चाहे सो अभागा है।"

हे गरुड़! (एक दिन) गुरु ने महादेव को विष्णु भगवान् का सेवक कहा। यह सुनकर मेरा हृदय जलने लगा। मैं नीच जाति विद्या पाने से ऐसा हो गया -'पय; पानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम्। उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।।' अर्थात् - जैसे सर्पों को पिलाया दूध उनमें केवल विष को बढ़ाता है, तैसे ही मूर्खों को दिया हुआ उपदेश उनमें शान्ति के बजाय, क्रोध ही बढ़ाता है। मैं अभिमानी, कुटिल, दुर्भाग्य और नीच-जाति ऐसा हो गया कि रात-दिन गुरु से द्रोह करने लगा। परन्तु गुरु बड़े कृपा करने वाले थे, उन्हें थोड़ा भी क्रोध नहीं था, बारम्बार मुझे अच्छा ज्ञान सिखाया करते थे। परन्तु नीच जिससे बड़ाई पाता है, उसे ही वह पहले हठ पूर्वक नाश करना चाहता है। हे भाई! सुनो, धुँआ अग्नि से उत्पन्न होता है, परन्तु वह बादल की पदवी पाकर उसको बुझा देता है। जैसा कि कहा है :- 'कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कम् । प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदर सोदरः खलो जगति ।।' अर्थात् - खल मनुष्य किये हुये उपकार को सर्पवत् दुग्ध के समान निर्भय पीकर; उलटा उपकारी के प्राण लेने का यत्न करता है। धूल मार्ग में निरादर से पड़ी रहती है, और नित्य सबके पैरों की लातें सहती है। पर

पवन के उड़ाने से पहिले तो उस पवन ही में भर जाती है, और फिर राजाओं के नेत्र और मुकटों में पड़ती है। हे गरुड़ जी! सुनो ऐसा प्रसंग समझकर बुद्धिमान् लोग नीचों का साथ नहीं करते। कवीश्वर और पण्डित ऐसी नीति को कहते हैं कि -'दुष्टों से वैर और प्रीति दोनों अच्छे नहीं। हे गोसाँई! उनसे अति उदासीन रहना और उनको कुत्ते की भांति त्याग देना चाहिये।' मैं ऐसा दुष्ट, हृदय का कपटी और कुटिल था कि गुरु तो हित की कहें और मुझे अच्छा न लगै।

मैं एक बार महादेव जी के मंदिर में शिव जी का नाम जपता था, सो गुरु चले आये तो मैंने अभिमान के मारे उठकर प्रणाम नहीं किया। उन कृपालु गुरुदेव ने न तो कुछ कहा और न उनके हृदय में लेशमात्र क्रोध हुआ। परन्तु गुरु के अनादर रूप बड़े पाप को महादेव जी नहीं सह सके। सो मंदिर में आकाशवाणी हुई कि 'अरे अभागे! अरे नीच, अभिमानी! यद्यपि तेरे गुरु को जरा भी क्रोध नहीं और चित्त के कृपालु और बड़े ज्ञानवान् हैं :-

चौपाई :- तदपि साप दैहों शठ तोहीं,
नीति विरोध सोहाइ न मोहीं।
जो नहिं करौं दंड खल तोरा,
भ्रष्ट होइ श्रुति-मारग मोरा।।

तो भी हे मूर्ख! मैं तुझे शाप दूंगा। क्योंकि मुझे नीति विरोध अच्छा नहीं लगता। अरे खल! जो तुझे दण्डित नहीं करूंगा तो मेरा वेद-मार्ग भ्रष्ट हो जायगा।

(वेदमार्ग:- 'गुरुं दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेदभिवाद्य कृताञ्जलिः')

अर्थात् :- गुरु को देखते ही नमस्कार करके, अञ्जली बांध कर स्थित हो जाय। तंत्रसार में लिखा है:-

''गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदग्रतो न तम्।
स दुर्गतिमवाप्नोति पूजा च विफला भवेत्''।।

अर्थात् :- गुरु के पास आने पर जो आगे बढ़ कर उनका सत्कार नहीं करता, वह दुर्गति को प्राप्त होता है, उसकी सब पूजा निष्फल हो जाती है। ज्ञानार्णव में आज्ञा है :-

''गुरुः पिता गुरुर्माता, गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चन।।१।।

गुरोर्हितं प्रकर्तव्यं वाड्मनःकायकर्मभिः।
अहिताचरणाद्देवि विष्ठायां जायते कृमिः।

अर्थात् :- गुरु ही माता, पिता, देवता और सद्गति हैं। यदि शिव रुष्ट हो जायं, तो गुरु बचालें और जो गुरु रूठ जायं तो बचाने वाला कोई नहीं है। इसलिए गुरु का हित मन, कर्म वचन से करना चाहिए। महादेव जी कहते हैं :- "हे देवी! गुरु के विरुद्ध चलने से मनुष्य विष्ठा का कीड़ा होता है"। इसी प्रकार क्रिया सार ग्रन्थ में लिखा है :-

गुरुर्माता पिता स्वामी, बान्धवः सुहृदः शिवः।
इत्याधाय मनो नित्यं, भजेत् सर्वात्मना गुरुम्।।

अर्थात् :- गुरु ही माता, पिता, स्वामी, बांधव, मित्र और शिव है; ऐसा ध्यान करके तन, मन से नित्य गुरु का भजन करना चाहिए।

चौपाई :- जे शठ गुरु सन ईर्ष्या करहीं,
रौरव नरक कल्पसत परहीं।
तिर्यक् योनि पुनि धरहिं सरीरा,
अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा।।

अर्थात् :- जो मूर्ख, गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे सौ कल्प तक रौरव नरक में पड़ते हैं, फिर तिर्यक् योनि में (पक्षी आदि का) शरीर धारण करके दस हजार जन्म तक दुःख भोगते हैं।

चौपाई :- बैठि रहेसि अजगर इव पापी,
सर्प होहु खल मल मति व्यापी।
महा विटप कोटर महँ जाई,
रहु रे अधम अधोगति पाई।।

अर्थात्:- "अरे पापी! तू अजगर की भांति बैठा रहा, इस कारण जा सर्प होजा अरे खल! तेरी बुद्धि में पाप समा गया है, हे नीच! किसी बड़े वृक्ष के घोंसले में जाकर अधोगति को पाकर रह"।

महादेव जी के कठिन शाप को सुन कर गुरु ने बड़ा हाहाकार किया, और महादेव के सन्मुख हाथ जोड़कर गद्गद् वाणी से स्तुति करने लगे :-

"हे शंकर, स्वामी, मुक्त-स्वरूप, समर्थ, व्यापक, ब्रह्म, वेद-मूर्ति! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हे जन्म रहित, निर्गुण, संकल्प-विकल्प रहित, चेष्टा-रहित, ज्ञानस्वरूप, सूक्ष्म और आकाशों में बसने वाले! आपको भजता हूँ।"

"हे उमा नाथ! जब तक आप के चरण कमलों का स्मरण न करे तब तक मनुष्यों को इस लोक और परलोक में सुख शांति नहीं होती है और न संताप का नाश होता है। इस लिये, हे सब प्राणियों में व्यापक प्रभु! आप प्रसन्न होओ।"

* * * * * *

सर्वज्ञ महादेव जी विनती सुनकर और ब्राह्मण की प्रीति देख कर प्रसन्न हुए और मंदिर में फिर आकाश वाणी हुई कि हे ब्राह्मण! 'वरदान मांग', तब गुरु बोले-

"हे स्वामी! जो मुझ पर प्रसन्न हो और दीन पर प्रेम है, तो-हे नाथ! अपने चरणों की भक्ति दो। हे कृपासिंधु भगवान्! और दूसरा वरदान यह दो कि- यह मूर्ख जीव आपकी माया के वश निरंतर भूला हुआ फिरता है। हे प्रभो! इस पर क्रोध नहीं करना चाहिए, हे दीनदयालु शंकर! अब इस (मेरे शिष्य) पर ऐसी कृपा करो, जिससे हे नाथ! थोड़े ही समय में यह शाप मिट जाय। हे दयासागर! इसका अत्यन्त कल्याण हो, वही करो।" ब्राह्मण की परोपकार-युक्त-वाणी सुन कर आकाश-वाणी हुई - "एवमस्तु", अर्थात् - ऐसा ही होय। यद्यपि इसने कठिन पाप किया और फिर मैंने भी क्रोध करके शाप दे दिया, तो भी तुम्हारी साधुता देख कर इस पर बहुत कृपा करूंगा। हे भाई! अब मेरे सत्य वचन सुन, ब्राह्मण (गुरु) की सेवा करना यहीं भगवान् को प्रसन्न करने का व्रत है। अब ब्राह्मण का अनादर मत करना और संतों को भगवान् के समान जानना। हे ब्राह्मण! मेरा शाप निष्फल तो नहीं जायगा, और हजार जन्म तक यह उसे अवश्य भोगेगा। परन्तु, जन्म लेने में और मरने में जो कठिन दुःख होता है, वह इसको कुछ नहीं व्यापेगा।" गुरु ने प्रेमयुक्त हो महादेव जी के वचन सुने और "ऐसा ही होगा" यों कह कर मुझे समझाया, और महादेव के चरणों को हृदय में रख के घर को गये। काल की प्रेरणा से मैं विन्ध्याचल में सर्प हुआ। फिर कुछ समय बीतने पर अनायास ही वह शरीर छोड़ दिया। हे गरुड़ जी! इसी प्रकार नानाप्रकार के शरीरों को धारण कर छोड़ता रहा, पर श्री गुरुदेव की कृपा से मेरा ध्यान स्थिर रहा।"

(अ) गुरुकीर्ति अपरोक्ष करने की रीति।

श्लोक :- श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम, हतो यो ब्रह्मवित्तमः।।
ब्रह्मण्यः पुरतः शान्तो, निरिन्धन इवानलः।
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्।।
तमाराध्य गुरुं भक्तया, प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य, पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः।।

अर्थात् :- जो श्रोत्रिय हों, जाने-आने पाप वाले न हों, निष्काम हों, ब्रह्मवित् हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, निरिन्धन अग्नि के समान शान्त हों, अहेतुक दयासिंधु हों और शरणापन्न सज्जनों के बन्धु (हितैषी) हों। उन गुरुदेव की विनीत और विनम्र सेवा से आराधना करके, उनके प्रसन्न होने पर निकट जाकर अपना ज्ञातव्य इस प्रकार पूछे :-

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो,
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।
मामुद्धरात्मीय कटाक्षदृष्ट्या,
ऋज्व्याति कारुण्यसुधाभिवृष्ट्या।।

अर्थात् :- "हे शरणागत वत्सल, करुणासागर प्रभो आपको नमस्कार है। संसार-सागर में पड़े हुए मेरा अपनी कारुण्यामृतवर्षिणी अति सरल कृपा कटाक्ष से उद्धार कीजिये।"

-(विवेकचूड़ामणि)

(ब) उपगम्य गुरुं विप्रमाचार्यं तत्त्ववेदिनम्।
जापिनं सद्‌गुणोपेतं ध्यानयोगपरायणम्।।
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वशास्त्रविदप्ययम्।
सर्वोपायविधिज्ञोऽपि तत्त्वहीनस्तु निष्फलः।।
यस्यानुभवपर्यन्ता, बुद्धिस्तत्र प्रवर्तते।
तस्यावलोकनाद्यैश्च परनन्दोऽभिजायते।।
तस्माद्यस्यैव सम्पर्कात् प्रबोधानन्द सम्भवः।
गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः"।।

-(शिवपुराण चि.स.अ. १३/४२-४३-४४-४५)

भावार्थ:- सर्व शास्त्र में पारंगत, तत्त्व को जानने वाले, सद्‌गुण सम्पन्न और ध्यान योग में निपुण, ब्रह्मविद्, आचार्य के पास कल्याण की दीक्षा लेनी चाहिए। जो ब्राह्मण सर्व लक्षण सम्पन्न होने पर भी तत्त्वज्ञान से रहित हो, जिसके दर्शन से आनन्द न आवे, जिसके दर्शन से ज्ञान न होता हो, वह कदापि गुरु बनने योग्य नहीं। वास्तविक अपरोक्ष ज्ञान रहित होने पर शेष सब लक्षण निष्फल हैं।

(१०) कु-त्रक :-

कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नावमन्यते।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान्।।

भावार्थ:- जो पुरुष शरीर, मन और वाणी द्वारा ब्रह्म विद्या देने वाले गुरु की अवज्ञा करता है; वह महान् नरक में (रौरव नरक) में पड़ता है। अपने शरीर द्वारा गुरु को खेद पहुँचाना शरीर से करी हुई अवज्ञा करना है। अपने मन में गुरु के सम्बन्ध में कुतर्कना करना, अथवा-उनके बचनामृत का खोटा अर्थ लगाना, अथवा-गुरु के दोषों का चिन्तन करना; यह मन कृत अवज्ञा है। शब्द द्वारा गुरु की निन्दा करना यह वाणी की अवज्ञा है।

-'यह कु-त्रक कहलाते हैं'। -(आत्मपुराण)

ॐ गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, लक्षण श्रुति कहती,
ॐ लक्षण श्रुति कहती। अभयदान के दाता,
ॐ अभयदान के दाता, गुरु सम नहीं कोई।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।४।।

भावार्थः- हे शिष्य! वास्तव में गुरु, श्रुति सिद्धान्तानुसार केवल श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही नहीं वरन् अभयदान का दाता भी होना चाहिये, अर्थात् स्वयं ही मुक्त होकर न रह जाय वरन् परोपकार वृत्ति धारण कर जन-कल्याणकारी बने, ऐसे अभयदान के दाता गुरुदेव के समान संसार में दूसरा कोई नहीं है। ऐसे नित्य-आनन्द स्वरूप केवल गुरुदेव की जय-जय-जय करके हे प्रणव-प्रिय आत्मा! मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! ।।४।।

ॐ
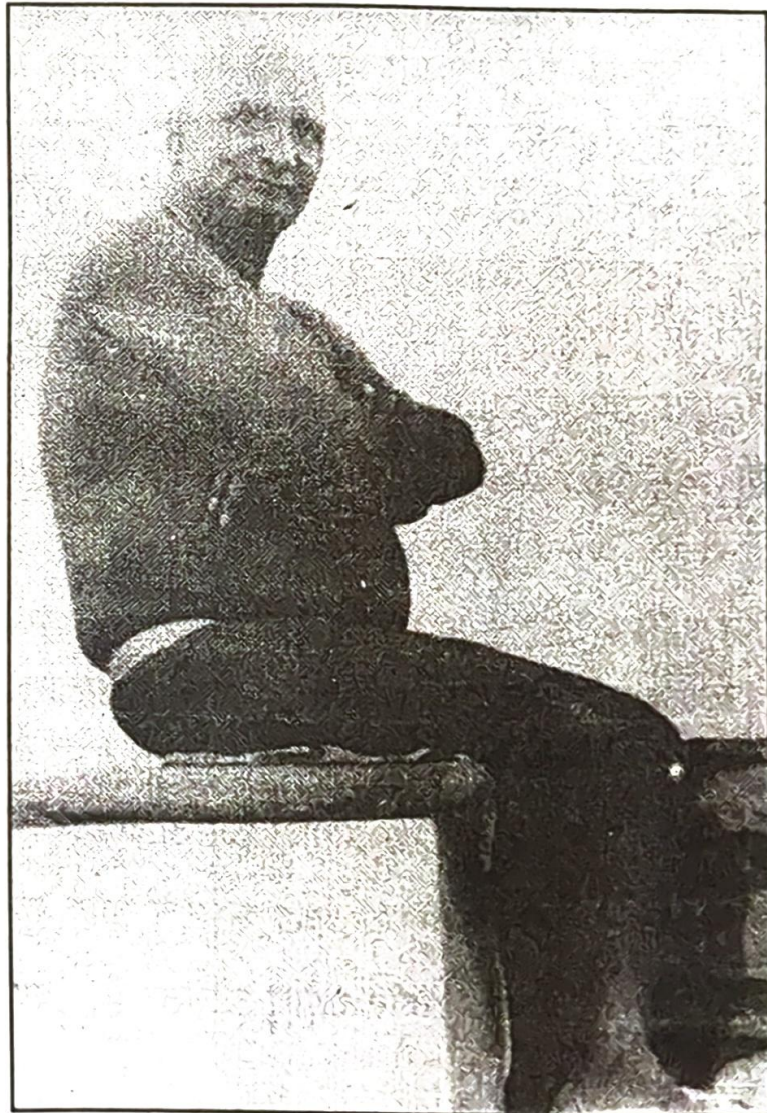
आवरण

"ब्रह्मरूप आत्मा को मैं नहीं जानता हूँ" इस व्यवहार का जो हेतु है सो अज्ञान है। जिसके चित्त में ऐसी प्रतीति होवे है, सो पुरुष अज्ञानी है। उसको तत्त्वज्ञान सम्पादन करना योग्य हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, अन्य साधन से नहीं।

अज्ञान :- आवरणशक्ति और विक्षेप शक्ति वाला अनादि, अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान पदार्थ है। ब्रह्म और आत्मा का आच्छादन-आवरण है। उसके करने की शक्ति कहिये सामर्थ्य सो आवरण शक्ति है। प्रपंच और उसका अज्ञान विक्षेप है, उसके उपजाने का सामर्थ्य सा आवरण-विक्षेप शक्ति है। उत्पत्ति रहित को अनादि कहते हैं। घटादि कार्य के प्रागभाव की न्यांई अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। इससे अज्ञान अनादि है। सत् और असत् से विलक्षण (बोध योग्य, स्वरूपवान्) होने से अज्ञान अनिर्वचनीय है। इसी को मिथ्या कहते हैं। अस्ति व्यवहार का जो हेतु सो भावरूप है। अज्ञान स्वयं जगत् का उपादान कारण होने से अस्ति (है) इस व्यवहार का हेतु है; इससे भावरूप (है) अनिर्वचनीय हुआ जो भावरूप होता है, सो अनिर्वचनीय भावरूप कहिये है। तिस ही अज्ञान को कारण, देह और अविद्या आदि नामों करि कहते हैं। इसके अनेक भेद नाम हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान अधिकारी को प्राप्त होता है सो अधिकारी यह है :-

जिसका इस जन्म विषे वा जन्मान्तर विषे किये निष्काम कर्म और उपासना से 'मल' और 'विक्षेप' दोष नाश हुआ है, और तीसरा 'अज्ञान' दोष शेष रहा है, और इसी से जो विवेक आदि चारों साधन करि संयुक्त हुआ है, सो पुरुष विचार द्वारा आत्मज्ञान का और आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष का अधिकारी है। (वे.वा.वो.)

चार साधन - विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति और मुमुक्षता।

१- विवेकः- आत्मा सत्य और सब जगत् अनित्य है, ऐसा दृढ़ निश्चय करने का नाम विवेक है।

२- वैराग्यः- अर्थात्- इस लोक तथा परलोक के भोगों में अनिच्छा का होना

वैराग्य है।

३- षट् सम्पत्तिः- अर्थात् (१) शम- अर्थात् वासना का त्याग (२) दमः अर्थात् - बाहरी इन्द्रियों को विषयों की प्रवृत्ति से रोकना (३) उपरतिः- अर्थात् प्रपंच से निंवृत्ति (४) तितिक्षाः- अर्थात्- शीतोष्णादि द्वन्द्वधर्मों की सहनशीलता (५) श्रद्धाः- ब्रह्मनिष्ठ गुरु तथा-वेदान्त वाक्यों में विश्वास (६) समाधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता, ये छः मिलकर तीसरा साधन षट्-सम्पत्ति है।

४ - मुमुक्षुता :- संसार के बंधन से मुक्त होने की दृढ़ इच्छा है।

इस प्रकार आत्मा के साधनों में तीसरा साधन षट्-सम्पत्ति कहा है। उसमें प्रथम शम कहा है, जिसके धारण करने से ही काम क्रोधादिक (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) के त्याग रूप वासना का त्याग होता है। उसी प्रकार इसी के छठे साधन समाधान द्वारा मनोराज्य के त्याग रूप चित्त की एकाग्रता को वर्णन किया है। इसलिये प्रथम अवस्था में ही कामक्रोधादिक को त्याग करके बोध सम्पादन करना चाहिये; और बोध होने के पश्चात् भी जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति के लिये उनका त्याग करना उचित है। क्योंकि-काम क्रोधादिरूप क्लेश से बंधवान् पुरुष, जीवन्मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं कर सकता। सो काम क्रोधादि के त्याग न करने से जीवन्मुक्ति की असिद्धि ही है। इसलिये तीव्र मनोमय द्वैत और काम क्रोधादि सर्व दोषों में दोषदृष्टि करके इनका त्याग कर तथा-सर्व अनर्थों के मूल भूत मनोमय द्वैतरूप-मनोराज्य; अर्थात् - मन के रचे हुए अनेक प्रकार के विषयों के संकल्पों को छोड़कर सच्चिदानंद, परिपूर्ण, परमात्मा में अभेद-स्थिति रूप जीवन्मुक्ति के सुख को सम्पादन करना चाहिए।

(पंचीकरण)

* * * * * *

ॐ

अवधूत महाप्रभुश्री १०८ श्री नित्यानंद जी महाराज की

आरती नं. ५

(जीव भाव)

ॐ[1] केवल गुरुदेवं।

ॐ केवल गुरुदेवं, भवसागर से कर ग्रहि,

ॐ भवसागर से कर ग्रहि, करै परली पारं।।

ॐ जय जय जय गुरुदेव।।टेक।।

भावार्थ :- हे प्रणव परमात्मरूप गुरुदेव! आप 'केवल स्वरूप' हैं, निश्चय करके आप 'केवल स्वरूप' ही हैं। हाथ पकड़ कर के इस संसार-सागर से परली पार करने वाले केवल आप ही हैं - निश्चय करके संसार-सागर से परले पार आप ही करते हैं।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! (टेक)

---

१ (अ)- ॐ = एकाक्षर ॐकार रूप ब्रह्म है। मुमुक्षु को चाहिये कि वह प्रणव को ही सर्व का कारण निर्विकार निर्गुण, शिवस्वरूप समझे। (महाविष्णु पुराण - कै.सं.अ. ३-१-७)

(ब)''..............। स यो ह वैतद्भगवन्! मनुष्येषु प्रयाणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ५।१।।

तस्मै सहोवाच। एतद्वै सत्यकाम! परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ।।५।२।। -(प्रश्नोपनिषद्)

भावार्थ :- सत्यकाम ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया :- ''हे गुरु महाराज! जो मनुष्य जीवन पर्यन्त मन और इन्द्रियों को रोक कर ॐकार का ध्यान करता है, अथवा-जिसको ओङ्कार कहते हैं उसमें मन को लगाता है; वह इस कर्म से किस लोक को जाता है?'' उत्तर में पिप्पलादि ऋषि ने कहा :-

"हे सत्यकाम! जगत् में दो प्रकार की वासना है। एक तो सब से श्रेष्ठ मुक्ति की वासना है; दूसरी इन से न्यून सांसारिक-राज्यादि की वासना है। अत: जो ओङ्कार का नियम-पूर्वक ध्यान करता है उसकी जिस प्रकार की वासना हो वह पूरी हो जाती है"। अर्थात्-ज्ञानी पुरुष जिस विचार से ब्रह्म 'ॐ' की उपासना करता है, उसमें वह सफल हो जाता है। उसको पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं रहती, वह तो इसी जन्म में सब सुखों को प्राप्त कर लेता है।

प्रणव सम्बन्धी श्री धर्मकल्पद्रुम तृतीय खंड में कथन।

जहां कुछ कार्य है वहां कम्पन अवश्य होगा, जहां कम्पन है वहां शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टि क्रिया भी एक प्रकार का कार्य है इसलिये सृष्टि कार्य के समय प्रकृति के प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वहीं मंगलकारी ॐकार रूप प्रणव है। सत्व, रज, तम तीनों की साम्यावस्था से जब वेषम्यावस्था होना प्रारंभ हुआ तो सब से प्रथम हिल्लोल जो हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोल की ध्वनि ही ॐकार है। जिस प्रकार साम्यावस्था से संबंध रखने वाली प्रकृति का शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ॐकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृति के नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओं के अनेक बीज-मन्त्र हैं। वेद में ॐ को उद्गीथ कहा गया है, यथा छान्दोग्योपनिषद् में :-

'ओमित्येतदक्षर मुद्गीथ मुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्'

ॐ इस उद्गीथ अक्षर की उपासना करनी चाहिये। ॐ कार इस शब्द को मुख्य रखकर ही भगवान् की स्तुति होती है, इसलिए ॐकार का नाम उद्गीथ है। भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने भी लिखा है:-

'ॐ इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अत: उद्गीथ ॐकारं इत्यर्थ:'

भगवान् पतञ्जलि जी ने ॐकार को ईश्वर का वाचक कहा है यथा योगदर्शन में:-

"तस्य वाचक: प्रणव:" "तज्जपस्तदर्थ भावनम्"
"तत: प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावश्च"

ॐकार ईश्वर का वाचक है, ॐकार का जप तथा अर्थ भावना के द्वारा ईश्वर प्राप्ति तथा विघ्न विनाश हुआ करता है। इसी के अनुसार श्री भगवान् शंकराचार्य जी ने लिखा है:-

"तास्मिन हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति
प्रियनाम ग्रहणेनेवलोक:"

जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारने से लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्री भगवान्

का प्रिय नाम ॐकार उच्चारण करके बुलाने से भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं।

* * * * * *

परब्रह्म रूप ॐकार समस्त मंत्रों का नायक परम पवित्र मंगलमय तथा सकल कामनाओं का साधक है, तीनों वेदों की प्रतिष्ठा इसी आदि मंत्र में है और सकल मंत्रों के प्रयोग में ॐकार का प्रयोग प्रथम होता है। अन्य मंत्रों के साथ प्रथम ॐकार का उच्चारण होने से मंत्रों का फल यथावत् प्राप्त होता है। ''संसार की समस्त वाणी ॐकार में ही संग्रथित है'' छांदोग्योपनिषद् के इस सिद्धान्त का बड़ा ही सुंदर वर्णन लिंग पुराण में मंत्रोत्पत्ति के प्रसंग में किया गया है। यथा :-

सुव्यक्त और प्लुत लक्षण ॐनाद का प्रकाश हुआ। लिंग के सर्वत: स्थित इस प्रकार नाद का स्वरूप निम्न लिखित है। उसका आद्यवर्ण अकार है जो कि दक्षिण की ओर स्थित और सूर्यमंडलवत् दीप्तिमान् है। उत्तर की ओर अग्निप्रभ उकार की स्थिति है और मध्यस्थल में चन्द्रमण्डल की तरह तेजोमय मकार की स्थिति है। इन तीनों के ऊपर शुद्ध स्फटिक की तरह भासमान ॐकार रूपी परम पुरुष विराजमान है। वे तुरीयातीत अमृत निष्कल, चाञ्चल्य और द्वन्द विहीन और आकाशवत् तथा बाह्य और आभ्यन्तर में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त है। ॐकार रूपी उस परब्रह्म के विराट पुरुष के सप्तधातु हैं, रकार उनका आत्मरूप है और अक्षर क्रोधरूप है। इस प्रकार से ॐकार से समस्त वर्णो की उत्पत्ति आर्यशास्त्र में बताई गई है। यही सब वर्ण विराट् पुरुष के भिन्न २ अंक से उत्पन्न होने के कारण प्रकति के स्पन्दनजनित मंत्र हैं और इन मंत्रों के साथ तत्तत्-जनित् प्रकृति के देवताओं का अधिदैव सम्बन्ध है। इस लिये जिस प्रकार समष्टि प्रकृति के स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द ॐ परमेश्वर का वाचक नाम है जिसके जप और अर्थ भावना द्वारा परमेश्वर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के भिन्न विभाग के स्पंदन द्वारा उत्पन्न शब्द भी तत्सत प्रकृति के देवताओं के वाचक नाम हैं जिनके जप और अर्थ भावना द्वारा तत्तद् देवता प्रसन्न होते हैं और दर्शन दिया करते है।

* * * * * *

''स्वाध्यायादिष्ट देवता सं प्रयोगः।''

स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवता का दर्शन होता है। यहाँ स्वाध्याय का अर्थ श्री भगवान् वेदव्यास कृत योगदर्शन भाष्य में मंत्र-जप लिखा है। और सामवेद संहिता भाष्य में भी मंत्र जप लिखा है।

''उपह्वरे गिरिणाँ्सं मे नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत्।।''

पर्वत प्रान्त तथा नदी संगम स्थान पर स्तुति करने से इन्द्र प्रकट होते है।

समष्टि प्रकृति के साथ व्यष्टि प्रकृति का एकत्व संबंध होने से समष्टि प्रकृति के स्पन्दन जनित सारे शब्दों का आविर्भाव व्यष्टि प्रकृति के द्वारा भी अनुभव होता है। अर्थात् ॐकार से लेकर समस्त वर्णों का और मंत्रों का उच्चारण जीव शरीर के भिन्न-भिन्न अंकों द्वारा होता है। जिस प्रकार समष्टि प्रकृति के गर्भ से उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यष्टि शरीर में भी प्रकृति का स्थान मूलधार चक्र स्थित कुल कुण्डलिनी में होने के कारण आदिनाद प्रणव की उत्पत्ति कुण्डलिनि से होती है। और अन्यान्य समस्त नाद वहां से ही निकल कर इड़ा पिंगला और सुषुम्ना रूपी त्रिविधि योग नाड़ी के द्वारा भिन्न-भिन्न पथ में प्रवाहित होकर मंत्र और वर्ण रूप से हृदय तालु कण्ठ जिह्वा ओष्ठ दंत आदि स्थानों के द्वारा प्रकट होते हैं। यथा-शारदा तिलक में लिखा है - कुण्डलिनी में से प्रकाशित परानाम्नी अविनाशी वाक् से शब्द की उत्पत्ति होती है। जो जीव शरीर में अनेक प्रकार से घूम करके गद्य पद्यादि भेद से विविध वर्ण में प्रकाशित होता है। और भी :-

परमात्मा की इच्छा शक्ति रूपिणी मूलाधार पद्म स्थिता कुल कुण्डलिनी की शक्ति से उक्त पद्म में प्रथम परानाद की उत्पत्ति होती हैं। तदन्तर वह नाद स्वाधिष्ठान पद्म में उठकर पश्यन्ति आख्या को प्राप्त होता है। तदन्तर धीरे-धीरे और भी ऊपर आकर अनाहत् पद्म में बुद्धि तत्त्व के साथ मिलकर उस नाद का नाम मध्यमा होता है। उसके ऊपर कण्ठ स्थित विशुद्ध चक्र में उस नाद का नाम वैखरी होता है, यही शब्द निष्पन्न बैखरी नाद कण्ठ मस्तक तालु ओष्ठ दंत जिह्वामूल, जिह्वाग्र जिह्व पृष्ठ तथा नासाग्र द्वारा क्रमशः अग्रसर होता हुआ कण्ठ तालु ओष्ठ और कण्ठोष्ठद्वय, द्वारा प्रकाशित होकर अकार से क्षकार तक वर्ण मालाओं का विकास करता है। जीव शरीर में कुल कुण्डलिनी प्राण शक्तिरूप है। उसी के साथ इड़ा पिंगला और सुषुम्णा का संबंध है और इन तीनों नाड़ियों के द्वारा ही; प्राण, अपान, समान, उदान आदि दशविध वायु का प्रवाह समस्त शरीर में व्याप्त होता है। प्राणशक्ति के द्वारा प्राणादि वायु संचालित होकर समस्त शब्द को प्रकाशित करता है। उल्लिखित तीनों नाड़ियों के साथ समस्त वायु का संबंध होने से प्रकृति स्पन्दन जनित अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त वर्ण माला की उत्पत्ति इन तीनों नाड़ियों के द्वारा होती है? यथा:-

अ-से अः पर्यन्त समस्त वर्णमाला ईड़ा नाड़ी से प्रवाहित होती है। क से म पर्यन्त समस्त वर्ण माला पिंगला नाड़ी से प्रवाहित होती है। और य से क्ष पर्यन्त समस्त वर्ण माला सुषुम्ना पथ में प्रवाहित होती है। इस प्रकार ॐ से लेकर समस्त मंत्रों की उत्पत्ति समष्टि प्रकृति की ही प्रति कृति या प्रतिबिम्ब होने से समष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन का आघात व्यष्टि प्रकृति में होता है। केवल इतना ही नहीं अधिकिन्तु व्यष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन का आघात समष्टि प्रकृति में होता है। और व्यष्टि प्रकृति के प्रत्येक स्वर का सम संबंध समष्टि प्रकृति के उसी

अधिकार के स्नेह के साथ रहता है, इसलिये इसके नाद का प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमें आ गिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति के जिस-जिस स्तर पर चित् को संयम करता है उसी से ही समष्टि प्रकृति के तत्तत् स्तर का नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूप से समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृति का प्रथम अक्षर प्रणव होने में जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृति को भी साम्यवस्था पर पहुंचावेगें। उसी समय अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के प्रथम नाद ॐकार को सुन सकेंगे। यह नाद मूलाधार चक्र स्थित कुल कुण्डलिनी से निकलकर सहस्रार में जा लय हो जायगा। इसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृति को पूर्ण साम्यावस्था के अतिरिक्त जिस-जिस स्तर पर संयम करेंगे उस स्तर के साथ समष्टि प्रकृति के जिस स्तर का संबंध है उस स्तर के नाद का प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृति में अनुभव करेंगे। इसी प्रकार से महर्षि गण अपनी प्रकृति में ही समष्टि प्रकृति के नाद को सुनते हैं और उन्हीं नादों के अनुसार ही श्री भगवान् तथा उनकी शक्ति स्वरूप भिन्न-भिन्न देवतओं के साधनार्थ मंत्र समूह और संस्कृति वर्णमालाओं का अविष्कार उन सब अतीन्द्रिय दर्शी महर्षियों के द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृति के प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणव मंत्र की उत्पत्ति के अनंतर द्वितीय स्पंदन में जो गीतोक्त वर्णन के अनुसार अष्ट प्रकृति का स्पंदन हुआ उससे अष्ट जीव की उत्पत्ति हुई है। इनके नाम व मंत्र शास्त्र में यथा- बीज मंत्र प्रथम तीन और तदन्तर आठ हैं, यथा गुरु बीज, शक्ति बीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज, और रक्षाबीज। क, ल, ई, और मकार से कामबीज का अनुभव होता है। क, र, ई और मकार से योगबीज का अनुभव होता है। आ, ए, और मकार से गुरु बीज का अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार, और मकार से शक्ति बीज का अनुभव होता है। शकार, रकार, ईकार, और मकार से रमा बीज का अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार और मकार से तेज बीज का अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार, ईकार और मकार से शांति बीज का अनुभव होता है। और हकार, लकार, ईकार और मकार से रक्षाबीज का अनुभव होता है। योगशास्त्र में लिखा है कि जिस प्रकार कारण ब्रह्म की आठ प्रकृति हैं जिससे कार्य ब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्द ब्रह्म के ये आठ बीज आठ प्रकृति हैं। ये ही प्रधान बीज कहाते हैं, ये सब प्रकार की उपासना में कल्याण कारी हैं। शास्त्रान्तर में इनके नाम भेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृति के विस्तार के साथ-साथ अनेक मंत्र निर्णीत किये जाते हैं। जो भिन्न-भिन्न देवताओं के प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं। शास्त्र में मंत्रों की असाधारण शक्ति बताई गई है। जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत, और अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

एक समय राजा जनक घूमते-घूमते तमाल बनके कुञ्ज में चले गये। वहां उन्हें नित्य एकान्त ही में रहने वाले तथा गिरि गुफाओं में घूमने वाले अदृश्य सिद्ध लोगों के दर्शन हुए। उन के मुखार्बिन्द से श्रवणमात्र से आत्मा का साक्षात्कार करा दें ऐसे, गीताएं श्रवण करने में आई।

१ - कितने ही सिद्धों ने कहा - जो आत्मा दृष्टापन तथा दृश्य के अध्यास से तुच्छ विषयों के आनन्द ही को पुरुषार्थ मानकर जन्म मरण पाया करता है, उसी आत्मा को हम श्रवणादिक से हुई अखण्डाकार वृत्ति द्वारा परब्रह्म समझकर उसी का अनुसंधान किया करते हैं।

२ - कितने ही सिद्धों ने कहा - द्रष्टा को, दर्शनों को, दृश्यों को और उनकी वासनाओं को भी छोड़कर हम इन सर्व के उत्पत्ति के साक्षिरूप से इन सर्व से प्रथम ही सिद्ध होते आत्मा का निरन्तर अनुसंधान किया करते हैं।

३ - कितने ही सिद्धों ने कहा - जो आत्मा जगत् है और जगत् नहीं है। इन दोनों पक्षों का अधिष्ठान रूप है। और समस्त भाव तथा अभाव का प्रकाशक है उसी ही का निरन्तर अनुसंधान किया करते हैं।

४ - कितने ही सिद्धों ने कहा - यह समस्त ब्रह्माण्ड जिस में है जिसका है जिसके लिये है, जिसके- द्वारा है, और जो ब्रह्माण्ड रूप है उस सत्य आत्मा का ही निरंतर अनुसंधान किया करते हैं।

५ - कितने ही सिद्धों ने कहा - हमारा आत्मा कि जो समस्त ब्रह्माण्ड रूप से रहते हुये भी उपनिषदों को भी अगम्य है और निरंतर श्वासोच्छावास के मिस से 'सोहं सोहं' (वह परमात्मा मैं हूँ, वह परमात्मा मैं हूँ) ऐसा शब्द बोला करता है उसी का हम निरन्तर अनुसंधान किया करते हैं।

६ - कितने ही सिद्धों ने कहा - जो पुरुष हृदय रूपी गुफा के स्वामी अन्तरयामीं देव को छोड़ देकर दूसरे देव के पास जाते हैं वे अपने हाथ में रहे कौस्तुभ मणि को छोड़ देकर दूसरे रत्न की इच्छा करते हैं।

७ - कितने ही सिद्धों ने कहा - सब आशाओं को छोड़ देने से ऐसा फल मिलता है कि जिस फल से आशा रूपी जहरी लताओं के मूल की पंक्ति ही कट जाती हैं।

८ - कितने ही सिद्धों ने कहा - जो पुरुष भोग्य पदार्थो में अत्यन्त विरस (रस रहित) पन जानकर भी उन पदार्थों में फिर वासना बांधता है, उस दुर्मति वाले पुरुष को मनुष्य नहीं वरन् गर्दभ समझना।

९ - कितने ही सिद्धों ने कहा - जैसे इन्द्र वज्र से पर्वतों को तोड़ डालते हैं वैसे ही इन इन्द्रिय रूपी सर्पों को जैसे-जैसे वे उठती आवें वैसे ही बारम्बार विवेक रूपी शस्त्र से तोड़ डालना चाहिए।

१० - कितने ही सिद्धों ने कहा - इन्द्रियों का उपशम रूप उत्तम सुख प्राप्त करना चाहिये कि जिस सुख से चित्त भली प्रकार प्रशान्त होता है। जिसका चित्त प्रशान्त होता है उस पुरुष, की परम सुखरूप स्वरूप में अखंड उत्तम स्थिति होती है। -(सिद्धगीता-योगवासिष्ठ)

प्रणव।

तीन लोक, तीन वेद, तीन संध्या, तीन देव, तीन अग्नि और तीनों गुण यह सब तीन अक्षर रूप प्रणव में सिद्ध हैं। जिस प्रकार पुष्प में गन्ध, दूध में घी, तिल में तेल और पाषाण में सोना है, उसी प्रकार 'ब्रह्म' सर्व है। पक्षी जैसे घोंसले में रहता है वैसे ही हृदय देश में अधोमुख हृदय कमल है, उसमें मन रहता है, यह हृत्पद्म 'बन्द' रहता है - होता है, जिस प्रकार पुष्प की कली होती है। अकार के उच्चारण से वह अव्यक्त शब्द को ग्रहण करने में समर्थ होती है, और अर्धमात्रा के उच्चारण से वह निश्चल होती है। ध्यान करने वाला निर्मल ध्येय का अनुभव करता है। -(योग तत्त्वोपनिषद्)

(ब) ॐ यह आत्मा है ऐसा चिन्तन करना यह प्रणव रूप अक्षर पुण्यप्रद और मोक्षप्रद है। इस अक्षर के परायण होने से अभ्युदय व मोक्षरूप फल होता है। -(मैत्रायणी उपनिषद्)

(स) ऋग्वेद, पृथ्वी गार्हपत्य तथा ब्रह्मा अकार रूप हैं, यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, दक्षिणाग्नि तथा विष्णु उकार रूप हैं; और सामवेद, स्वर्ग, आहवनीय और महेश्वर मकार रूप हैं। नाद रूप से प्रणव सर्व में व्याप्त होकर स्थित है। ॐकार का जप प्लुत तर करना चाहिए। प्रणव के वाच्य ब्रह्म का जो एकाग्रता पूर्वक चिंतन करता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

(ब्रह्मविद्योपनिषद्-सार)

पिप्पलाद ऋषियों ने भगवान् अथर्वा से पूछा कि :- 'हे भगवन! ध्यान करने योग्य मंत्र कौन? उस ध्येय मंत्र का ध्यान क्या? ध्यान करने का अधिकारी कौन? और ध्येय देव कौन है? यह कहो।' इसके उत्तर में भगवान् अथर्वा कहते हैं :- 'ॐ' यह मंत्र ध्यान करने योग्य है। ॐ इस अक्षर के चार पाद, चार देव और चार वेद ध्यान करने योग्य हैं। चार पाद वाला यह अक्षर परब्रह्म है। इसकी पृथ्वी रूप प्रथम मात्रा अकार है। वह ऋचाओं द्वारा ऋग्वेद है उसका अधिष्ठाता ब्रह्मा गण, देवता वसु, छंद गायत्री है और अग्नि गार्हपत्य है। दूसरी मात्रा अंतरिक्ष रूप उकार है। वह यजुषाओं द्वारा यजुर्वेद है। इसके अधिष्ठाता रुद्रगण, देवता रुद्र, छंद त्रिष्टुप और अग्नि दक्षिणाग्नि है। तीसरी मात्रा स्वर्ग रूप मकार है। वह साम द्वारा सामवेद है उसके अधिष्ठाता विष्णु, गण देवता आदित्य, छंद जगति और अग्नि आह्वनीय है। अन्त में जो इसकी चौथी अर्ध मात्रा है वह लुप्त मकार यानी नाद है। वह अथर्वण देवता मरुतो छंद विराट और अग्नि एक ऋषि हैं। यह चौथी मात्रा रम्य प्रकाश वाली और अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखने

वाली है। पहली मात्रा रक्त वर्ण ब्राह्मी और ब्रह्मरूप देवता वाली है। दूसरी मात्रा अति श्वेत रौद्री और रुद्र देवता वाली है। तीसरी मात्रा काली वैष्णवी और विष्णु देवता वाली है और चौथी मात्रा बिजली सरीखी सर्व वर्ण वाली और ईश्वर देवता वाली है। वह यह ॐकार, अकार उकार मकार और अर्ध मात्रा रूप चार पाद वाला गार्हपत्य दक्षिणाग्नि आवाहनीय और एक ऋषि रूप चार उत्तम अंग वाला है। चौथी मात्रा अर्ध मात्रा यह सूक्ष्म प्रणव है और ह्रस्व ॐ और दीर्घ ॐ तथा प्लुत् ॐ यह स्थूल प्रणव है। चौथा पाद रूप शान्तात्मा प्लुत् प्रयोग में अभिव्यक्त होता है। वह आत्म ज्योति अनुपम है वह प्रणव रूप अनाहत शब्द एक बार आवर्तन करने योग्य है। वह एक बार उच्चार किया हुआ प्रणव ॐ सर्व प्राणों को षट्चक्र के भेदन द्वारा सुषुम्णा द्वारा ब्रह्मरंध के प्रति ले जाता है। वह इन प्राणों को ऊपर ले जाता है। इससे ॐकार कहलाता है। और सर्व प्राणों को नमाता है। इससे प्रणव कहाता है। वह प्रणव चार वेद और चार वेद का कारण रूप होने से चार प्रकार से स्थित है। ऐसा ध्यान करना इन पादादि को बुद्धि में धारण करने वाला पुरुष आश्रितों को सर्व दुःखों से तथा भयों से भली प्रकार तारता है। तारण करने वाले सर्व पादादि का विष्णु ध्यान करते भये। इस रीति से ध्यान करने वाला सबको जीतता है। सर्व इन्द्रियों को स्थिर कर ध्यान करने से ब्रह्मा भी महत्व पद को पाये हैं। जो ऐसे फल की इच्छा वाला हो उसे ध्याता जानना। श्री महेश्वर ध्यान करने योग्य देव हैं। क्योंकि उनमें से सब उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर तथा ब्रह्म ऐसे पांच प्रकार का पांच देवता वाला प्रणव कहलाता है। स्तवेप्यांधिकं क्षणमेकमस्य क्रतुशतस्यापि फलमवाप्रोति। कृत्स्नमोंकार गतिंया।।' अर्थात् इसमें ॐकार में रहे हुए पादादि का एक क्षण ध्यान करके पुरुष यज्ञ से भी अधिक फल पाता है। इस प्रकार कल्याण करने वाला परमात्मा ही एक ध्येय है।

(अथर्वशिखोपनिषद्-सार)

- प्रत्यगानंद ब्रह्म वो पुरुष यह प्रणव स्वरूप है। अकार, उकार तथा मकार यह अक्षर प्रणव है और वह प्रणव ॐकार है। इसका यजन करके योगी संसार रूप बन्धन से छूट जाता है। - (आत्म प्रबोधोपनिषद्)

ॐ यह एकाक्षर परमात्मा रूप है। वह परमात्मा विश्व का कारण, भूतपति, प्राचीन, भुवन के रक्षक, सर्वज्ञ, भुवनपति, यज्ञ, व्यापक, प्राण, हिरण्यगर्भ, गरुड़, इंद्र, रुद्र, जीवों की बुद्धि में स्थित, पवन, रात्रि, दिवस, भूत, भविष्य, वर्तमान, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को प्रकट करने वाला, वसु, अन्तरिक्ष, दैत्यगण, अग्निदेव, प्रजापति, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वरुण, अर्यमा, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग है। जो बुद्धि में रहे हुए परमात्मा को इस रीति से सर्व रूप जानता है, वह बुद्धिमान बुद्धि का उल्लंघन करके परम गति को पाता है।

(एकाक्षरोपनिषद्)

|| ॐ ||

(अ) स्वाधिष्ठान सन्मात्रे निर्विकल्पे चिदात्मनि।।
यो जीवति गतः स्नेह स जीवन्मुक्त उच्यते।।

(अन्नपूर्णा उ. २।२७)

जो समस्त पदार्थों के आश्रय स्थल निर्विकल्प चिन्मय सत्य स्वरूप आत्मा के अंदर जीवन धारण करते हैं वही जीवन्मुक्त हैं।

बाह्य जगत् के त्याग के अभ्यास से चित्त शान्त होता है और उसी को चित्त का नाश कहते हैं। प्रत्यक् चेतन में स्थित होना भी इसी का नाम है। वही परमानन्द स्थल है जहां पहुंच जाने पर फिर पुनर्जन्म की आशंका नहीं रहती और जिसे अमृत्व की प्राप्ति भी कहते हैं, उपनिषदों की घोषणा है कि सर्व व्यापी प्रत्यक् चेतन रूप आत्मा की दृढ़ धारणा से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है।

अशद्वमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथाऽरसं नित्यमगंध वच्चयत्।
अनाद्यनंतं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते।।

(कठ.उ. १।३।१५)

अर्थात् :- अशब्द, अस्पृश्य, अरूप, अव्यय, रसरहित, नित्य अगंधवत्, अनादि अनंत और बाह्य प्रपञ्च के अन्दर अवस्थित नित्य वस्तु को जान कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त होता है।

(ब) तस्मात् यत्नः सदाकार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः।
कामक्रोधादयस्तत्र शत्रवः शत्रु सूदनः।।
तथापिक्रोध एवालं मोक्ष विघ्नाय सर्वदा। (अ.रा.)

- ससांर में जो लोग अशेष दु:खों को नही देखते और जो देखकर भी उनसे मुक्त होना नही चाहते उनको क्या मनुष्य कहना है? नहीं। यदि मुक्त होना चाहते हैं तो सदा सर्वदा विद्याभ्यास का यत्न करना चाहिये। स्मरण रहे। इधर-उधर से कुछ पड़ लेने का नाम विद्या नहीं है।

'नाहं देहाश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते'

''मैं देह नहीं हूँ चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ, इस बुद्धि का नाम विद्या है। इस विद्या के लिये निरंतर अभ्यास करना चाहिये। काम क्रोध और लोभादि इस विद्या के प्रबल शत्रु हैं। इनमें भी क्रोध तो मोक्ष मार्ग में सर्वदा ही विघ्नकारी है।''

ॐ गुरु-गुरु में शिष[२] भेद, अल्प मति तोरी,
ॐ अल्प मति तोरी। चारों वरण समान,
ॐ चारों वरण समान, सम पर-उपकारी।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव ।।१।।

भावार्थ :- हे प्रणवरूप सद्‌गुरुदेव! मेरी बुद्धि की यह क्षुद्रता ही है कि जो आप में और परमात्मा में भेद समझता हूँ, तथा यह ख्याल करता हूँ कि आप मुझ से भेद रखते हैं। पर नहीं प्रभो! आपको तो चारों वर्ण समान हैं, आप प्राणी मात्र पर एक समान उपकार करने वाले हैं। निश्चय करके सब पर समान उपकार करने वाले हैं।

हे सद्‌गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो! ।।१।।

---

(२) सोरठा :- बंदौ गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नर-रूप-हरि।
महामोह-तम-पुञ्ज, जासु वचन रविकर निकर।।

चौपाई :- बंदौ गुरुपद पद्म परागा।
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरण-चारू।
शमन सकल भवरुज परिवारू।।

अर्थ :- श्री गुरुदेव के चरण कमलों को वंदन करता हूँ कि जो गुरु कृपा के समुद्र और मनुष्य-रूप धारण किये विष्णुरूप, हैं। महा अज्ञान मानो अंधकार है, उसके समूह के दूर करने के लिये जिनके वचन सूर्य की किरणों के समूह के समान हैं। अर्थात्-जैसे सूर्य की किरणों से अंधेरा मिट जाता है, तैसे ही गुरु के उपदेश से हृदय का अज्ञान मिट जाता है। गुरुदेव के चरण कमलों की रज को प्रणाम करता हूँ कि जो सुन्दर प्रकाशमान्, सुगन्धित, रसयुक्त और भक्ति को उत्पन्न करने वाली है। अमिय-मूरिमय अर्थात् अमृत की जड़ उसका नाम है, और वह सुन्दर चूर्णरूप है, और संसार के जन्म मरणादि सम्पूर्ण रोगों के प्रकारों को नाश कर देती है।

चौपाई :- सुकृत शंभुतन विमल विभूती।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।।३।।
जन-मन मंजु मुकुर मलहरणी।
किये तिलक गुणगण वशकरणी ।।४।।

अर्थ :- वह गुरु चरण कमलों की रज कैसी है कि-महादेव जी के शरीर में लगी हुई उजली भभूत के समान है, और सुन्दर मंगल और आनंद को उत्पन्न करने वाली है ।।३।। और सज्जनों का चित्त मानो दर्पण है, उसके मल को दूर करने वाली है, और तिलक करने से गुणों के समूह को वश में करने वाली है। भावार्थ यह है कि जो भक्त जन गुरुचरण की रज का सेवन करते हैं, उनका चित्त दर्पण के समान निर्मल हो जाता है और जो उसको अपने मस्तक में लगाकर किसी राजा के पास जाते हैं, तो वे अपने वश में हो जाते हैं।

चौपाई :- श्रीगुरु-पद-नख मणिगण ज्योती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।।५।।

दलन मोह तम चंद प्रकासू।
बड़े भाग्य उर आवहिं जासू ।।६।।

अर्थ :- यहाँ तक चित्त के रोगों को दूर करने की औषधी कही, अब आगे जिन रोगों के कारण चित्त की दृष्टि मन्द हो गई थी, उसकी ज्योति बढ़ाने के लिये गुरु के चरण नखों की वन्दना करते हैं। श्री गुरु के चरणों के नखों की ज्योति मणियों के समूह के प्रकाश के समान है कि जिनके स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि हो जाती है ।।५।। और उसका प्रकाश मोहरूपी अंधकार को दूर करने में सूर्य के समान है, और वह जिसके हृदय में आवे वह बड़भागी है ।।६।।

चौपाई :- उघरहिं विमल बिलोचन ही के ।
मिटहिं दोष दुःख भवरजनी के ।।७।।

सूझहिं रामचरित मणि मानिक ।
गुप्त प्रगट जहं जो जेहि खानिक ।।८।।

अर्थ :- हृदय में आते ही हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं, और संसार रूप रात्रि के दोष अर्थात् अंधकार और दुःख कहिये जन्म मरणादि मिट जाते हैं ।।७।। और राम-चरित्र रूपी मणि और माणिक गुप्त और प्रगट जहां जो जिस खान के हैं वे दीखने लगते हैं ।।८।।

दोहा - यथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं शैल वन, भूतल भूरि निधान ।।९।।

अर्थ :- जैसे सिद्धता का अञ्जन नेत्रों में आंज कर साधक लोग सिद्ध हो जाते हैं और उससे पृथ्वीतल पर पर्वत, वन आदि बहुत से स्थानों में कौतुक देखते हैं ।।९।।

चौपाई :- गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन ।
नयन अमिय दृग दोष विभंजन ।।१।।

तेहि करि विमल विवेक विलोचन ।
वरणौं रामचरित भवमोचन ।।२।।

अर्थ :- उसी प्रकार गुरु के चरण की रज सुन्दर अञ्जन है और नयनामृत उसका नाम है, अर्थात् नेत्रों को अमृत के तुल्य शीतल और उजले करने वाली है (और उसका गुण है) कि नेत्रों के विकार को नाश कर देती है ॥१॥ उसी रजरूपी अञ्जन से ज्ञान व विचाररूपी नेत्रों को निर्मल करके आवागमन छुटाने वाले राम (आत्म) + चरित्र (ज्ञान) का अभेद स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

(रामायण)

।।गुरु महिमा।।

जय गुरु आद्य निरंजन ईश्वर।
जय गुरु पारब्रह्म परमेश्वर।।१।।
जय गुरु अज अखंड अविनाशी।
जय गुरु राम सकल उरवासी।।२।।
जय गुरु सर्वेश्वर सचराचर।
जय गुरु देव दया करणाकर।।३।।
जय गुरु साक्षी रूप सतंतर।
जय गुरु व्यापिक भीतर बाहर।।४।।
जय गुरु तत्त्व मसी पद तुरिया।
जय गुरु ईश एक रस भरिया।।५।।
जय गुरु शब्दातीत शुद्ध चेतन।
जय गुरु पुरणानंद पुरुषोत्तम।।६।।
जय गुरु ज्ञान ध्यान विज्ञाता।
जय गुरु भक्ति मुक्ति के दाता।।७।।
जय गुरु जप तप वेद पुराणा।
जय गुरु ब्रह्मरूप भगवाना।।८।।
जय गुरु चतुर बीस अवतारा।
जय गुरु मंत्र अधम ओधारा।।९।।
जय गुरु सकल सृष्टि के करता।

जय गुरु अष्ट योग के धरता।।१०।।

जय गुरु कल्पद्रुम सुर सरिता।

जय गुरु पावन परम पुनीता।।११।।

जय गुरु तीरथ राज प्रयागा।

जय गुरु संयम व्रत वैरागा।।१२।।

जय गुरु चिन्तामणि सुर धेनु।

जय गुरु शिव धरे अज शिररेणु।।१३।।

जय गुरु जगत पिता कू भेटे।

संशय शोक सकल दुःख मेटे।।१४।।

जय गुरु नारद कूं समझाये।

आये शरण परम पद पाये।।१५।।

वेद व्यास कूं मिले गुरु जबही।

अन्तर ताप टले सब तबही।।१६।।

श्रीमुख देव किये गुरु जाई।

जीवन्मुक्त भये निधि पाई।।१७।।

पारवती गुरु जब ही चीना।

अमर आत्मा तबही कीना।।१८।।

रामचन्द्र पूरण ब्रह्म होई।

गुरु वसिष्ठ ईष्ट किये सोई।।१९।।

कृष्ण नाम सेहेजै अघहरना।

सो सेवे सद्गुरु के चरणा।।२०।।

कहां लौ कहूँ गुरु की महिमा।

पार न पावे हरिहर ब्रह्मा।।२१।।

श्रीगुरु सुजस करूं विस्तारा।

होय रसना जो अनन्त अपारा।।२२।।

जैसे रवि बिन रात न जाई।

गुरु बिन सुपनन्तर हरि नाहीं।।२३।।

गुरु के चरण प्रीति नहीं लागी।

सो प्राणी महामंद अभागी।।२४।।

सूकर कूकर काक मझारा।

गुरु की भक्ति बिन धिक अवतारा।।२५।।

उपजे खपे जनम बहुवारा।

गुरु कृपा बिन नहिं निस्तारा।।२६।।

गुरु निन्दक नर जे संसारा।

गये नरक सो मूढ़ गवारा।।२७।।

गुरु निन्दा जे सुनहीं काना।

अधम नहीं कोई ताहि समाना।।२८।।

श्रीगुरु चरण पादुका चंपे।

वाके रोष त्रिभुवन कंपे।।२९।।

जे गुरु की सेजै पगधारे।

वाको पातिक कौन निवारे।।३०।।

गुरु मरजाद न राखे कोई।

अंते बुद्धि असुर की होई।।३१।।

गुरु को आप बराबर देखे।

ताको हरि शत्रु सम लेखे।।३२।।

सद्‌गुरु सेवक जे सुख पावे।

इन्द्रादिक कू सुपने ना आवे।।३३।।

तन मन धन सुदत सुत दारा।

संपत प्रीत सहित बहे बारा।।३४।।

गुरु चरणन निवेदन कीजे।

सख भाव लाए सुख लीजे।।३५।।

गुरु कूं ब्रह्म रूप जे जोई।

ब्रह्म भाव आपे ब्रह्म होई।।३६।।

ताकू दोष लेश नहिं कोई।

जो सेवक सद्‌गुरु का होई।।३७।।

सद्‌गुरु देव दया जब करहीं।

सो प्राणी भवसागर तरही।।३८।।

जो सद्गुरु पद प्रेमे पूजे।
ताकू अगम निगम सब सूझे।।३९।।
तीनकाल कहावे ज्ञाना।
जाने भूत भविष्य वर्तमाना।।४०।।
मुक्ति चतुर्धा दासी होई।
त्रिभुवन में बन्दे सब कोई।।४१।।
सद्गुरु शब्द सुधारस पीवे।
चार पदारथ कूं नहिं छीवे।।४२।।
इन्द्र कमल भू शीव षड़ानन।
गुरु आधार रहे गिरि कानन।।४३।।
सप्त द्वीप सब सरिता सागर।
उड़गन इन्दु देव दिवाकर।।४४।।
गगन पवन गुरु के आधारा।
तेज तोय वसुधा विस्तारा।।४५।।
स्थावर जंगम जीव है जेते।
गुरु आधार रहे सब तेते।।४६।।
आद्य अंत मध्य हरि गुरु होई।
गुरु से अवर अधिक नहिं कोई।।४७।।
गुरु नारायण नर के रूपा।
शब्द बोधमय तत्त्व अनूपा।।४८।।
शीतल कोमल वचन रसाला।
कहे प्रीतम गुरु परम दयाला।।४९।।
सद्गुरु चरण कमल रज सेवे।
ऐसे अखण्ड अभैपद लेवे।।५०।।
प्रीतम सोई परम पद पावे।
जो सद्गुरु के शरणे जावे।।५१।।
गुरु महिमा सुने अरु गावे।
सो बहोर गर्भवास नहिं आवे।।५२।।

ॐ वेदव्यास खुद आप, गुण गुरु का[3] गावे,
ॐ गुण गुरु का गावे! ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान,
ॐ ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान, गुरु बिन नहिं आवे।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।२।।

भावार्थ :- हे प्रणवरूप गुरु परमात्मा! हम तो क्या पर स्वयं वेदव्यास जी भी आपके गुणों का गान करते हैं, निश्चय से आप के गुण-गान करते हैं कि, ब्रह्मविद्या-ब्रह्मज्ञान बिना गुरु के प्राप्त नहीं होता। निश्चय करके बिना गुरु कृपा के ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। कृपा कर मेरे अज्ञानावरण को दूर कीजिये।

हे सद्गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!।।२।।

(३) श्लोकः- शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कोऽपि वा।
गुरुदेव परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

भावार्थ :- शिव के रुष्ट हो जाने पर तो गुरु बचा लेते है परन्तु गुरु के रुष्ट हो जाने पर कोई रक्षक नहीं होता, गुरु ही एक परब्रह्म हैं - ऐसे गुरु देव को नमस्कार है। -(व्यास)

(ब) ''चिन्तामणि र्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो, वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्''।।

भावार्थ :- चिन्तामणि से सांसारिक सुख तथा कल्पवृक्ष से स्वर्ग की सम्पदा प्राप्त होती है परन्तु गुरुभक्त को तो वह वैकुण्ठ मिलता है, जो योगियों को भी दुर्लभ है। -(व्यास)

ॐ विषम दृष्टि होय अङ्ग, शून्य गुरु गुरु-पद से,
ॐ शून्य गुरु गुरु-पद से। दंभि सकामी जाण,
ॐ दंभि सकामी जाण, तज कर दृढ़ सत्संग[४]।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।३।।

भावार्थ :- हे प्रणवरूप सद्गुरु देव! ऐसी विषम दृष्टि वाला होने से प्रिय होते हुए भी गुरु तथा उनके चरण कमलों से शून्य विमुख रहता है, निश्चय करके आपके चरण कमलों से विमुख रहता है। (यह जानते हुए भी हे नाथ! क्या करें? यह दुर्गुण छूटते नहीं। इन से पिण्ड छुड़ाने को ही आपकी शरण में पड़े हैं। दया कीजिये-शरण दीजिये) हम जो भी दंभी और सकामी हों तो भी आप हमारे दुर्गुणों को तज अर्थात् उनकी और दुर्लक्ष्यकर अपने दृढ़ सत्संग में अंगीकार करने की कृपा कीजिये, अज्ञानावरण को दूर कर स्व-स्वरूप का ज्ञान कराइये।

हे गुरुदेव! आपकी जय हो! जय हो! जय हो!।।३।।

ॐ गुरु देवन के देव, हैं राजन पति राजा,
ॐ हैं राजन पति राजा। अधिकारी जनों बोध,
ॐ अधिकारी जनों बोध, खरो निज मति[५] धारो।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।४।।

भावार्थ :- हे प्रणव रूप गुरुदेव! आप देवों के देव महादेव है, राजाओं के राजाधिराज परमेश्वर हैं, निश्चय करके आप सदाशिव-परमेश्वर हैं, अतः हम अनुयायियों को बोध प्रदान कर अधिकारी बनाइये निश्चय करके सत्य बोध प्रदान द्वारा सच्चा अधिकारी बना निज हृदय में स्थान प्रदान करने की कृपा कीजिये।

हे गुरुदेव आपकी जय हो! जय हो! जय हो!।।४।।

---

(४) (अ) श्लोक :- पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं।
किं रक्षया कृतमतेरकुतो भयस्य।।

यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा।
तस्मात्तवास्मिसुतरामनुकम्पनीयः।।

भावार्थ :- हे गुरुदेव! मैं पापी हूँ; मैं दुष्कर्मकारी हूँ। क्या यह समझकर ही आप मेरा परित्याग कर रहे हैं? नहीं, नहीं, ऐसा करना तो मुनासिब न होगा। क्योंकि भय रहित प्राज्ञ और सुकृतकारी को रक्षा से क्या प्रयोजन? रक्षा तो पापियों भयार्तों और खलों ही की की जाती है। जो स्वयं रक्षित है, उसकी रक्षा नहीं की जाती है, रक्षा तो अरक्षितों ही की की जाती है। मुझ महापापी, महा अधम और महाअसाधु की रक्षा आप न करेंगे तो फिर करेंगे किसकी, मैं ही तो आपकी दया-आपके द्वारा की गई रक्षा का सबसे अधिक अधिकारी हूँ। आप ही कहिये हूँ या नहीं?

आगे रहे गणिका गज गीध, सु तौ अब कोऊ दिखात नहीं है।
पापरायन ताप भरे, परताप समान न आन कहीं है।।
हे सुखदायक! प्रेमनिधे! जग यों तो भले औ बुरे सबही हैं।
दीनदयाल औ दीन प्रभो! तुमसे तुमही हमसे हमही हैं।।१।।

(कल्याण)

(ब) वर्तमान भावी विपति, सन्त सेवते नाश।
ज्यों गंगोदक पानते, दुर्गति प्यास विनाश।।१।।
चन्दन शीतल लोक में, चन्दन ते शशि शीत।
चन्दन चन्दहि युगल ते, शीतल सतसँगनीत।।२।।

-(सार सूक्तावली)

५ - (अ) श्लोक :-

अनेनैव प्रकारेण, बुद्धिभेदो न सर्वगः।
दाता च धीरतामेति, गीयते नामकोटिभिः।।
गुरुप्रज्ञाप्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं, विरक्तो भवसागरात्।।

भावार्थ :- इसी पूर्वोक्त प्रकार (जो इसके प्रथम उपदेश में दिया है कि एक आत्मतत्त्व ही सत्य है) करके सर्वगत चेतन में किसी प्रकार से भी भेद की कल्पना नहीं बन सकती है। जो विद्वान् जिज्ञासुओं के प्रति उस ब्रह्म चेतन के अभेदज्ञान का ज्ञान करता है; वह धैर्यता को प्राप्त होता है, वह करोड़ों नामों करके गायन किया जाता है, अर्थात् जिज्ञासुजन तिस को करोड़ो नामों करके स्तुति करते हैं।

मूर्ख हो अथवा पण्डित हो, गुरु की कृपा से जो आत्म तत्त्व को यथार्थ रूप से जान लेता है, वह शीघ्र ही संसाररूपी समुद्र से विरक्त अर्थात्-उपरामयुक्त होकर जन्म मरण से छूट जाता है, फिर संसारचक्र में नहीं आता है। गुरुदेव की ऐसी ही महिमा है।

(अब. गीता २-२२-२३)

(ब) श्लोक :- तावत्प्रसीद कुरु नः करुणाममन्द -
माक्रन्दमिन्दुधर! मर्षय मा विहासी।
ब्रूहि त्वमेव भगवन्! करुणार्णवेन -
त्यक्तस्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः।।१।।

भावार्थ :- हे गुरुदेव विश्वपति! मृत्यु आने के प्रथम ही आप मुझ पर कृपा कर दीजिये। मेरे इस रोने चिल्लाने पर कुछ तो ध्यान दीजिये। मेरी प्रार्थना सुन लीजिये! भगवान्! मुझे बचा लीजिये! आप ही कहिये ? यदि आपके सदृश करुणा-सागर ने भी मेरी रक्षा न की; तो मैं फिर और किस की शरण जाऊंगा ? क्या आप से बढ़ कर भी कोई ऐसा है जो मुझ सदृश पापी को पार लगा सके? -(जगद्धरभट्ट)

(स) श्लोक :- ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदाद्विभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।१।।

भावार्थ :- ईश्वर, गुरु और आत्मा ऐसे मूर्तिभेद कर विभाग को प्राप्त, और आकाश की नाईं व्याप्त है देह जिसका; ऐसे दक्षिणामूर्ति कल्याणस्वरूप गुरुदेव! आपके प्रति-प्रणाम है, बारम्बार प्रणाम है। -(श्रीशंकराचार्य)

(ड) रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाऽग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।।

-(भागवत)

भावार्थ :- जड़ भरत ने राजा रहूगण को उपदेश करते हुए कहा है:- यह परम ज्ञान तप से, यज्ञ से, अन्न संतर्पण से, गृहस्थाश्रम में रह कर लोकोपकार करने से, वेदाध्यान से, जल, अग्नि और सूर्य की उपासना से किसी से भी नहीं प्राप्त होता; केवल महत्पादरजोभिषेक अर्थात्-सत्पुरुष के चरणों की धूल मस्तक पर धारण करने से ही प्राप्त होता है।

सद्गुरु की कृपा बिना तत्त्वमस्यादि वाक्यों द्वारा आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता। भगवान् शंकराचार्य अपने वेदान्त ग्रन्थ श्री स्वात्म निरूपण में आज्ञा करते हैं :-

ऐक्य परैः श्रुतिवाक्यै रात्माशश्वत्प्रकाशमानोऽपि
दैशिक दयाविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते पुरुषैः।।४१।।

अर्थात् :- आत्मा निरंतर स्वरूप द्वारा भासमान् प्रकाशमान् होते हुए भी सद्गुरु की कृपा के बिना पण्डित पुरुषों को केवल अखंड अर्थ के प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् के महावाक्यों से अनुभव नहीं हो सकता। ब्रह्मविद्या सर्व विद्याओं में अत्यंत श्रेष्ठ होने से श्री सद्गुरु के अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अन्यथा नहीं। आगे कहते हैं :-

श्लोक :- विरहित वाक्य निषिद्धो विहितानुष्ठान निर्मल स्वान्तः।
भजति स्वमेव बोधं गुरुणा, किमिति त्वया न मन्तव्याम्।।

काम्य और निषिद्ध कर्म से रहित (और) विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा निर्मल अन्त: करण वाला अपने आप ही ज्ञान को पाता है (तो) गुरु का क्या प्रयोजन (है) ऐसा तू न मानना क्योंकि:-

श्लोक :- कर्मभि रेव न बोधः, प्रभवति गुरुणा बिना दयानिधि ना।
आचार्यवान् हि पुरुषोवैंदेत्यर्थस्य वेद सिद्धि त्वात्।।

आचार्य वाला पुरुष ही जान सकता है इस अर्थ का वेद सिद्धपना होने से दयानिधि गुरु बिना कर्मों द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

सत्संग।

श्लोक :-चंदनं शीतलं लोके, चंदनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधु संगतिः।।

अर्थात् :- इस लोक में चंदन शीतल है चन्दन से चन्द्रमा शीतल है और चन्द्र तथा चन्दन के बीच साधु जनकी संगति शीतल है। कवि की इस विज्ञान पूर्ण युक्ति में चन्दन और चन्द्र से बढ़कर साधु संगति को न करते हुए उनके बीच ही साधु संगति को शीतल क्यों कहा है ? इसका रहस्य कोई जान सकता है? चंदन हमारे पास है। चाहे जिस समय हम उससे शीतलता प्राप्त कर सकते हैं। एवम् चन्द्र हम से हजारों मील दूर है, तो भी हम उससे शीतलता का लाभ कर सकते हैं तो उनके बीच में साधु संगति कैसी! उसकी शीतलता कैसे! एवम् उसकी अनुभूति भी कैसे? किन्तु कवि की कितनी गंभीर कल्पना है। कितनी उच्च भावना है, एवम् कितनी उत्तम रचना है -

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च घ्नंति संतो महाशयाः।।

गंगा, पाप, (मलिनता) चंद्र, ताप उष्णता, कल्पतरु दैन्य (दीनता दरिद्रता) तीनों एक-एक का नाश करते हैं; किन्तु संत महाशय तो तीनों ही का नाश करते हैं। अर्थात् संतों में गंगा चंद्र एवम् कल्पतरु का सामर्थ्य है। चंदन स्वभावत: शीतल है तो भी चंद्र किरणों से अत्यंत शीतल होकर शरीर को शांत करता है, चंदन और चंद्र की संगति संत करा सकते हैं। इसलिये संत दोनों के मध्यस्थ है। इसके लिये कोई कहेगा। कि इसमें संत ही की क्या आवश्यकता है चाहे सो चन्दन चंद्र को एक कर सकता है, कभी नहीं, यह काम सामान्य मनुष्य का नहीं है क्योंकि 'शशीताप' चंद्र मंडल पर जिनकी सत्ता है एवम् 'चंद्रमा मनसो जात:' जिस विराट् पुरुष

के मन से चन्द्रमा बना है उस विराट पुरुष को एवम् उसके रूप को सिवाय संतों के सामान्य मनुष्य नहीं जान सकता। साधु जनों के मन पर से तम-अज्ञान का आवरण निकला हुआ रहता है। इसलिये उनका मन निर्मल चंद्र के समान स्वच्छ स्फटिक के समान प्रकाश ग्राह्य रहता है। अतएव वे भूमिस्थ चंदन के अणुओं का एवम् आकाशस्थ चंद्र किरणों के अणुओं को समान आकर्षित करके दोनों को शीतलता का अपूर्व मिश्रण बनाकर भव तापतप्त जनों को उस शीतल अमृत मिश्रण द्वारा संताप दूर करके उसको शांत करके अमर कर देते हैं। इस लिये कवि ने चंद्र और चंदन के बीच शीतल साधु संगति का उल्लेख किया है। एक तोता गो भक्षक यवन के यहां रहता था और दूसरा मुनि जन के यहां था। किसी राजा ने मुनि के यहां पले हुए तोते से पूछा कि यह तेरा भाई हिंसादिकों की बुरी बातें करता है और तू शास्त्र ज्ञानादिकों की अच्छी बातें करता है यह क्या है ? उसने उत्तर दिया कि -

गवाशनानां सश्रृणोति वाक्यमहं हि राजन्! वचन मुनीनाम्।
न चास्य दोषो न च सद्गुणों वा संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।।

हे राजन् यह गोभक्षक लोगों के वाक्य सुनता है और मैं मुनि जनों के वाक्य श्रवण करता हूँ। इसमें न इसका दोष है न मेरा गुण है। संसर्ग संगति के अनुसार गुण दोष बनते हैं।

पर साधु संग में यह बात नहीं होती। सज्जन दुर्जन को अपने सरीखा बना लेते हैं। वे उसके सरीखे नहीं बन जाते। जैसे पुष्प अपनी सुगंध मिट्टी को देकर उसे सुगंधित कर देता है; मिट्टी का गुण अपने में नहीं लेता।

सत्संगाद्भवति हि साधुता खलानां
साधूनां नहि खल संगमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुम भवं मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयंति।

एक समय वशिष्ठ ने सत्संग की प्रशंसा की और विश्वामित्र ने तप की प्रशंसा की। वादविवाद करते हुए दोनों में श्रेष्ठ कौन है? इसके निर्णय के लिये दोनों ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने विष्णु के पास भेजा। विष्णु ने शंकर के पास भेजा और शंकर ने शेषनाग के पास भेजा। शेषनाग को दोनों ने अपनी-अपनी सुनाई। नाग महाराज को बड़ा विचार हुआ कि इसका निर्णय क्या करें। दोनों ही समर्थ हैं। किसको कैसे बुरा भला बनावें? सोचकर युक्ति के साथ कहा कि "इस समय मेरे सिर पर पृथ्वी का बहुत भार हो रहा है, इसलिये मैं इसका ठीक निर्णय नहीं कर सकता अतएव तुम दोनों एक के पीछे एक अपने-अपने पुण्य का कुछ अंश प्रदान करो, जिससे पृथ्वी कुछ हल्की होकर ऊंची हो जाय। फिर मैं इसका निर्णय करूं। उस पर से विश्वामित्र

ने एक दिन का, एक महीने का, एक वर्ष का, अन्त में सात वर्ष का तप-बल अर्पण कर दिया किन्तु पृथ्वी न तो हल्की हुई और न ऊंची ही हुई। पीछे वशिष्ठ ने अपने क्षणमात्र ही के सत्संग का पुण्य अर्पण किया जिससे पृथ्वी हल्की होकर शेष भगवान् के शिर से एक वालिस्त ऊपर उठ गई। इस अपूर्व निर्णय को देख कर दोनों अपने-अपने स्थान चले गये।

वैसे ही सब अयोध्या को वैकुण्ठ ले जाते वक्त भगवान् रामचंद्र ने दूतों से तलाश कराया कि शायद पीछे कोई रह तो नहीं गया है तलाश करने पर मालूम हुआ कि एक कुत्ता पीछे रह गया है। जिसका कारण यह है कि उसका शरीर घावों से अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त है और उसमें हजारों कीड़े भरे पड़े हैं। भगवान् रामचन्द्र के द्वारा उस कुत्ते को सरयू में स्नान कराते ही कुत्ते सहित सब जीव चतुर्भुज रूप धारण करके भगवान् रामचन्द्र के सम्मुख खड़े हुए। उनसे पूछने पर मालूम हुआ कि कुत्ता अगले जन्म में एक ब्राह्मण गुरु था और कीड़े उसके छात्र थे। ब्राह्मण ने स्वार्थ में आकर उनको सत्य उपदेश नहीं दिया अनात्मकज्ञान सिखा कर कुमार्ग में उतारा जिससे यह दशा प्राप्त हुई।

सतसंग महिमा-

(क) त्रोटक छंद :-

सत संग सदा सुखदायक छे
सत वेद पुराणनु वाचक छे।
सुधरे जन तो सतसंग बड़े
निगमागम तो मतभेद जड़े।।१।।
करवो सतसंग स्वतंत्र नरे
गुण वृद्धि करी कली दूर करे।
जल होय मलीन अशुद्ध घणुं
मली गंग विषे शुभ गंग पणुं।।२।।
मलयागर मारुत संग मले,
बनि हाटक लोह पणूंज टले।
कहिं पारस ने जइ लो मले
वन वृक्ष सुवास करे सघले।।३।।

सतसंग सदा सुख सागर छे

सतसंग महा गुण आगर छे।

सहु तीरथराज गयादिक जे

तुलना सतसंग समी नहिं ते।।४।।

वली तीरथ तो सहु पाप हरे

शशि उज्जवलता मन हर्ष करे।

वली कल्पतरु दीनता हरशे

सतसंग थी ए सघलु सरशे।।५।।

सुधरे शठ जो सतसंग करे

मन थी मद मोह विकार हरे।

टली काग बने पिक तुल्य नरोह

जड़ शे जनने श्रुति धर्म खरो।।६।।

बगलो पण उज्जवल हंस बने

सतसंग सदा करवो सुजने।

महिमा बहु व्यास विरंचि वदै

सतसंग मले भल भाग्य उदै।।७।।

सनकादिक शारद नारद जे

जश गाय उमायुत शंकर ते।

बहुजन्म तणा तप पुण्य फले

जन छोटम जो सतसंग मले।।८।।

ॐ

(ख) हरि-संत-अभेद।

संत श्री हरि एम जेम सूरजने तड़को

संत श्री हरि एम जेम पावक ने भड़को।

संत श्रीहरि एम तरंग जेवा होय जलमां

संत श्री हरि एम कनक रहे छे कुण्डलमां।

वायु ने बंटोलिओ तै जूदा नव जाणिए

एम संत ने श्री हरि कोह छोटम सत्य प्रमाणिए।

दोहा :-

सदा संतना हृदयमां, वास करे छे नाथ।
माटे सज्जन सेविये, स्नेह करी ते साथ।।१।।

जेम पदारथ मात्रमां, व्यापक अग्नि एक।
दिवासली थी देवता, बहेलो होय विषक।।२।।

एम हरि हरि जनमां, सदा बसे छे बास।
जराक दुःख जनने पड़े, प्रकटे थई प्रकास।।३।।

सर्व पदारथ ने विषे, हरि जनने हरि भाव।
साचा दृढ़ विश्वास थी, एवो बने बनाव।।४।।

साक्षी सर्वे कर्मनो, ईश्वर जीवनी पास।
अन्य जीवों नथी जाणता, जानो हरिनादास।।५।।

सांचा सद्‌गुरु जो मले, परखावे प्रभुपास।
भक्ति भावे ते भजे, राखी दृढ़ विश्वास।।६।।

अल्प जीव ना ओलखे मोह तणे वश मूढ़।
सद्‌गुरु ने सेवे नहीं क्यम पामे पद प्रौढ़।।७।।

सद्‌गुरु बिना कृपा करे कोटि अन्य उपाय।
कल्प लगी कुटी मरे मले नहिं हरि राय।।८।।

नारद ना उपदेश थी पामेलो प्रहलाद।
विश्वासे प्रकट्या प्रभु उपज्यो तब आह्लाद।।९।।

निर्गुण गुणरूपे थया ईश्वर आपो आप।
संकट टाल्यां सर्वनां, भक्ति तणो प्रताप।।१०।।

नारद कहे छे धर्म ने, परीक्षत ने सुखदेव।
मनसा वाचा कर्मणा, करो संतनी सेव।।११।।

सत्‌गुरु ने सेव्या बिना लक्षण समझें लेश।
अन्य उपासन जो करे वाकुं जाप विशेष।।१२।।

भूलेला कई कालना भटके सघला जीव।
सत्‌गुरुने सेव्या बिना कोई के नहिं शिव।।१३।।

पोतामां देखो प्रभु तो देखो सहु माँय।
अलगौ धारै ईश ने काज सरे नहिं काँय।।१४।।

तुजमां मुजमां खड़गमां खंब विषे छे राम।
दीठा सघले नर हरि तेथी सरियुं काम।।१५।।

* * * * * *

गुरु देवन के देव।

काहूसूं न रोष तोष काहूसू न रागदोष

काहूसू न वैरभाव काहूसे न घात है।

काहूसू न बकवाद काहूसू नहीं विषाद

काहू सू न मंगेन तो काहू पक्षपात है।

काहूसू न दुष्ट बैन काहूसू न लैनदेन

ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है।

सुन्दर कहत सोई ईशन को महाईश

सोई गुरुदेव जाके दूसरी न बात है।।१।।

भूमिहुकी रैनुकी तो संख्या कोऊ कहत है

भारहु अठार द्रुम तिनके जु पात है।

मेघन की संख्या सोउ ऋषि ने विचारि कही

बूँ दन की संख्या तेऊ आई के पिलात है।

तारन की संख्या सो तो कही है पुरान माहिं

रोमन की संख्या पुनि कितनेक जात हैं।

सुन्दर जहां लौ जंत तिनही को आवे अंत

गुरु के अनंत गुण कापै कहे जात है।।२।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

करुणा करोगे करुणों पर करुण बन

करुणेश! शेष करुणा को तब देखूंगा।।

करुणा के आगर कहाते करुणाकर हो

आकर करोड़ों कर जोड़े जब देखूंगा।।

करुणा की माया काया कवि-कल्पना की हुई

कल्पों कलपते गया आज अब देखूंगा।।

करुणा करो न! कोटि करुण चुए हैं कण

करुणा निधान! करुणा को कब देखूंगा।।

(कल्याण)

सन्तनी महिमा।

संत हरि गुरु एक प्रमाण्य

जल लहरी दृष्टां ते जाण्य।

पुष्प वासना न्यारी नहीं

तिल रु तेल एक जाणो सही।।१।।

संत वदे ते शीतल वेण

करुणने अति निर्मल नेण।

टाले ताप प्रजाले पाप

आपै अखंड ब्रह्मनो जाप।।

प्रेमे पोता सरखो करे

कहे प्रीतमं तारे न तरे।।२।।

संत सरोज भमर भगवंत

प्रीत सहित नित्य वास वसंत।

निमिष मात्र ते न्यारा नहीं

मीन रहे जेम महाजल महीं।।

एम हरिना जन हरिमा रहे

कहे प्रीतम को विरला लहे ।।३।।

संत हरि ते एकज अंगै

महा मोटा मांगे सतसंग।

ज्ञान प्रकाश घट भीतर थाय

मोह निशा तत्क्षण जाय ।।

संत सेवतां संशय कशां·

प्रीतम प्रगटे निर्मल दशा ।।४।।

संत शील बहु सेहैज संतोष

वचन वदै निर्मल निर्दोष।

नहिं मोह ममता मदमान

हरदे एक हरिनु ध्यान।।

तेहनो संग करे जे कोय

कहे प्रीतम सुख पामे सोय।।५।।

कल्प वृक्ष सुर धेनु संत

चिन्तामणि दुःखनो करे अंत।

ब्रह्मा आदि कीट पर्य्यंत

अधिक न्यून नहिं जेने चित्त।।

समदर्शी साधु केहेवाय

प्रीतम दर्शन थी दुःख जाय ।।६।।

रिपु मित्र एक समान

हेम लोष्ट मान अपमान।

आवरण रहित ऊजली दशा

उपजै नहिं मनोरथ कशा।।

प्रीतम एवा हरिना साध

जेहे नो महिमा अगम अगाध।।७।।

पद पूजि रज मस्तक धरे

कहे प्रीतम सहेजे भव तरें।

गुणातीत निर्गुण जिन रूप

शुद्ध चेतन गुण बह्म स्वरूप।।८।।

एक रस ज्ञान अखंडित सार

सहेजे स्वरूपं साक्षात्कार।।

विश्वाधार बखाणे वेद

प्रीतम जेहनो भारे भेद।।

गुरुनु ध्यान धरे जे रोय

संभारे सो सुक्रित होय।।

दर्शन केता दुक्रित जाय

सेवा थी सहु साधन थाय।।

प्रीतम प्रगटै पूरण दशा

जेने गुरु रुदियामां वस्था।।९।।

तत्सत्।

साधु-लक्षण।

विरक्तः परदारेषु निस्पृहः परवस्तुषु।
दंभ मात्सर्य हीनो यः ससाधुः कथ्यतै बुधैः।।

अर्थात् :- जो परस्त्री तथा दूसरे की वस्तु की इच्छा न करे और दंभ तथा मात्सर्य न रखता हो उसे बुद्धिमान पुरुष साधुजन कहते हैं।

श्लोकः- सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्वदा।
काम क्रोधौ वशे यस्य स साधु कथ्यते बुधैः।।

अर्थात् :- जिसे सत्य का ही व्रत है, दीनों पर सदा दयालू हो तथा जिसके काम क्रोध वश होते हैं, उसे समझदार मनुष्य 'साधु' कहते हैं।

(नीति)

बनचर संग रहवो सुखद, वन पर्वत के माहिं।
पै मूरख संग स्वर्गई, दुःखयुत संशय नाहिं।।

तुलसी साथी विपति के, विद्या विनय विवेक।
साहस, सुकृत सत्यव्रत, राम भरोसो एक।।

*** * * * * ***

खलहु सर्प इन दुहुन में, भलो सर्प खल नाहिं।
सर्प डसत है काल में, खल-जन पद-पद माहिं।।

*** * * * * ***

दया भाव जाने नहीं, ज्ञान कथै बेहद।
ते नर नर्कहिं जायंगे, सुनि सुनि साखी शब्द।।

दाया दिल में राखिये, तू क्यों निर्दय होय।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुञ्जर दोय।।

जड़ताई मति, की हरत, पाप निवारत अंग।
कीरति सत्य प्रसन्नता, देत सदा सत्संग।।

(भर्तृ)

भले बुरे विधिना रचै, पै सदोष सब कीन।
कामधेनु पशु, कठिन मनि, दधि खारो शशि छीन।।
कहिं कहीं विधि की अविधि भूले परम प्रवीन।
मूरख को संपत दई, पण्डित संपत हीन।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

सेवाधर्म की कठिनता।

चुप गूगों लाबर वचन निकट ढीठ जड़ दूर।
क्षमाहीन परिहास खल, सेवा कष्ट ही पूर।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

तुलसी सत्पुरुष सेइये जब तब आवहिं काम।
लंक विभीषण को दई, बड़े दुचित में राम।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

रन सन्मुख पग सूर के वचन कहें ते सन्त।
निकसन पाछै होत हैं, ज्यों गयन्द के दन्त।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

विपति धीर संपति क्षमा, सभा माहिं शुभ बैन।
युध विक्रम यशमाहिं रूचि, ते नर वर गुणऐन।।

(भर्तृ)

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

सधन सगुण सधरम, सगुण सुजन सुरबल महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन, ते त्रिभुवन के दीप।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

सत पुरुषन की रीति, सम्पत में कोमल हि मन।
दुःखहु में यह नीति, वज्र समान हि होत तन।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

तबै बुन्द हवै क्षीण, कमल पत्र जे सरस हैं।
मुक्ता सीपहि कीन, यानमान इस प्रकार अपमान है।।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

तृण तुलिताखिल जगतां करतल कलिताखिलार्थ तत्वानाम्।
श्लाघा वरवधूटी घट दासत्वं सुदुर्निरसम्।।

अर्थात् :- संसार को तृण समझ तिरस्कार करने वाले करतलामलकवत् सब पदार्थों के तत्व को जानने वाले भी महात्मा श्लाघा आत्मप्रशंसा के रोग से - 'मैं' के दुरभिमान से कठिनता से ही छुटकारा पाते हैं।

प्रणव से ब्रह्मप्राप्ति :-

ॐ यह अक्षर सर्व है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य यह सब ओंकार ही है। जो तीनों कालों से परे है वह भी ॐकार ही है, यह आत्मा ब्रह्म है, आत्मा का ॐ ऐसे ब्रह्म के साथ एक करके वह एक अजर अविनाशी अभय ॐ है। ऐसा अनुभव कर उसमें तीनों शरीरों का आरोप करके अपवाद करे। आत्मा के तीन शरीरों का तथा इनके अभिमानी का ब्रह्म के तीन शरीर तथा उनके अभिमानी से अभेद चिन्तन करे। आत्मा के चार पाद हैं। विश्वरूप वैश्वानर प्रथम पाद है। तैजस रूप हिरणयगर्भ द्वितीय पाद है। प्राज्ञ रूप ईश्वर रूप तृतीय पाद है और जीव साक्षीरूप ईश्वर (ईश्वर साक्षी) यह चतुर्थ पाद है। आत्मा चक्षु का दृष्टा, श्रोत्र का दृष्टा, वाणी का दृष्टा, मन का दृष्टा, बुद्धि का दृष्टा, प्राण का दृष्टा, अज्ञान का दृष्टा तथा सर्व का दृष्टा है। इससे यह सर्व से भिन्न और विलक्षण है। सर्वदा द्वैतरहितआनंदरूप सर्व का अधिष्ठान रूप रस मात्र तथा अविद्यादि से रहित आत्मा ब्रह्म है। ऐसा अनुसंधान करे प्रणव की प्रथम मात्रा अकार प्रथम पाद है। दूसरी मात्रा उकार द्वितीय पाद है। तीसरी मात्रा मकार तृतीय पाद है तथा चौथी अर्धमात्रा चतुर्थ पाद है।

तृष्णारहित ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते। यहां ही आत्मा के साथ एकता पाते हैं। शरीर के पड़ने के प्रथम ब्रह्म होते उत्तर काल में ब्रह्म को पाता है। यह सर्व सच्चिदानंद ब्रह्म ही है - ब्रह्म अभय है, ऐसा जो जानता है वह अभय रूप ब्रह्म होता है।

'जीवेशावा भासेन करोति माया चा विद्याच स्वयमेव भवति'

प्रकृति जीव तथा ईश्वर को आभास द्वारा करती है और माया तथा अविद्या स्वयम् ही होती है यह आत्मा अद्वय सन्मात्र नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरञ्जन और व्यापक है। यह सर्व सत्ता मात्र है। 'असंगोह्ययमात्मा' - यह आत्मा असंग ही है।

(उत्तर नृसिंह तापनीय उप.सार)

राम हृदय :-

ध्यान वा समाधि कामनाओं से ऊपर उठने से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कामनाएं एकाग्रता में बाधा डालती हैं। और जब तक चित्तशुद्धि और आत्मज्ञान होय तब तक वास्तविक

एकाग्रता प्राप्त करने को प्रणव का गान करो। प्रणव का उच्चारण करो और उच्चारण करते समय अपना चित्त पूर्णत: इसमें लगा दो। अपनी सारी शक्तियों को इसमें जोड़ दो। अपना सारा मन इसमें संचित करो। इसके अनुभव करने में अपना सारा बल लगा दो।

इस पवित्र अक्षर ॐ का अर्थ है ''मैं वह एक है, ॐ वही मैं हूं'' ॐ।ॐ।।

- ॐ उच्चारते समय यदि हो सके तो अपनी समस्त निर्बलताओं और सारे प्रलोभनों को अपने सामने रक्खो। उन्हें अपने पावों तले कुचल डालो। उनसें ऊपर उठो। और विजयी होकर निकलो।

तृष्णा :-

कबिरा तृष्णा पापनी तासो प्रीति न जोरि।
पैंड़ पैंड़ पाछे परे लागै मोटि खोरि।।

ॐ उच्चारो और एक अथवा अनेक जो भी स्वभावत: अथवा स्वत: आपके चित्त में फड़के। उन्हीं से ॐ का गायन करो।

हृदय को शुद्ध करो, प्रणव अक्षर का गायन करो। निर्बलता के सब चिंन्हों को चुनकर उन्हें अपने भीतर से बाहर करो। सुन्दर चरित्रवान बनकर विजयी निकलो।

यह अनुभव करो कि पूर्ण आनन्द हो, आनन्द हो, आनन्द हो।

भक्त लक्षण :-

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदाहरि:।।

अर्थात् :- अपने को तुण से भी अति नीच मान वृक्ष समान सहनशील बने। और स्वयं मान-रहित हो सबको मान देता हुआ सदा श्री हरि का कीर्तन करे। अमानी को मान दे और सदा श्री हरि का कीर्तन करे।

ब्रह्मज्ञानी के लक्षण :-

निरालम्ब, निर्भय, निर्वासिक, निर्विकार, १ (अथ विचार परीक्षा) निर्मोहित, निंबध, निहिंसक, निर्वाण, २ (अथ विवेक परीक्षा) सावधान, सर्वंगी, सार ग्राही, सन्तोषी ३ (अथ परम सन्तोष परीक्षा) निष्प्रपंच, निहतरंग, निर्लिप्त, निष्कर्म, ५ (अथ निर्वैर परीक्षा) सुहृत्, सुखदाई, शीतलताई, सुमति६, (अथ शून्य परीक्षा) शीलवंत, सुबुद्धि, सत्यवादी, ध्यान, समाधि जिसमें

ये लक्षण होय ताको ब्रह्म ज्ञानी कहिये। और जिसमें यह लक्षण न होय उसको वाचक ज्ञानी वितंडा जानिये।

* * * * * *

भव जल नदी भयावनी किस विध उतरूं पार।
साहिब मेरी अरज है सुनिये बारंवार।।

पैरत थाको हे प्रभू सूझत वार न पार।
मिहर मौज जब ही करो तब पाऊँ दरबार।।

निर पंछी के पंछ तुम निराधार के धार।
मेरे तुमही नाथ इत, जीवन प्राण अधार।।

जेते करम हैं पाप के मुहि से बचै न एक।
मेरी और लखा कहाँ, विर्द बानों तन देत।।

जो जाकी तावे सरन ताको ताहि संभार।
तुम सब जानत नाथ त्यों कहा कहौं विस्तार।।

पूजा अर्चन बन्दगी नहिं सुमिरण नहिं ध्यान।
प्रभु जी अब राखे बने विर्द बानेकी कान।।

नहीं समझ नहीं साधना, नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसे रहत है, जो बालक नादान।।

सीस नवैंतो तुमहि वूं तुमहिंसूंभाखूं दीन।
जो झगरू तो तुमहिं सूँ तुम चरनन आधीन।।

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं यातिक्षयं यौवनं,

प्रत्या यान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद् भक्षकः।

लक्ष्मी स्तोय तरंग भंग चपला विद्युच्चलं जीवितं,

तस्मान्मां शरणा ऽऽगतं शरणद! त्वं रक्ष रक्षाधुना।।

'आयु प्रति दिन देखते ही देखते नष्ट हो रही है, जवानी बीती जा रही है, गये हुए दिन लौटकर नहीं आते, काल जगत् को खा रहा है, लक्ष्मी जल के तरंग की भांति चंचल है;। और जीवन तो बिजली की चमक के समान अस्थिर है। अतएव हे शरण देने वाले प्रभू! मुझ शरणागत की तुम अभी रक्षा करो'।

कृष्ण त्वदीय पद पंकज पंजरान्ते

अद्यैव मे विशतु मानस-राज-हंसः।

प्राण प्रयाण समये कफ वात पितैः

कंठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।।

हे कृष्ण, तुम्हारे पद कमल रूपी पिंजर में मेरा यह मनरूपी राज हंस आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण निकलने के समय जब कफ वायु और पित्त के बढ़ने पर कण्ठ रुक जायगा उस समय तुम्हारा स्मरण कहां से होगा।

ॐ

निदिध्यासन।

श्रवण तथा मनन हुए पश्चात, मुमुक्षु को अनात्माकार विजातीय वृत्तियों का त्याग कर, आत्माकार सजातीय वृत्तियों के प्रवाहरूप निदिध्यासन को निरंतर करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि "मन, वाणी के विषयरूप दृष्य-प्रपंच से मैं विलक्षण हूँ, आनंदस्वरूप हूँ स्वयं प्रकाश हूँ' तथा मैं सजातीय, विजातीय तथा-स्वगत भेद से रहित हूँ", इस रीति को वृत्ति के निरंतर प्रवाह रूप 'निदिध्यासन' में निष्ठावाला, तथा पूर्वोक्त श्रवण मनन को बहुत काल पर्यंत श्रद्धापूर्वक सेवन करने वाला मुमुक्षु ब्रह्मविद्या को पाता है। ब्रह्मविद्या वाले पुरुष ही को श्रुति में ब्राह्मण कहा है। -(वृहदारण्यकोपनिषद्)

दोहा :- **निदिध्यासन ताको कहे, जीभ हिले नहिं होठ।**
विरती के प्रवाह में, होय नहीं कोइ खोट।।१।।
वृत्ति सजाती यों उठे, अंत करण मझार।
जैसे पुंवे से छुटे, टूटत नाहीं तार ।।२।।

अर्थ यह है कि :- जो पूर्व महावाक्यों के अनुसार जीवब्रह्म के एकत्त्व का विवेचन किया, सो युक्ति-पूर्वक चिंतन करने से जब दृढ़ हो गया है, तो फिर उसमें बाह्य इन्द्रियों के व्योंपार की, और होठ हिलाने की कुछ जरूरत नहीं। अन्तर ही में अन्तःकरण से 'वृत्तियों का प्रवाह चलावे, और खोट कहिये विजाती अनात्माकारवृत्ति नहीं होने दे। अर्थात् अन्तः करण में से सजातीय कहिये, 'ब्रह्माकार वृत्तियों' का अखंड प्रवाह ऐसा चले कि जैसे रुई के तूल को खेंचने से तार बन्ध जाता है, और टूटता नहीं। इसी प्रकार वृत्ति का प्रवाह होने को 'निदिध्यासन' कहते हैं।

निदिध्यासन रूपी वृक्ष दृढ़ होने पर तत्काल ही फल देता है। जैसे वृक्ष के बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, किन्तु प्रथम जमीन की सफाई करने में ही देरी होती है। बीज तो जल्दी बोया जाता है और फिर जल सिंचन, रखवाली से आदि लेकर जो हिफाजत करनी है उसमें देरी लगती है। परन्तु हिफाजत करने से वह वृक्ष दृढ़ता को प्राप्त होकर फल जल्दी देता है। तैसे ही निदिध्यासन रूपी जो वृक्ष

है उसे उपदेश-रूपी बीज बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, परन्तु जमीन रूपी अन्त करण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के मल विक्षेप की सफाई करने में देरी लगती है।

उपदेश, अर्थात्-श्रवण तो हर एक जगह हो जाता है; परन्तु बीजरूप जो श्रवण होता है उसकी मनन रूप हिफाजत में देरी लगती है। क्योंकि अनेक प्रकार की युक्ति से चिन्तन रूपी हिफाजत करना पड़ती है, जिससे उस श्रवणरूपी बीज सें मनन रूपी पौधा कुछ काल पाके दृढ़ होता है। परन्तु दृढ़ होने के बाद वह निदिध्यासनरूपी वृक्ष के रूप में होकर ज्ञानरूपी फल को जल्दी ही उत्पन्न कर देता है। ऐसे ज्ञानरूपी फल के खाने से अज्ञानरूपी क्षुधा दूर होकर, दुख की सदा के लिये निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण जिज्ञासु पुरुषों को निदिध्यासनरूप वृक्ष की पुष्टि करना चाहिये, क्योंकि यह महान् फल को देता है।

जैसे किसी रत्न से महाद्रव्य की प्राप्ति होती है, परन्तु उसके नाश होने के अनेक भय रहते हैं। परन्तु-उक्त ज्ञानरूपी धन का तो कोई भी नाश नहीं कर सकता है। चोर न चोरे, राजा न डंडे, न कोई लूट सके, गुप्तज्ञान रूपी महाधन की ऐसी महिमा अनाड़ी लोग नहीं जान सकते हैं इसी से निदिध्यासन को रत्न कहा है। मनन ही इसका कारण है। और जो ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्तियों का तैल धारावत् प्रवाह है; सोई निदिध्यासन का स्वरूप है। विपरीत भावना की निवृत्ति इसका फल है।

यदि कोई ऐसा पूछे कि-विपरीत भावना किसे कहते हैं? तो सुन, जैसे स्वर्गादिक अनित्य है, तिनको नित्य जानना। और स्त्री पुत्र अशोच्य हैं, तिनको शोच्य जानना। इसी प्रकार कृषि, वाणिज्य, मदिरापान आदि दुखरूप हैं; तिनको सुखरूप जानना। और शरीर आदि अनात्म हैं; तिनको आत्मरूप समझना। ये चार प्रकार के कार्य अविद्या के कारण जैसे उलटे समझे जाते हैं, वैसे ही अविद्या से (यहां दृष्टान्त में) शुद्ध सच्चिदानन्द, जन्म मरण तथा पुण्य पाप सुख दुख से रहित, एक, परिपूर्ण, ब्रह्म-स्वरूप ऐसा जो आत्मा है, उसको असत्, जड़, दुःख का भोगने वाला मानता है,-इस को विपरीत भावना कहते हैं।

इसकी निवृत्ति निदिध्यासन से ही होती है। क्योंकि बारम्बार ब्रह्माकार वृत्ति के होने से जीवभाव दूर होकर ब्रह्म भावना होने से अपन को ब्रह्म रूप ही करके जान सकता है। इससे जीवभाव दूर होता है। इस प्रकार विपरीत भावना की निवृत्ति निदिध्यासन का फल है। जब तक जीव ब्रह्म की एकता का दृढ़ निश्चय नहीं हों तब तक निदिध्यासन करे। और जब दृढ़ निश्चय हो जावे; तब वृत्ति की परिसंख्या नहीं करे। यही इसकी अवधि है। **-(चौ.र.गु.सा.)**

- जिस प्रकार बादाम, पिस्ता, शक्कर और अन्न आदि पदार्थों को जितना ही चबाकर खाओ उतना ही उनमें स्वाद मालूम होता है और उनका पाचन भी उत्तम रीति से होता है, जिससे शरीर पुष्ट दृढ़ होता है, उसी प्रकार वेदांत को बारंबार मनन करने से अभेद तात्पर्य की समझरूपी स्वाद मिलता है, और आत्मज्ञान पुष्ट होता है। इसी का नाम 'निदिध्यासन' है। **-पंचीकरण**

ॐ

श्री महाप्रभु अवधूत श्री नित्यानंदजी महाराज की

आरती नं. ५

(शिव भाव)

ॐ केवल गुरुदेवं।

ॐ[1] केवल गुरुदेवं, भव सागर से करग्रहि,

ॐ भव सागर से कर ग्रहि, करै परले पारं[2]।।

ॐ जय जय जय गुरुदेव।।टेक।।

भावार्थः- हे शिष्य! जो गुरु केवल (मुक्त) स्वरूप होता है, वो ही गुरु शिष्य को हाथ पकड़ कर भवसागर से परले (प्रलय के) पार कर सकता है। निश्चय करके भवसागर से परले पार (प्रलय के पार) कर सकता है। ऐसे "सद् गुरुदेव की जय हो, जय हो, जय हो" ऐसे जय जयकार बोलने से शिष्य भी मुक्त हो जाता है। तू वास्तव में मेरा ही रूप है, इसलिए स्वरूप को प्राप्त हो।

मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो! (टेक)

---

१ ॐ= स्वदेहमरणिं कृत्वा, प्रणवश्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़त्।।

भावार्थः- अपने शरीर को नीचे की लकड़ी मान और प्रणव (ॐ) को ऊपर की मान, अनेक साल तक चलती हुई ध्यानरूपी-रगड़ द्वारा परमात्मा को वहाँ छिपे हुए की नाईं देखो यही यथार्थ में 'निदिध्यासन' है और इसमें प्रणव के जप और उसके अर्थ (जो माणडूक्य-उपनिषद् में कथित हैं) की भावना और ध्यान परमावश्यक है।

जिस प्रकार काष्ट की दो अरणी को घिसने से उसमें से अग्नि प्रकट होता है, उसी तरह अपना शरीर नीचे की अरणी है, तथा ब्रह्म का प्रणव मंत्र ऊपर की अरणी है। ब्रह्म रूप आत्मा का नाम ओंकार रूप प्रणव है, इसमें चित्त की वृत्तियों का प्रवाह, यह उन दोनों अरणियों का मन्थन है। इस प्रकार के मंथन से आत्मरूप अग्नि का साक्षात्कार अवश्य होता है।

"जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज इन चारों प्रकार के प्राणियों के शरीर में आत्मा नहीं है, क्योंकि वह देखने में नहीं आता" इस प्रकार का विचार नितान्त खोटा-मिथ्या है। क्योंकि एक वस्तु अपने देखने में न आई, इससे 'वह वहां नहीं है" यह धारणा अत्यन्त असंभवित है। किसी भी उपाय द्वारा वस्तु वहां न देख पड़े, तो फिर कहा जा सकता है कि वह वहां नही है। 'देह में आत्मा है' इस विषय में मैं चार दृष्टान्त देता हूँ वे सुनोः-

(१) जिस प्रकार तिलों में तेल है, वह ऊपर देखने में नहीं आता। तो भी उसे पीसने पर पीलने पर वह छिपा हुआ तेल प्रत्यक्ष देखने में आता है। (२) दूसरा उदहरण दही में घी होता है। पर दिखता नहीं। बिलौने पर ही घी प्रत्यक्ष होता है। (३) तीसरा दृष्टान्त-नदी के प्रवाह से आगे रेती के अन्दर जल होता है, वह तभी दीखता है, जब रेती खोदी जावे। (४) इसी तरह काष्ठ में रहा हुआ अग्नि दीखने में नहीं आता तो भी काष्ठों के आपुस में घिसने पर अग्नि विदित होता है। इसी प्रकार गुरु और शास्त्र के उपदेश से रहित, बहिर्मुख पुरुषों को जो देह में आत्मा का दर्शन नहीं होता, फिर भी उपदेशानुसार वर्तन करने वाले अधिकारी को यमनियामादि उपाय द्वारा देह में आत्मा का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार घी दूध में अन्तर्व्यापक है, उसी प्रकार आत्मा ईश्वर रूप से कर्म, उपासना तथ तपादि सर्व धर्म का प्रवर्तक है। वह कर्म तथा तप आदि के फल का देने वाला है, तथा सर्व जगत का कारण रूप है। इस आत्मा का जो अधिकारी गुरु द्वारा उपदेशित महावाक्य से साक्षात्कार करता है, वही वेदवेत्ता है।

* * * * * *

(ब) जाकूं महावाक्य के विचार किये ते भी बुद्धि की मंदतादिक किसी प्रतिबंधक ते अपरोक्ष न होवे नहीं, ताकूं यह लयचिंतन रूप ध्यान कहा है। ध्यान और ज्ञान का इतना भेद हैः-

ज्ञान तो प्रमाण और प्रमेय के अधीन है, विधि और पुरुष की इच्छा के आधीन नहीं और ध्यान विधि और पुरुष की इच्छा, विश्वास तथा हठ के आधीन है। विधि, विश्वास, इच्छा बिना ध्यान होवे नहीं। "यह उपासना करे" ऐसा पुरुष का प्रेरक वचन विधि कहिये है ता बचन में श्रद्धा कूं 'विश्वास' कहे हैं और अन्तःकरण की कामना रूप रजोगुण की वृत्ति 'इच्छा' कहिए है। ध्यान के हेतु, यह तीन हैं। (उपासना व ज्ञान के नहीं) और हठ से होवे है। ज्ञान में हठ की अपेक्षा नहीं।

काहेते-निरंतर ध्येयाकार चित्त की वृत्ति कूं ध्यान कहें हैं। तहाँ वृत्ति में विक्षेप होवे तो हठ से वृत्ति की स्थिति करे। और ज्ञानरूप अन्तःकरण की वृत्ति से तत्काल आवरण भंग हुए ते वृत्ति का उपयोग नहीं, याते हठ की अपेक्षा नहीं। बैकुण्ठवासी चतुर्भुज विष्णु के ध्यान की न्याईं "मैं ब्रह्म हूँ" यह ध्यान भी ध्येय के अनुसार है, प्रतीक नहीं। परन्तु यह 'अहंग्रह ध्यान'

है। ध्येय रूप का अपने से अभेद करिके चिंतन अहंग्रह ध्यान कहिये है। जो पुरुष कूं अपरोक्ष ज्ञान नहीं होवै और वेद की आज्ञारूप विधि में विश्वास करके हठते निरंतर "मैं ब्रह्म हूँ" या वृत्ति की स्थितिरूप 'अहंग्रह-ध्यान' करै, ताकूं भी ज्ञान प्राप्त होयके मोक्ष की प्राप्ति होवे है।

और रीति से अहंग्रह उपासना कहें हैः-

ध्यान अहंग्रह प्रणव रूप को, कह्यो सुरेश्वर श्रुति अनुसार।
अक्षर प्रणव ब्रह्म ममरूप सु, यो अनुलव निज मति गतिधार।
ध्यान समान आन नहिं याके, पंचीकरण प्रकार विचार।
जो यह करत उपासन सो मुनि, तुरत नशै संसार अपार।।१।।

टीकाः- हे शिष्य! प्रणवरूप का कहिए, ओंकार स्वरूप का 'अहंग्रह ध्यान' माण्डूक्य, प्रश्न, आदिक श्रुति के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने कह्या है, सो तू कर। ताका संक्षेप ते प्रकार यह हैः-

प्रणव अक्षर ब्रह्म स्वरूप है, सो "प्रणव ब्रह्म मैं हूँ" या रीति से अनुलव कहिये-क्षणमात्र अंतराय रहित, निज मति की गति कहिये-वृत्ति, धार कहिये-स्थिति कर, याके समान आन ध्यान नहीं है और या ध्यान का प्रकार कहिये-विशेष रीती, सुरेश्वर कृत पंचीकरण नाम ग्रन्थ से विचार। चतुर्थ पाद स्पष्ट।

यद्यपि प्रणव उपासना बहुत उपनिषद् में है तथा 'मांडूक्य उपनिषद्' में विशेष है। ताके व्याख्यान में भाष्यकार और आनन्दगिरि ने ताकी रीति स्पष्ट लिखी है, सोई रीति वार्तिककार ने पंचीकरण में लिखी है, तथापि तिन, ग्रन्थन के विचारन में जिनकी बुद्धि समर्थ नहीं है, तिन के अर्थ प्रणव उपासना की रीति हम लिखे हैंः-

दो प्रकार से प्रणव का चिंतन उपनिषद् में कहा है। एक तो परब्रह्म रूप ते प्रणव का चिंतन कह्या है और दूसरा अपर ब्रह्म ते कह्या है- (१) निर्गुण ब्रह्म कूं परब्रह्म कहें हैं। (२) सगुण ब्रह्म कूं अपरब्रह्म कहें हैं। (१) परब्रह्म रूप ते प्रणव का चिंतन करे, सो मोक्ष कूं प्राप्त होवै है, और (२) अपर ब्रह्म रूप ते प्रणव का चिंतन करे सो ब्रह्म लोक कूं प्राप्त होवे हैं। ऐसे निर्गुण, सगुण भेद ते प्रणव उपासना दो प्रकार की है, तामें निर्गुण उपासना की रीति लिखै हैं, सगुण की नहीं। काहे तें-

(१) जाकूं ब्रह्मलोक की कामना होवै ताकूं निर्गुण उपासना ते भी कामनारूप प्रतिबन्धक तें ज्ञान द्वारा तत्काल मोक्ष होवै नहीं, किन्तु ब्रह्मलोक की ही प्रप्ति होवै है। तहां हिरण्यगर्भ के समान भोगन कूं भोगिके ज्ञान होवै है, तब मोक्ष होवै। (२) जाकूं ब्रह्मलोक की कामना नहीं होवै, ताकूं इस लोक में ही ज्ञान होय के मोक्ष होवै है। इस रीति से सगुण उपासना निर्गुण

उपासना के अन्तर्भूत है। याते निर्गुण प्रकार कहें हैं:-

जो कुछ कारण-कार्य वस्तु है सो ओंकार स्वरूप है। याते स्वरूप ओंकार है। सर्व पदार्थन में नाम और रूप दो भाग हैं। तहां रूपभाग अपने-अपने नाम भाग से न्यारा नहीं, किन्तु नामस्वरूप रूपभाग है। काहेते पदार्थरूप कहिये आकार, ताका नाम से निरूपण करिके पदार्थ रूप कहिये आकार, ताका नाम से निरूपण करिके ग्रहण वा त्याग होवै है। नाम जाने बिना केवल आकारते व्यवहार सिद्ध होवै नहीं, याते नाम ही सार है। और आकार के नाश हुए ते भी नाम शेष रहे हैं। तहां घट, मृत्तिका से पृथक् वस्तु नहीं, मृत्तिका स्वरूप है तैसे आकार का नाश हुए ते मृत्तिका की न्याईं शेष रहे जो नाम, तासे आकार पृथक् नहीं, नाम स्वरूप ही आकार है। किंवा जैसे घट, शरावादिकन में मृत्तिका अनुगत है, और घट शरावादिक परस्पर व्यभिचारी हैं, याते घटशरावादिक मिथ्या, तिनमें अनुगत मृत्तिका सत्य है। तैसे घट आकार अनेक हैं, तिन सब का 'घट' 'पट' दो अक्षर नाम एक हैं। सो आकार परस्पर व्यभिचारी और सर्वघट के आकार में नाम एक अनुगत है, याते मिथ्या आकार सत्य नाम से पृथक नहीं। इस रीति से सर्वपदार्थन के आकार अपने-अपने नाम से भिन्न नहीं, किन्तु नाम स्वरूप ही आकार हैं।

(२) सो सारे नाम ओंकार से भिन्न नहीं, किन्तु ओंकार स्वरूप ही नाम है। काहेते वाचक शब्द कूं नाम कहे हैं और 'लोक वेद के सारे शब्द ओंकार से उत्पन्न हुए हैं'' यह श्रुति में प्रसिद्ध है। संपूर्ण कार्य, कारण रूप होवे हैं। याते ओंकार के कार्य जो वाचक-शब्द, रूप, नाम सो ओंकार स्वरूप हैं। इस रीति से रूपभाग जो पदार्थ नाम, आकार, सो तौ नाम स्वरूप हैं, और सर्व नाम ओंकार स्वरूप है। याते सर्व स्वरूप ओंकार है।

(३) जैसे सर्व स्वरूप ओंकार है, तैसे सर्व स्वरूप ब्रह्म है, याते ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। किंवा-ओंकार ब्रह्म का वाचक है, ब्रह्म वाच्य है। वाच्य का और वाचक का अभेद होवे है, याते भी ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। और विचार दृष्टिते तो अक्षर, ब्रह्मविषे अध्यस्त है, ब्रह्म तिसका अधिष्ठान है। अध्यस्त का स्वरूप अधिष्ठान ते न्यारा होवे नहीं, याते भी ओंकार ब्रह्म स्वरूप है। याते ओंकार कूं ब्रह्म स्वरूप करिके, चिन्तन करे।

(१) व्यष्टि और समष्टि जो स्थूलप्रपंच ता सहित विश्व और विराट् का अकार से अभेद जाने। आत्मा के जो पाद है तिन विषे 'विश्व आदि' है और ओंकार की मात्रा विषे 'अकार आदि' है, याते दोनों कूं एक जाने (२) सूक्ष्म प्रपंच सहित जो हिरण्यगर्भ रूप 'तैजस' है ताकूं 'उकार' रूप जाने। तैजस भी दूसरा है, और उकार भी दूसरा है, याते दोनों कूं एक जाने (३) कारण उपाधि सहित जो ईश्वर रूप प्राज्ञ है ताकू मकार रूप जाने जैसे ईश्वर रूप प्राज्ञ तीसरा है, तैसे मकार भी तीसरा है, यातैं ईश्वर रूप प्राज्ञ और मकार कूं एक जाने (४) तीनों विषे अनुगत जो परमार्थ रूप 'तुरीय' है, ताकूं ओंकार वर्ण की तीनों मात्रा विषे अनुगत जो ओंकार का परमार्थ

रूप 'अमात्र' है तासे अभिन्न जाने। जैसे विश्वादिक विषे 'तुरीय' अनुगत है, तैसे अकारादिक तीनों मात्रा विषे 'अमात्र' अनुगत है, याते ओंकार के 'अमात्र रूप कूं' और 'तुरीय कूं' एक जाने। इस रीति से आत्मा के 'पाद' और ओंकार की जो मात्रा है, तिनकी एकता जानि के 'लयचिन्तन' करे सो लय चिन्तन कहिये हैः-

(१) विश्व जो अकार है, सो तैजस रूप उकार से न्यारा नहीं किन्तु उकार रूप है, ऐसा जो चिन्तन करना सो या स्थान में 'लय' कहिये है। ऐसा ही और मात्रा विषे भी जान लेना और (२) जा उकार विषे अकार का लय किया है ता तैजस स्वरूप उकार 'प्राज्ञ' रूप जो मकार है ताके विषे लय करे और (३) प्राज्ञ रूप जो मकार है ताकूं तुरीय रूप जो ओंकार का परमार्थ रूप अमात्र है, ताके विषे लीन करें। काहेते-स्थूल की उत्पत्ति और लय सूक्ष्म विषे होवे है, याते (१) विश्व रूप जो अकार है, ताका तैजस स्वरूप उकार में लय बने है और (२) सूक्ष्म की उत्पत्ति और लय कारण में होवे है, याते तैज़स रूप जो उकार है ताका कारण प्राज्ञ रूप जो मकार है, ताके विषे लय बने हैं। स्थान विषे विश्व आदिकन के ग्रहण ते समष्टि जो विराट् आदिक है, तिनका और अपनी अपनी जो त्रिपुटि हैं तिन सर्व का ग्रहण जानना। (३) जो प्राज्ञरूप मकार विषे उकार लय किया है, ता मकार तो तुरीय रूप जो ओंकार परमार्थ रूप अमात्र है ताके विषे लीन करें। कहिते ओंकार के परमार्थ स्वरूप का तुरीय से अभेद है। सो तुरीय ब्रह्मरूप है, और शुद्ध विषे ईश्वर, प्राज्ञ दोनों कल्पित हैं। जों जाके विषै कल्पित होवे है सो ताका स्वरूप होवे । याते ईश्वर सहित प्राज्ञरूप मकार का लय बने है। इस रीति से जो ओंकार के परमार्थ स्वरूप अमात्र विषे सर्व का लय किया है 'सो मैं हूँ' ऐसा एकाग्रचित्त हो होय के चिन्तन करे। स्थावर जंगम रूप और असंग अद्वय, असंसारी, नित्यमुक्त, निर्भय, ब्रह्म रूप जो ओंकार का परमार्थ स्वरूप है, 'सो मैं हूँ' ऐसा चिन्तन करने से ज्ञान उदय होवै है। याते ज्ञान द्वारा मुक्तिरूप फल का देने वाला यह ओंकार का निर्गुण उपासन है सो सर्व से उत्तम है।

जो यह निर्गुण ध्यान न ह्वै तो, सगुण ईश करि मन को थाम।
सगुण उपासन हू नहिं ह्वै तो, करि निष्काम कर्म भजि राम।।
जो निष्काम कर्म हू नहिं ह्वै, तो करिये शुभ कर्म सकाम।
जो सकाम कर्म नहिं हौवे, तो शठ बार-बार मरि जाम।।

(विचार सागर १६९)

(ब) मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

(गीता शांकरभाष्य १२-८)

भावार्थः- तू मुझ विश्वरूप ईश्वर ही में अपने संकल्प विकल्पात्मक मन को स्थिर कर और मुझ में ही निश्चय करने वाला बुद्धि को स्थिर कर लगा। उससे तेरा (क्या) लाभ होगा सो सुनः-

इसके पश्चात् अर्थात्-शरीर का पतन होने के उपरान्त तू निःसंदेह एकात्मक भाव से मुझ में ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अर्थात् इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए।

अथ चित्तं समाधातुं न शन्कोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

भावार्थः- यदि इस प्रकार यानी जैसे मैंने बताया है, उस प्रकार तू मुझ में चित्त को अचल स्थापित नहीं कर सकता, तो फिर हे धनंजय! तू अभ्यास योग के द्वारा (चित्त को सब ओर से खींचकर, बारंबार एक अवलम्बन में लगाने का नाम अभ्यास है, उससे युक्त जो समाधान रूप योग है, ऐसे अभ्यास योग के द्वारा) मुझ-विश्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा कर।९।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोसि, मत्कर्म परमोभव।
मदर्थ मपि कर्माणि, कुर्वान्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

भावार्थः- यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर हो-मदर्थ कर्म का, काम नाम मत्कर्म है, उसमें तत्पर हो अर्थात् मेरे लिए कर्म करने को ही प्रधान समझने वाला हो। अभ्यास के बिना केवल मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तू अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान योग की प्राप्ति द्वारा परम सिद्धि प्राप्त करेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि, कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततःकुरु यतात्मवान्।।११।।

भावार्थः- परन्तु यदि तू ऐसा करने में भी (अर्थात्- जैसा ऊपर कहा है उस प्रकार मेरे लिए कर्म करने के परायण होने में भी) असमर्थ हो तो फिर मद्योग के आश्रित हुआ (किए जाने वाले समस्त कर्मों को मुझ में समर्पण करके उनका अनुष्ठान करना मद्योग है, उसके आश्रित हुआ) और संयतात्मा होकर (अर्थात् जीते हुए मन वाला होकर) समस्त कर्मों के फल का त्याग कर।।११।।

श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्म फलत्याग स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

भावार्थः- निःसन्देह 'ज्ञान' श्रेष्ठतर है, किससे? अविवेकपूर्वक किए हुए 'अभ्यास' से, उस ज्ञान से भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है, और (इसी प्रकार) ज्ञानयुक्त ध्यान से भी 'कर्म फल का त्याग' अधिक श्रेष्ठ है। पहले बतलाये हुए विशेषणों से युक्त इस कर्मफल-त्याग से तुरन्त ही शांति हो जाती है। अर्थात् हेतु सहित- समस्त संसार की निवृत्ति तत्काल ही हो जाती है, कालान्त की अपेक्षा नहीं करती।

''कर्मों में लगे हुए अज्ञानी के लिए पूर्वोक्त उपायों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर ही सर्व कर्मों के फल त्याग रूप कल्याण साधन का उपदेश किया गया है, सबसे पहले नहीं। इसलिए 'श्रेयोहि ज्ञानमभ्यसात्' इत्यादि से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाकर सर्वकर्मों के फल त्याग की स्तुति करते हैं क्योंकि उत्तम साधनों का अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर यह साधन भी अनुष्ठान करने योग्य माना गया है''।

(श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य)

(२) कुण्डलियाँः-

गुरु समान दाता नहीं, तीन लोक में तात।
अभय दान गुरु दे सदा, समझ मान मन बात।।
समझ मान मन बात, चरण, गुरु का नित पूजे।
नाशवन्त धन त्याग, अभय धन तुझको सूझे।।
यह कहता मस्त पुकार, दयालू है गुरुदेवा।
अभय दान दे तुरत, करो तन मन से सेवा।।१।।

दोहाः- गुरु मंत्र तजना नहीं, भजना बारम्बार।
महा पातकी का करे, श्री गुरु शीघ्र उद्धार।।१।।

ॐ गुरु-गुरु में शिष भेद, अल्प मति [3]तोरी।
ॐ अल्प मति तोरी। चारों वरण समान,
ॐ चारों वरण समान, सम पर उपकारी।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।१।।

भावार्थः- हे शिष्य! प्रणवरूप परमात्मा-गुरु में तथा गुरु-गुरु में अर्थात् यह गुरु अच्छा, वह गुरु बुरा, अथवा मैं और हूँ गुरु और हैं, इस प्रकार का भेद समझता है, तो यह तेरी अल्प मति क्षुद्र बुद्धि है। गुरुदेव की बुद्धि में-दृष्टि में तो-ब्रह्म, स्वयं तू तथा जगत् चारों अथवा चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र), अथवा चारों प्रकार के भक्त (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और मुमुक्षु) सब एक हैं समान हैं। वे (गुरु) सब पर समान रूप से उपकार करने वाले होते हैं। तू भी उनके रक्षण में रह, ऐसी ही दृष्टि प्राप्त करके स्वस्वरूप का अपरोक्षानुभव प्राप्त कर, तेरा आवरण-अज्ञान दूर होगा। हे प्रणव रूप प्रिय आत्मा! मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो!

---

(३) कुण्डलियांः-

गुप्तेश्वर गोविंद की, छबि निरख तू बारम्बार।
अष्ट प्रहर चौसठ घड़ी, लग्यो राख इक तार।।

लग्यो राख इकतार वेद गुरु यों समझावे।
चतुर पुरुष करि कर्म, परम पूरण पद पावे।।

यह कहे निज नित्यानन्द चित्त तब तूं सुख पावे।
गुप्तेश्वर गोविन्द एक दृष्टि में आवे।।

भक्त भिन्न भगवान से, श्री गुरु कहे न दूर।
तद्‌पि भिन्न अभिन्न है, निज नारायण नूर।।१।।

श्रीमन् नारायण प्रथम, दूजा जय नारा (य) ण।
तीजे नारायण भये, उड़ी न राख? पिछाण।।२।।

खुद मस्ती से देखिए, जुदा न दीखे कोय।
ऐसे महा योगीश का, दुर्लभ दर्शन होय।।३।।

(नि.वि.)

ॐ वेद व्यास खुद आप, गुण गुरु का[४] गावे
ॐ गुण गुरु का गावे। ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान
ॐ ब्रह्म-विद्या ब्रह्म-ज्ञान, गुरु बिन नहिं आवे।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।२।।

भावार्थः- हे शिष्य तू तो क्या, पर स्वयं वेद व्यासजी (बादरायण भगवान्) श्री गुरु के गुणों का गायन करते हैं। निश्चय के साथ गुरु-गुणों का गायन करते हैं कि- 'ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान बिना गुरु के प्राप्त नहीं होता, यह निश्चय कर के कहते हैं कि-बिना गुरु कृपा के ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता (अतः तू भी इनके सरीखा ही निश्चय प्राप्त कर) तेरे आवरणादि सब दोष दूर होंगे।

हे प्रणवरूप प्रिय आत्मा! मुक्त हो! मुक्त हो! मुक्त हो!

---

(४) श्लोकः- दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरोः करुणाबिना।।

भावार्थः- सद्गुरु की कृपा हुए बिना विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्व दर्शन होना भी र्लभ है और सहजावस्था कि-जो उत्तमोत्तम अवस्था गिनी जाती है, वह प्राप्त होना दुर्लभ है। तात्पर्य कि गुरु-भगवान् की कृपा होवे तो ही उन की महिमा जानी जा सके, तथा उत्तम स्थिति प्राप्त की जा सके।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्धयाऽसूयेत, सर्वदेवमयो गुरुः।।

अर्थात्:- (भगवान् कहते हैं) गुरु मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मानना। उनकी कभी अवगणना नहीं करना। मनुष्य बुद्धि से उनके प्रति अवमान की दृष्टि करना नहीं, क्योंकि गुरु में सर्वदेवों का वास है। (वेद-व्यास)

श्लोकः- गुरुं यो मानवैरन्यैः समं पश्यति मोहतः।
न तस्यास्मिन्भवेल्लोके, सुखं नैव परत्र वा।।

भावार्थः- जो पुरुष प्रमाद करके ब्रह्मविद्या के उपदेश करने वाले गुरु को दूसरों के सरीखा (साधारण प्राणी) देखता है, उसको इस लोक तथा परलोक में सुख नहीं होता वरन् दुःख होता है।

- (पुराण)

ॐ विषम दृष्टि होय अङ्ग[५], शून्य गुरु गुरु-पद[५] से,
ॐ शून्य गुरु गुरु-पद से। दंभि सकामी जाण,
ॐ दंभि सकामी जाण, तज कर दृढ़ सत्संग[६]।।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।३।।

भावार्थः- हे शिष्य! यदि गुरु की विषम दृष्टि होवे तो वह गुरु, गुरु पदवी के अयोग्य है। दंभी (अर्थात् यथार्थ तत्त्वदर्शी न होते हुए भी अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' का ढोंग करता हो) तथा-सकामी (जो किसी भी प्रकार की सांसारिक कामनााओं से लिप्त हो) ऐसों को छोड़कर, अथवा इन दुर्गुणों की उपेक्षा करके केवल सत् उपदेश प्राप्त करने को दृढ़ सत्संग कर, सद्गुरु के आश्रय तथा सत्संग के प्रताप से तेरा अज्ञानावरण दूर होगा।

हे प्रणव रूप प्रिय आत्मा! मुक्त हो! भुक्त हो! मुक्त हो!

---

(५) (अ) श्लोकः-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

भावार्थः- अविद्या के अन्दर रहकर भी जो अपने को धीर और पण्डित मान ब्रह्मज्ञानी बन बैठते हैं वे मूढ़ ठोकरें खाते हुए चक्कर लगाते हैं। अन्धों (अनधिकारी-शिष्यों) को राह बतलाने वाले, अन्धों (अनधिकारी गुरुओं) के समान दोनों दुर्गति धाम को पहुँचते हैं।

- (मुण्डकोपनिषद्)

श्लोकः-

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि,
मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य।
एतद्गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं,
रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रवष्टिम् ।।१।।

भावार्थः- श्रीस्वामी दत्तात्रेय जी कहते हैंः-

'बालकगुरु से, विषयी गुरु से, सेवक गुरु से, गृहस्थ गुरु से अर्थात्-इस तरह के जो

गुरु हैं, उनसे कुछ भी लाभ नहीं होता है,-ऐसा चिन्तन मत करो। किन्तु उनमें भी कोई न कोई गुण अवश्य होगा, उसी गुण का ग्रहण करके उनका त्याग कर दो। क्योंकि अपवित्र कीच आदि में जो हीरा पड़ा होता है, उस हीरे को कौन पुरुष त्याग कर देता है? अर्थात् हीरे का ग्रहण करके जैसे कीच का कोई त्याग कर देते हैं, तैसे ही जिस किसी से भी गुण मिल जावे उसी से गुण को ग्रहण कर लो। अवगुणों में दुर्लक्ष न करो।

श्लोकः- **नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो,**
ग्राह्यः पर गुणवता खलु सार एव।
सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान्।।२।।

भावार्थः- दत्तात्रेयजी कहते हैं कि-

किसी भी गुरु में काव्यादि गुणो का चिंतन नहीं करना कि-गुरु ने काव्य कोषादिकों को पढ़ा है वा नहीं पढ़ा है किंतु गुणों वाले गुरु में ज़ो सारवस्तु हो, उसी को ग्रहण कर लेना और सब असार वस्तुओं का त्याग कर देना उचित है। इसमें एक दृष्टान्त कहते हैं-इस लोक में जैसे सिन्दूर से चित्रित, सुन्दर नौका नदी के पार कर देती है, तैसे ही सिन्दूर के चित्रों से रहित और कुरूप नौका भी क्या पार नहीं कर देती? अवश्य पार कर देती है।

इसी प्रकार सारभूत गुण की आकाँक्षा करे। चाहे उत्तम जाति वाले से मिले, चाहे कनिष्ठ जाति वाले से मिले, वह गुण ही संसार से पार कर देता है।

(अवधूत गीता अ. २ श्लोक१-२)

(ब) दोहाः- **सकल सृष्टि गुण दोष मय, विश्व कीन निर्धार।**
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार।।

- (तुलसीदास)

(६) सत्-संग महिमा- भगवान् शंकर पार्वतीजी से कहते हैंः-

दोहाः- **गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।**
बिनु हरि कृपा सो होइ नहिं, गावहिं वेद पुराण।।१।।

- (तुलसीदास)

चौ. अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिनुहरि कृपा मिलहि नहिं संता।।

-तुलसीदास

दोहाः- सुन शिष उत्तम सीख को, जो चाहत निज श्रेय।
जग बन्धन इच्छित मुध्यो, तो सत्संग करेय।।१।।

गहे छछूंदर अहि मरे, तजै दृगन की हान।
जल पाये सुख होत है, नर सत्संग प्रमान।।२।।

सत्संगति सुख पलक जो, मुक्त न तासु समान।
ब्रह्मादिक इन्द्रादि भू, निपट अल्प ये जान।।३।।

जगत् मोह फाँसी अजर, कटे न आन उपाय।
जे नित सत्संगत करत, सहज मुक्त हो जाय।।४।।

कामधेनु अरु कल्प तरु जो सेवत फल होय।
सत्संगति छिन एक में, प्रानी पावे सोय।।५।।

पारस में अरु सन्त में, बड़ा आन्तरो जान।
वह लोहा कंचन करे, यह करे आप समान।।६।।

ब्रह्मादिक देवा सकल, तिन भजि जो फल होत।
सत्संगत में सहज ही वेगहि होत उद्योत।।७।।

मुक्ति करन बन्धन हरन, बहुत यतन जग भव्य।
पे यह कोटि उपाय तजि, सत्संगति कर्तव्य।।८।।

-(ज्ञानमाला)

ॐ गुरु[7] देवन के देव, है राजन पति राजा,
ॐ है राजन पति राजा। अधिकारी जनों बोध,
ॐ अधिकारी जनों बोध, खरो निज मति[8] धारो।
ॐ जय जय जय गुरुदेव।।४।।

भावार्थः- हे शिष्य! श्री सद्‌गुरुदेव प्रणवरूप परमात्मा देवाधिदेव महादेव और राजाधिराज-विष्णु दोनों के पति, पूर्णब्रह्म, पुरुषोत्तम-नित्य आनन्द स्वरूप हैं और वही तेरा निज-आत्मा है। है जनो! अधिकारी बनकर 'सत्यज्ञान' को अपनी बुद्धि में धारण करो-अन्तःकरण में ठसाओ। हे अधिकारो जनो! निश्चय करो कि 'सत्यज्ञान से ही तुम्हारा अज्ञान दूर हो' तुम्हारा कल्याण होगा-गुरुदेव भी यही चाहते हैं कि-इस ज्ञान-अज्ञान के युद्ध में-

हे प्रणवरूप प्रिय आत्मा! तेरी जय हो! जय हो! जय हो!

---

(७) (अ) ॐ ईशानः सर्व विद्यानामीश्वरः सर्व भूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदा शिवोम्।।

-(यजुः)

भावार्थः- वह प्राणरूप परब्रह्म गुरु की समस्त विद्याओं की उत्पत्तिका मूल कारण एवं समस्त विद्याओं द्वारा वह ही ज्ञातव्य है। वह ही ईश्वररूप से समस्त जगत् का पालक, ब्रह्मा रूप से उत्पादक, तथा-शिव रूप से संहारक होता हुआ भी सब से पर, नित्य-आनन्दमय है। हे प्रणव ब्रह्मरूप गुरुदेव! आप नित्यानंद हैं, मुझे भी नित्य (अविनाशी) आनन्द में लय कर लीजिए।

(ब) स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

- (योगसूत्र)

भावार्थः- पूर्व में जो ब्रह्मा, विष्णु शिव हुए, वह काल के अधीन-उत्पत्ति और प्रलय वाले हुए और होते हैं। उनका भी मूल परब्रह्म गुरु है, क्योंकि यह काल के आधीन वा काल परिणामसंयुक्त नहीं है।

(स) कृष्णंवन्दे जगद्‌गुरुम्।

भावार्थः- जो कृष्ण, अर्थात्-उत्पत्ति और लय से रहित हैं ऐसे जगद् गुरु को मैं वन्दना करता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः।।
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।

भावार्थः- हे गुरुदेव वासुदेव! आप इस स्थावर जंगमरूप समस्त जगत् प्राणीमात्र के उत्पन्न करने वाले पिता हैं। केवल पिता ही नहीं, पूज्यनीय भी हैं, क्योंकि आप बड़े से बड़े गुरु हैं-आप कैसे गुरुवर हैं? (सो अर्जुन बतलाता है)ः-

हे अप्रतिम प्रभाव! सारी त्रिलोकी में आप के समान दूसरा नहीं है, क्योंकि ईश्वर दो नहीं हो सकते, कारण अनेक ईश्वर मान लेने से व्यवहार सिद्धि नहीं हो सकती। जबकि सारे त्रिभुवन में आप के समान ही दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है?

जिससे किसी वस्तु की समानता की जाय उसका नाम 'प्रतिमा' है। जिन आपके प्रभाव की कोई प्रतिमा नहीं है वह आप अप्रतिमप्रभाव है। इसलिए हे अप्रतिमप्रभाव! अर्थात् हे निरतिशय प्रभाव! (कहता हूँ) जबकि यह बात हैः-

इसलिए मैं अपने शरीर को भली प्रकार नीचा करके अर्थात्- आपके चरणों में रखकर प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप शासनकर्ता ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ, अर्थात् आपसे अनुग्रह चाहता हूँ। जैसे पुत्र का समस्त अपराध पिता क्षमा करता है तथा जैसे मित्र का अपराध मित्र अथवा प्रिया का अपराध प्रिय (पति) क्षमा करता है- सहन करता है, वैसे ही हे देव! आपको भी (मेरे समस्त अपराधों को सर्वथा) सहन अर्थात् क्षमा करना उचित है।

(श्रीमद्भगवद् गीता अ. ११/४३-४४)

(८) श्लोकः- श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।।

- (भर्तृहरि)

भावार्थः- जो बात करोड़ों ग्रन्थों में बताई गई है वह आधे श्लोक में कहता हूँ कि-ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, तथा जीव और ब्रह्म एक ही है'।

-''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''। (यजुः)

भावार्थः- उस ब्रह्म को जानकर ही मनुष्य अमृत (मोक्ष) पद प्राप्त करता है, इसके अतिरिक्त अन्य और कोई मार्ग नहीं हैं।

निदिध्यासन के पन्द्रह अंग।

श्री भगवान शंकराचार्य अपने अनुपम ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में आज्ञा करते हैं, "अब मैं पूर्वोक्त (ज्ञान निष्ठा) की प्राप्ति के लिए पन्द्रह अंग बतलाता हूँ। उन सबसे सर्वदा निदिध्यासन (अभ्यास) करना चाहिए। निरन्तर अभ्यास किए बिना सच्चित्-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः जिज्ञासु को चाहिए कि कल्याण प्राप्ति के लिए चिरकाल एक ब्रह्म का चिन्तन करे। यम, नियम, त्याग, मौन, देशकाल, आसन, मूल बन्ध, देह की समता, नेत्रों की स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, और समाधि-क्रम से पन्द्रह अंग बतालए गए हैं। 'सब ब्रह्म ही है' ऐसे ज्ञान से इन्द्रियों का वशीभूत हो जाना यम कहलाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। सजातीय का तिरस्कार इसी का परमानन्द रूप नियमपूर्वक पालन करते हैं। प्रपञ्च को चेतन स्वरूप देखने से उसके रूप का त्याग न करना ही महान् पुरुषों का वन्दनीय त्याग है क्योंकि वह तुरन्त मोक्ष देने वाला है। जिसे न पाकर मन सहित वाणी लौट आती है? और उस (ब्रह्म) का भला कौन वर्णन कर सकता है? और यदि प्रपञ्च को ही वक्तव्य (शब्द का विषय) माने तो वह भी शब्द रहित है। अतः सत्पुरुषों का दूसरा स्वाभाविक मौन यह (प्रपञ्च का शब्दत्व) भी हो सकता है। ब्रह्मवादियों ने वाणी का मौन तो मूर्खों के लिए बतलाया है।

जिसमें आदि अन्त और मध्य में कोई भी जन नहीं है तथा जिससे यह जगत निरंतर व्याप्त है वही देश जन शून्य कहा गया है।

ब्रह्म आदि समस्त भूतों की एक पल में ही कल्पना करने के कारण अद्वितीय अखण्डानन्द रूप ब्रह्म ही कारण शब्द से कहा जाता है। जिस अवस्था में सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म चिन्तन हो सके उसे ही आसन जानना चाहिए। दूसरे सुख नासक आसन आसन नहीं है। जो समस्त भूतों का आदि कारण है, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान है और जिसमें सिद्धजन स्थित रहते हैं उसे ही सिद्धासन समझना चाहिए। जो समस्त भूतों का मूल है और जिसके आश्रय से चित्त स्थिर किया जाता है, उस मूल बन्ध का सदा सेवन करना चाहिए यह राज योगियों का योग है। जिस समय चित्त सम ब्रह्म में लीन हो जाय उसी समय अंगों की समता समझनी चाहिए। सूखते वृक्ष के समान अंगों की निश्चलता का नाम समता नहीं है। दृष्टि को ज्ञानमयी करके संसार को ब्रह्ममय देखे। यह दृष्टि अति उत्तम है, नासिका के अग्र भाग को देखने वाली नहीं। जहाँ द्रष्टा दर्शन और दृश्य (इस त्रिपुटी) का अभाव हो जाता है वहीं दृष्टि करनी चाहिए, नासिका के अग्र भाग पर नहीं। चित्तादि समस्त भावों में ब्रह्म रूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। वही प्राणायाम कहलाता है।

प्रपञ्च का निषेध करना रेचक-प्राणाम है और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी ही जो वृत्ति है वह-

पूरक प्राणायाम कहलाता है। फिर उस (ब्रह्माकार) वृत्ति की निश्चलता की कुम्भक-प्राणायाम है। जाग्रत पुरुषों के लिए तो यही क्रम है, अज्ञानियों के लिए घ्रणमीडन ही प्राणायाम है।

विषयों में आत्मभाव करके मन को चेतन में डुबा देने को ही प्रत्याहार जानना चाहिए। मुमुक्षुजन इसी का अभ्यास करें।

मन जहाँ-जहाँ जाय वहीं-वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा मानी गई है 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस सद्‌वृत्ति से जो परमानन्द दायिनी निरालम्ब स्थिति होती है, वही ध्यान शब्द से प्रसिद्ध है। निर्विकार तथा ब्रह्माकार वृत्ति नें जो पूर्णतया वृत्ति हो जाती है वही ज्ञान समाधि है।

इस प्रकार इस स्वाभाविक आनन्द का तब तक भली प्रकार अभ्यास करे जब तक कि चित्त को लगाने पर एक क्षण में ही वह अपने वशीभूत न हो जाय।

फिर वह योगीराज सब साधनों से छूटकर सिद्ध हो जाता है। वही उसका स्वरूप है। वह किसी एक के मन या वाणी का । विषय नहीं है।

समाधि के विघ्नः-

समाधि का अभ्यास करने पर अनुसन्धानराहित्य आलस्य, भोग, वासना, लय, तम, विक्षेप, रसास्वाद और शून्यता आदि विघ्न बलात्कार से अवश्य आते हैं। इस प्रकार जो जो विघ्न आते हैं, ब्रह्मवेता को उन्हें धीरे-धीरे त्यागना चाहिए। (समाधि के समय) भाव वृत्ति रहने से भावत्व, शून्य वृत्ति रहने से शून्यत्व और पूर्ण वृत्ति रहने से पूर्णत्व की प्राप्ति होती है। अतः पूर्णत्व का अभ्यास करें।

ब्राह्मी वृत्ति का महत्वः-

जो लोग इस परम पवित्र ब्राह्मी वृत्ति का त्याग करते हैं वे वृथा ही जीते हैं तथा वे पशुओं के समान हैं और जो जान कर उसे बढ़ाते भी हैं वे ही सत्पुरुष हैं; तथा वे ही त्रिलोकी में धन्य और वन्दनीय भी है। जिनकी यह ब्राह्मी वृत्ति बढ़ी हुई और परिपक्व होती है वे ही अति श्रेष्ठ भाव को प्राप्त होते हैं 'नेतरे शब्द वाहिनः' केवल शब्द से ही कहने वाले अन्य पुरुष नहीं।

कुशला ब्रह्म वार्तायां वृत्ति हीन सुरागिणः।
ते ह्यज्ञानि तमा नूनं पुनरा यान्ति यान्ति च।।

अर्थात्:- जो ब्रह्मवार्ता में कुशल हैं किन्तु ब्राह्मी वृत्ति से रहित और राग युक्त हैं निश्चय ही वे अत्यंत अज्ञानी हैं और बारंबार जन्मते मरते रहते हैं।

- ब्रह्मादिलोकपालों, सनकादि सिद्धों और शुकदेवादि परम हंसों के समान वे आधे पल को भी ब्रह्ममयी वृत्ति के बिना नहीं रहते।

वृत्ति ज्ञान का साधन

कार्य में कारण अनुगत होता है, कारण में कार्य अनुगत नहीं होता। अतः विचार करने से कार्य का अभाव होने के कारण-कारण की कारणता भी नहीं रहती इस प्रकार जो वाणी का अविषय है वह वस्तु शुद्ध है। इसका बारंबार मिट्टी और घड़े के दृष्टांत से ही विचार करना चाहिए। इसी प्रकार से वृत्ति ब्रह्मात्मिका हो जाती है और फिर उन शुद्ध चित्त पुरुषों के अन्तःकरण में वृत्ति ज्ञान उदय होता है। पुरुष को चाहिए कि पहले वह कारण (कार्य से) अलग करके देखे। पीछे वह सर्वदा उसे कार्य में अनुगत रूप से देखने लगता है। पहिले कार्य में कारण को देखे और फिर कार्य की त्याग दे। इस प्रकार कारणता का नाश हो जाता है और मुनि (कार्य कारणता से रहित) अवशिष्ट रूप हो जाता है। जिस वस्तु का निश्चयपूर्वक तीव्र वेग से चिन्तन किया जाता है, पुरुष तुरन्त वही हो जाता है। यह बात भृङ्गी कीड़े के दृष्टांत से जाननी चाहिए।

यह संपूर्ण जगत् अदृश्य भावरूप चेतनमय है। इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष सावधान होकर नित्य अपनी आत्मा का चिन्तर करें।

विद्वान को चाहिए कि दृश्य को अदृश्य करके उसका ब्रह्मरूप से चिन्तर करे और चिद्रस पूर्ण बुद्धि से नित्य सुख में मग्न रहे।

एभिरंगैः समायुक्तो, राजयोग उदाहृतः।
किञ्चित्पक्क कषायाणां हठयोगेन संयुतः।।
परिपक्वं मनोयेषां केवलोयं च सिद्धिदः।
गुरु दैवत भक्तानां सर्वेषां सुलभोजवात्।।

इन सब अंगों से युक्त योग का नाम राजयोग है जिनकी वासनाएँ कुछ कम क्षीण हुई होती हैं, उन्हें यह हठ योग सहित और जिनका चित्त परिपक्व (वासना हीन) होता है उन्हें अकेला ही सिद्धि देने वाला होता है। यह सभी गुरु और ईश्वर के भक्तों को तुरंत सुगमता से प्राप्त हो सकता है।

अपरोक्षानुभूति- (श्लोक १००/१४४)

वसिष्ठ देव ने भी श्रीराम से यही कहा हैः-

दुःसप्ता राम संसार विषवेग विषूचिका।
योग गारुड़ मंत्रेण पावने नोपशाम्याति।।

अर्थात्:- हे राम! यह संसार रूपी विषवेग विषूचिका अत्यंत दुःसह है। केवल परम पावन योगाभ्यास रूप गारुड़ मंत्र के द्वारा ही उसका उपशमन किया जा सकता है।

-(योग वासिष्ठ)

चारों वरण समानः-

देवर्षि नाद अपने भक्ति सूत्र में आज्ञा करते हैंः-

नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेदः-

अर्थात् उनमें (भक्तों में) जाति विद्या रूप कुल धन और क्रियादि का भेद नहीं है।

सूत्रकार यहाँ यह समझाते हैं कि भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि की प्रधानता नहीं है। ब्राह्मण हो या शुद्र, पढ़ा लिखा हो, या बेपढ़ा लिखा, सुन्दर हो या कुरूप, ऊंचे कुल का हो या नीच कुल का, धनवान हो या दरिद्र और बहुत क्रियाशील हो या अक्रिय। जो अपना सर्वस्व प्रभु पर न्योछावर कर सतत् उनका प्रेमपूर्वक स्मरण करने में अपने चित्त को तल्लीन कर देता है उसी को भक्ति रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है। निषाद का जन्म नीच जाति में हुआ था। सदन कसाई थे, शबरी गंवार स्त्री थीं। ध्रुव अपढ़ बालक थे। विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे। विदुर और सुदामा निर्धन थे। गोपीजन क्रिया हीन थीं परन्तु इन सबने भक्ति और प्रपत्ति के प्रताप से भगवान् का प्रेम प्राप्त किया और भगवान् के परम प्रिय हो गए। सर्व सत्कर्मों की फल रूपा भक्ति जिसके हृदय में है वही भक्त है, वही सर्व गुण संपन्न है। फिर चाहे वह कोई हो। यही बात भी श्रीरामचरितमानस में कही गई हैः-

सोई सर्वज्ञ गुनी सोई दाता।

सोई महि मण्डित पण्डित ज्ञाता।।

धम्म परायण सोई कुल त्राता।

राम चरण जेहिकर मन राता।।

नीतिनिपुण सोई परम सयाना।

श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना।।

सोई कोबिद सोई रण धीरा,

जो छलु छाड़ि भजई रघुबीरा।।

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता।

मानउ एक भगति कर नाता।

जाति पाँति कुल धरम बड़ाई।

धन बल परिजन गुनचतुराई।।

भगति हीन नर सोहइ कैसे।।

बिनु जल वारिद देखिए जैसे।।

सत्संगः-

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गाँस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति।।४६।।

(नारदभक्ति सूत्र)

प्रश्नः- कौन तरता है (दुस्तर) माया से कौन तरता है?

उत्तरः- जो सब संगों का परित्याग करता है, जो महान् भावों की सेवा करता है और जो ममता रहित होता है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैः-

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
संतो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ़े वाप्सु मज्जताात्।।

११/३६/३२

अर्थात्ः- जल में डूबते हुए लोगों के लिए दृढ़ नौका के समान इस भयंकर संसार सागर में गोते खाने वालों के लिए ब्रह्म वेत्ता शान्त चित्त संतजन ही परम अवलम्बन हैं।

महानुभाव संतों की सेवा से पाप-ताप और मोह अनायस ही दूर हो जाते हैं।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा

११/२६/३१

जिस प्रकार भगवान् अग्निदेव का आश्रय लेने पर शीत भय और अन्धकार तीनों का नाश हो जाता है उसी प्रकार संत पुरुषों के सेवन से पाप रूपी शीत, जन्म मृत्युरूपी भय और अज्ञान रूपी अन्धकार ये कोई भी नहीं रहते।

निर्मल हरि भक्ति की प्राप्ति के लिए तो महापुरुषों की चरण सेवा ही प्रधान है। श्रीमद्भागवत् में भक्तराज प्रह्लाद और ज्ञानी प्रवर अवधूत शिरोमणि जड़ भरत के वचन हैं-

नैष मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि

स्पृशत्य नर्था पगमों मदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनीतांन वृणीत यावत्।।

भा- (७/५-३२)

रहूगणेतत्तपसा न याति,

नचेज्यया निर्वयणाद् गृहाद्वा।

नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्येः

र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।।

भा- (५/१२/१२)

प्रह्लाद कहते हैं कि 'हे पिता जिन भगवान श्रीहरि के चरणों का स्पर्श समस्त अनर्थों की निवृत्ति करने वाला है। उन श्री हरि के चरणों में तब तक प्रेम नहीं होता जब तक अकिञ्चन साधु महान पुरुषों की चरण धूलि से मस्तक का अभिषेक न किया जाय।

महात्मा जड़ भरत राजा रहूगण से कहते हैं।

'हे रहूगण! यह भगवत्तत्व का ज्ञान और भगवत्प्रेम तप यज्ञ दान गृहस्थाश्रम द्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल अग्नि एवम सूर्य की उपासना से नहीं मिलता। यह तो महापुरुषों के चरणों की धूलि में स्नान करने से अर्थात् उनकी चरण सेवा से ही मिलता है।''

दुःसङ्ग सर्वथैव त्याज्यः।।४३।।। - **(नारदीयसूत्र)**

दुःसंग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिए।

जिस प्रकार सत्संग से भगवत् कथा, भगवच्चर्चा भगवन्नाम, भगवत् प्रीति सदाचार, शास्त्र विवेक वैराग्य तत् अभ्यास सेवा सरलता नम्रता, निरभिमानता और शान्ति आदि के प्रति प्रवृत्ति होती है और मनुष्य सदाचार परायण परम भक्त बन सकता है। उसी प्रकार इसके विपरीत दुःसंग विषय वार्ता जग चर्चा लोक निंदा, भोग, प्रीति, दुराचार, उच्छृङ्खलता, अविवेक, विषय लोलुपता, निर्दयता, हिंसा, असत्य, इन्द्रिय लम्पटता, अभिमान और अशांति आदि के प्रति

प्रवृत्त होकर मनुष्य पापपरायण और अत्यन्त विषयासक्त हो जाता है। दुःसंग से आसुरी संपत्ति के सभी दुर्गुण और दुराचारों का विकास और विस्तार होता है। दुःसंग से मनुष्य के समस्त सद्‌गुणों का विनाश होकर उसका सर्वनाश हो जाता है। परम सुशीला स्नेहमयी प्रेम-प्रतिमा देवी कैकई मन्थरा की कुसंगति के कारण ही महाराज दशरथ के, भरत के, अपने और तमाम अयोध्या वासियों के परम शोक का कारण बनी थी और इसीसे उन्हें अन्त में दुःखप्रद वैधव्य का सहन करना और प्राणप्रिय भरत का अप्रीति भाजन होकर रहना पड़ा था। शकुनि की कुसंगति ही महाभारत के भयानक संहार में एक प्रधान कारण हुई। श्रीमद्‌भागवत् में भगवान् कपिलदेव माता देवहूति से कहते हैंः-

जो मनुष्य शिश्नोदर परायण (स्त्री और धन में ही आसक्त) नीच पुरुषों का संग करके उनके अनुसार अवनति करने लगता है वह उन्हीं की भांति अन्धकारमय नरकों में जाता है- क्योंकि दुष्ट संग से सत्य, पवित्रता, दया, मननशीलता, बुद्धि, लज्जा, श्री, कीर्ति. क्षमा, मन का वश में रहना, इन्द्रियों का वश में रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्त चित्त मुर्ख, नष्टबुद्धि स्त्रियों के हाथके खिलौने बने हुए शोचनीय असाधु दुष्ट मनुष्यों का संग कभी नहीं करना चाहिए। -(३०-३१-३२-३४)

मोक्षस्य कांक्षा यदि वैतवास्ति,

त्यजति दूराद्विषयान्विषं यथा।

पीयूषवत्तोषदया क्षमार्जव

प्रशान्त दान्तीर्भज नित्य मादरात्।।

अर्थः- हे मनुष्य! तुझे जो मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा होय तो विषयों को विष के समान मानकर दूर ही से त्याग कर और संतोष, दया, क्षमा, आर्जव, शान्ति और दान्ति को आदर से अमृत सरीखी मानकर सेवन कर।

सप्तज्ञान भूमिकाः-

ज्ञानभूमिः शुभेच्छास्यात्

प्रथमा समुदीरिता।

विचारणा द्वितीया तु

तृतीया तनुमानसा।।

सत्वा पतिश्चतुर्थी स्यात्

ततोऽसंसक्ति नामिका।

पदार्थ भावना षष्ठी

सप्तमी तुर्यगास्मृता।।

* * * * * *

विषय विषे भई द्वेषता,

गुरु तीरथ अनुराग।

ताते शुभ इच्छा करी,

कथा श्रवण मन लाग।।

भगवत्, रति, गति आनमति,

प्रेमयुक्त नित चित्त।

गुण गावत पुलकित हृदय,

दिन दिन सुरस सुहिता।।

दूजी कही विचारणा

उपजो तत्व विचार।

एकान्त ह्वै शोधन लग्यो

कोऽहं को संसार।।

तनु मानसा सु तीसरी

मन को प्रत्याहार।

थिर ह्वै शुद्ध स्वरूप की

राखै नित संभार।।

चतुर्थी सत्वापति यहै,

अनुभव उदय अभंग।।

आत्मा जग दर्स्या मलै,

ज्यों मध सिन्धु तरंग।।

छूट्यो तन अभिमान जब,

निश्चय कियो स्वरूप।

असंसक्ति यह भूमिका,

पंचम महाअनूप।।

कहे पदारथ बुद्धि लो,

सब को होई अभाव।

यहै पदारथ भावनी

सृष्टि भूमि लखाव।।

भावभाव न तहां कछु,

सप्तम अतुष्यौ माहिं।

मैं तूं तहां न संभवै,

कहा अहै कह नाहिं।।

* * * * * *

ॐ नमः सभाभ्य सभापतिभ्यश्चवो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्चवो नमो नमः आव्याधिनीभ्यो विविद्धयन्तीभ्यश्चवो नमो नमः उगणाभ्यस्तृँहतिभ्यश्च वो नमः।।

- यह विश्व जगत् (ब्रह्माण्ड) सभामंडप है, जिसका शामियाना आकाश, बिछावन धरती, और नक्षत्र रोशनी है। इसमें विराट् सभा लगी है।

इस विराट् सभा के सभापति पर ब्रह्म परमात्मा शिव हैं जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान्, सर्व हितकारी, अलख, अगोचर, अज, अविनाशी, अचिंत्य, समस्त विद्याओं के भंडार, सच्चिदानन्द और अनंत विश्वों के नियन्ता हैं। यह सारी सभा उनके अधीन है।

- (यजुः)

गुरु माता गुरु तात् गुरु बन्धु निज गात,

गुरुदेव नख शिख सकल सँवारयो है।

गुरुदिये दिव्य नैन, गुरु दिए मुख वैन

गुरुदेव श्रवण दे सबद उचार्यों है।।

गुरु दिए हाथ पांव गुरु दिए शीश भाव,

गुरुदेव पिण्डमाहिं प्राण आइ डारयो है।

सुन्दर कहत गुरुदेव जु कृपालु होइ

फेरि घाट छेड़ि कहिं, मोहिं निस्तार्यों है।।

* * * * * *

कोउ देत पुत्र धन कोउ देत बल धन

कोऊ देत राज साज देव ऋषि मुन्यो है।

कोऊ देत यश मान कोउ देत रस आन,

कोऊ देत विद्याज्ञान जगत में गुन्यो है।।

कोउ देत ऋद्धि सिद्धि कोउ देत नव निधि,

कोऊ देत और कछु ताते शीश धुन्यो है।

सुन्दर कहत एक, दियो जिन राम नाम,

गुरु सो उदार कोउ देख्यो है ना सुन्यो है।।

* * * * * *

सद्गुरु-लक्षण

छप्पय छंद

उदधि तुल्य उदार क्षमा क्षिति जेवी जेने
सौभरि मुनि सम दया शील रघु जेवुं तेने
वायू सम निर्लेप मेघ सम पर उपकारी
हरिश्चन्द्र सम सत्य धर्म जेव व्रतधारी
निर्लोभी निर्वेद दृढ़ कर्मनिष्ठ ज्ञानी घणा
छोटम शोभे सर्वमां एवा गुण छे गुरु तणा।।१।।

शुभ गुण केरू सदन, वचन बोले मृदुवाणी
सदाचार संयुक्त भजे जग कर्ता जाणी
समजण सहुथी श्रेष्ठ वीर अतिधीर विचक्षण
बोध करे बहुविध्य बुद्धि जेनी अति तीक्ष्ण
ते शुद्ध मार्ग साचा कहे भांति भंग क्षणमां करे
जन छोटम एवा सद् गुरु ते तारे आपे तरे।।२।।

हित सर्वनु होय एम अन्तर मां इच्छे।
सुख पामें सहुकोय ब्रह्मनो महिमा प्रीछे
आलोक जय एम पार पामें परलोक
खारे कुशल ने खेम रजे कोई न रोके
भव मां एवा गुरु भला, अभय दान आए सही
ते कुमार्ग ना कीच थी, छोटम कहाड़े कर ग्रही ।।३।।

बहु प्रकारे बोध शिष्य से शुभ समजावे
नहिं कंई बैर विरोध तुच्छ गुण सर्व तजावे
भारे आवे भेद वेद आदिक सहु विद्या
जणावे विधि निषेध उछेदे सर्व अविद्या
पशु बुद्धि प्राणी तणी गुरु सुधारे ज्ञान थी
छोटम सुख पामें सदा परमेश्वर ना ध्यान थी।।४।।

दोहा।

शाणासज्जन सहु कहे, गुरु गोविंद समान।
ते साचुं करि मानिये जे छे पूरण ज्ञान।।१।।

गूढ़ रूप गोविंद नुं, प्रकट जणावे तेह।
शिव देखाड़े जीव ने शमे सर्व संदेह।।२।।

वे मोटा सहु थी सरस, दुनिया मां दातार।
बपुधारी ने विचरे करवा पर उपकार।।३।।

वारिद जल वृष्टी करे हेर तृषा ने ताप।
ज्ञान गुरु मुख थी झरे आप शान्ति अमाप।।४।।

काल पारधी जीव मृग महामाया नी जाल।
कावी ने अलगी करे देखी गुरु दयाल।।५।।

कलग्यो कर्म ना कीचमां, कोटि कल्प थी जंत।
काढ़े त्यांथी करग्रही, भेटे गुरु भगवंत।।६।।

इन्द्रजाल ईश्वर तणी जोताजीव ववाय।
गुरु ज्ञान अंजन करे, झूठी सद्य जणाय।।७।।

काल व्यालना गाल मो चौदे लोक चवाय।
लहर चढ़ छे झेरनी निज घर भूली जवाय।।८।।

मलो गरु जो गारुड़ी, झट्ट उतारे झेर।
निजबपु देखे निर्मलु सिंचे अमृत सेर।।९।।

नीति रीति शीखवे सुधरे जेथी शीश।
पापन परसे पिंडमां ते पामे जगदीश।।१०।।

मोक्ष पामवा आदरे, धारे मोटी हाम।
मोटा गुणो ने जई मले कोई दिन सुधरे काम।।११।।

नीचा गुण होय नरविषे करे नीचते काम।
ऊंचा गुण भी ऊंच पद पामे उत्तम ठाम।।१२।।

आडंबर जोई उपल्यो जो गुरु करवा जाय।
रूपू माने छीपने, पण अंते पस्ताय।।१३।।

जो कोई राखो जगत् मां प्रभु मलवानी आश।
ता गुरु कर जो अनुभवी कापै भवनो पाश।।१४।।

वाचक गुरु वाचा बले दृढ़ करवा निज पक्ष।
बाद शीखवे शिष्यने नमले साचो लक्ष।।१५।।

जाय बह्या जाण्या, बिना जूठा मारग जीव।
सद्‌गुरु जो सांचा मले तो ओ लखावे शीव।।१६।।

सांचाने झूठा सकल, वाणी थी वरताय।
तोल करे जो बोलनो तरत परीक्षा थाय।।१७।।

बकरी ते बें बें कहे सिंह कहे हुँकार।
एकज अक्षर ऊचरे पणतेमा बहुभार।।१८।।

सिंह तणा हुँकार थी हाथी डरे हजार।
कोई नो उर भेदे नहीं बकरां बके अपार।।१९।।

शब्द सांभले सिंह जो होय सिंह नु बाल।
भड़कीने भागे पशु पड़े पेटमां फाल।।२०।।

कपट पन्थनो प्रलय करे, एज शब्द निर्वाण।
पाखंडी पशु जीवनो, सुणता छटके प्राण।।२१।।

शब्द सुणी अनुभव तणो, कंपे माया काल।
आवंतो उरमा ग्रहे, जो हाय गुरु ना बाल।।२२।।

जो रुचि आवे जीवने तेवा गीतां गाय।
श्रृङ्गार रसने सांभली, पामर राजी थाय।।२३।।

कुटिल गुरु कलिमां घणा, बोधे रोचक बोध।
पामर तेना पंथना, करी शके नहीं शोध।।२४।।

छोटम एवा गुरु कर्ये, कोय न पामें पार।
नाम लेई श्रीकृष्णनु कथे कथामां जार।।२५।।

।।तत्सत्।।

"गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः।

गिरत्याज्ञानमिति गुरुः

गीयते यद्वा स्तूयते देव गन्धर्वादि मि इति गुरुः।

भावार्थः- यह है कि धर्म का जो उपदेश दे, अज्ञान रूपी तम का विनाश कर ज्ञान रूपी ज्योति से, जो प्रकाश करे, देव, गन्धर्वादि से जो स्तुत हो उन्हीं साक्षात् देव की संज्ञा गुरु हैं

(स) 'सर्व वेदान्त सिद्धान्त सार संग्रह' में भगवान शङ्कराचार्य भी स्वकीय स्वर्णाक्षरों द्वारा 'गुरु' शब्द का लक्षण अङ्कित करते हैं- ,

अविद्या हृदयग्रन्थिबन्धमोक्षो यतो भवेत्।
तमेव गुरु मित्याहुर्गुरु शब्देन योगिनः।।२५७।।

मनु महाराज कहते हैं:-

निषेका दीनि कर्माणि यः करोति यथा विधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरु रुच्यते।।२।।

श्लोकः- अनंत शास्त्रं बहुलाश्चविद्या
ह्यल्पश्च कालो बहुविघ्नताच।
यत्सार भूतं तदुपासनीयं
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात्।।

शास्त्र अनंत हैं, विद्या अनेक प्रकार की है और आयुकाल थोड़ा और वह भी बहुत विघ्नों से पूर्ण इनमें से सार सार जितना हो उतना ग्रहण करना जिस प्रकार कि हंस जल मिश्रित दूध में से दूध दूध ग्रहण कर लेता है।

श्लोकः- क्वचास्ति क्वचवा नास्ति क्वास्ति चैकं क्वान्यद्वयम्।
बहुनात्र किंमुक्तेन किञ्चिन्नो तिष्ठ ते मम।।

मैं आत्मस्वरूप हूँ इस कारण मेरे विषे अस्तिपना नहीं है, नास्तिपना नहीं है, एकपना नहीं है, द्वैतपना नहीं है, इस प्रकार कल्पित पदार्थों की वार्ता करोड़ों वर्ष पर्यन्त कहूँ तब भी पार नहीं मिल सकता। इस कारण संक्षेप से कहता हूँ कि मेरे विषे किसी कल्पना का भी आभास नहीं होता है। क्योंकि मैं एक रस चेतन स्वरूप हूँ।

(अष्टाबक्र गीता २०-१४)

बहुत से शास्त्रों की चर्चा से उपराम पाकर विवेकी को अन्तज्योंति की शोध करना चाहिए चारों वेद और सर्व शास्त्रों का अध्ययन करके भी जो ब्रह्मतत्व को जानते नहीं वे बहुविधि पकवानों में फिरने वाली करछी के समान हैं।

- (मुक्तिकोपनिषद्)

श्रीरामचन्द्र जी हनुमानजी के प्रति उनके प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं-इन वेदों में उपनिषद् स्थित हैं। ऋग्वेदादि चार वेद हैं ऋग्वेद की २१ शाखा हैं, यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद की सहस्र शाखा हैं और अथर्ववेद की ५० शाखा हैं। (किसी ग्रन्थ में २००० शाखा भी कही है) एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् है।

''माण्डूक्यमेक मेवालं मुमुक्षुणां विमुक्तये।
तथाप्य सिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।।''

मुमुक्षुओं को मोक्ष के लिए मांडूक्य उपनिषद् ही काफी है, उसके अध्ययन करने पर भी

जो ज्ञान सिद्ध न हो तो (१०) दस उपनिषदों को पढ़ो दशोपनिषद् से भी ज्ञान की दृढ़ता न होय तो ३२ उपनिषदों का अभ्यास करो। इतने पर भी अपूर्णता प्रतीत होती हो तो १०८ उपनिषदों को पढ़ो। - (मुक्तिकोपनिषद्)

* * * * * *

श्री अष्टाबक्रजी राजा जनक के प्रति कहते हैं-

''अहंममेति यो बन्धो नाहं ममेति मुक्तता''

-मैं ओर मेरा यही बन्धन है और मैं मेरा नहीं यही मुक्त पना है।

* * * * * *

रहनो सदा एकान्त को पुनि भजनो भगवंत।
कथन श्रवण अद्वैत को, यही मतो है संत।।

यही मतो है संत तत्व को चिन्तन करनो।
प्रत्यक ब्रह्म अभिन्न, सदा उर अन्तर धरनो।।

कह गिरधर कविराय, वचन दुर्जन को सहनो।
तजवे जन समुदाय देश निर्जन में रहनो।।

* * * * * *

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणंत गोरखरावं।।

गोरख कहै सुनहु रे अवधू जग में ऐसे रहना।
आखें देखिबा कानें सुणिबा, मुख थे कछू न कहना।।

नाथ कहै तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न कहना।
यहु जग है कांटे की बाड़ी, देखि दृष्टि पग धरना।।

* * * * * *

मन में रहना भेद न कहना, बोलिबा अमृत वाणी।
आगिका अगिनी होइबा अवधू, आपण होइबा पाणी।।

* * * * * *

भगवान श्रीरामचंद्रजी श्री लक्ष्मणजी को उपदेश प्रसंग में कहते हैंः- गुरु के समीप रहने से और वेद वाक्यों से आत्मज्ञान का अनुभव होने पर अपने हृदयस्थ उपाधि-रहित आत्मा का

साक्षात्कार कर के आत्मरूप से होने वाले देहादि संपूर्ण जड़ पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए।।४२।। - (आत्मचिंतन)

मैं प्रकाश रूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरंतर, भासमान, अत्यंत, निर्मल, विशुद्ध, विज्ञानधन, निरामय, क्रिया रहित और एकमात्र आनंदस्वरूप हूँ।।४३।।

मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्य शक्ति, अतीन्द्रिय, अविक्रित और अनंत अपार हूँ। वेद-वादी पंडितजन अहर्निश मेरा हृदय में चिन्तन करते हैं।।४४।।

इस प्रकार सदा आत्मा का अखंड वृत्ति से चिंतन करने वाले पुरुष के अन्तःकरण में उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरंत ही कारकादि से रहित अविद्या का नाश कर देती है। जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई औषधि रोग को नष्ट कर डालती है।।४५।।

(आत्म चिंतन करने वाले पुरुष को चाहिए कि) एकान्त देश में इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर और अन्तःकरण को अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मा में स्थित होकर और किसी साधन का आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हुआ केवल ज्ञान दृष्टि द्वारा एक आत्मा की ही भावना करे।।४६।।

यह विश्व परमात्मा स्वरूप है ऐसा समझ कर इसे सबके कारण रूप आत्मा में लीन करे, स प्रकार जो पूर्ण चिदानंद स्वरूप से स्थित हो जाता है उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता।।४७।। - (ओंकारोपासना)

समाधि प्राप्त होने के पूर्व ऐसा चिन्तर करें कि सम्पूर्ण चराचर जगत केवल ॐकार मात्र है। यह संचार वाच्य है और ॐकार इसका वाचक है। अज्ञान के कारण ही संसार की प्रतीति होती है, ज्ञान होने पर इसका कुछ भी नहीं रहता।।४८।।

(ॐकार में अ, उ और म ये तीन वर्ण हैं, इनमें से) अकार विश्व (जाग्रत के अभिमानी का) वाचक है, उकार तैजस (स्वप्न का अभिमानी) कहलाता है, और मकार प्राज्ञ (सुषुप्ति के अभिमानी) को कहते हैं यह व्यवस्था समाधि लाभ के पहिले की है, तत्त्व दृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है।।४९।।

नाना प्रकार से स्थित अकार रूप विश्व पुरुष को उकार में लीन करे और ॐकार के द्वितीय तैजस रूप उकार को उसके अन्तिम वर्ण मकार में लीन करे।।५०।।

फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकार को भी चिद्घन रूप परमात्मा में लीन करे, (और ऐसी भावना करे कि) यह (वह) नित्य मुक्त विज्ञान स्वरूप उपाधि हीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ।।५१।।

इस प्रकार निरंतर परमात्म भावना करते करते जो आत्मानंद में मग्न हो गया है वह नित्य आत्मानंद का अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरंग समुद्र के समान साक्षात् मुक्त स्वरूप हो जाता है॥५२॥

इस प्रकार जो निरंतर समाधि योग का अभ्यास करता है जिस के सम्पूर्ण इन्द्रिय गोचर विषय निवृत्त हो गए हैं तथा जिसने काम क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओं को परास्त कर दिया है उस छहों इन्द्रियों (मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों) को जीतने वाले महात्मा को मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है॥५३॥

इस प्रकार अहर्निश आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता भोक्तापन के) अभिमान को छोड़कर प्रारब्ध फल भोगता रहे। इससे वह अन्त में साक्षात् मुझ में ही लीन हो जाता है॥५४॥

संसार को आदि, अंत और मध्य में सब प्रकार भय और शोक का ही कारण जानकर समस्त वेद विहित कर्मों को त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा रूप अपने आत्मा का भजन करें॥५५॥

जिस प्रकार समुद्र में जल, दूध में दूध, महाकाश में घटाकाशादि और वायु में वायु, मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंच को अपने आत्मा के साथ अभिन्न रूप से चिन्तन करने से जीव मुक्त परमात्मा के साथ अभिन्न भाव से स्थिर हो जाता है॥५६॥

यह जो जगत् है वह श्रुति युक्ति और प्रमाण से बाधित होने के कारण चंद्रभेद और दिशाओं में होने वाले दिग्भ्रम के समान मिथ्या ही है-ऐसी भावना करता हुआ लोक व्यवहार में स्थित मुनि, इसे देखे॥५७॥

जब तक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलाई न दे, तब तक निरंतर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कृष्ट भक्त होता है उसे अपने हृदय में मेरा रात दिन साक्षात्कार होता है॥५८॥

हे प्रिय! सम्पूर्ण श्रुतियों के सार रूप इस गुप्त रहस्य को मैंने निश्चय करके तुम से कहा है। जो बुद्धिमान इसका मनन करेगा वह तत्काल समस्त पापों से मुक्त हो जाएगा॥५९॥

भाई! यह जो कुछ जगत् दिखाई देता है वह सब माया है। इसे अपने चित्त से निकाल कर मेरी भावना से शुद्ध चित्त और सुखी होकर आनंद पूर्ण क्लेश शून्य हो जाओ॥६०॥

जो पुरुष अपने चित्त से मुझ गुणातीत निर्गुण का अथवा कभी कभी मेरे सगुण स्वरूप का भी सेवन करता है, वह मेरा ही रूप है। वह अपनी चरण रज के स्पर्श से सूर्य के समान

सम्पूर्ण त्रिलोकी को पवित्र कर देता है।।६१।।

यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियों का एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरु-भक्ति सम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धा पूर्वक पाठ करेगा उसको यदि मेरे वचनों में प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जाएगा।।६२।।

- (अध्यात्म रामायण-रामगीता)

।। श्री गुरुभ्यो नमः।।

अष्टत्रिंशत्तमः सर्गः (निर्वाणप्रकरण)

ईश्वरोपाख्याने बाह्यपूजा वर्णनम्।

ईश्वरोवाचः- हे मुनीश्वर! जो एक देव परमात्मा है सो संत करि पूजने योग्य है, चिन्मात्र अनुभव आत्मा सर्ग है। घट पट गादीकंद तांबर आदिक सर्व विषे वह स्थित है। ब्रह्मा इन्द्रादिक देवता अपर जीव सबके अन्दर बाहर वही स्थित है। सर्वात्मा शान्त रूप देवता का पूजन ध्यान है और ध्यान है सो पूजन है। त्रिभुवन का आधार भूत आत्मा है। जिसको ध्यान करि पूजा करो, जहां जहां मन जावे, तहां तहां चिद्रूप आत्मा को करो। सबका प्रकाशक आत्मा ही है। सा चिद्रूप अनुभव करिके अन्त स्थित है। अहंन्ता करिके सिद्ध है जे सो सबका सार रूप है। और सबका आश्रय रूप है उनका जो विराट् रूप है सो सुन जिसको जानकर पूजन करो। बाह्य कैसा है अनन्त है पारावार ते रहित है, परमाकाश है सो उसकी ग्रीवा है और अनंत पाताल उसके चरण हैं। अनंत दिशा जिसकी भुजा हैं सर्वप्रकाश उसके शस्त्र हैं। हृदय कोष विषे स्थित है। ब्रह्माण्ड समूहों की परंपरा प्रकाशता है परमाकाश, पार अपार रूप है। ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि देवता जीव उसके रोमावली है त्रिलोकी विषे जो देहरूपी यंत्र है इन विषे इच्छादिक शक्तिरूप सूत्र व्यापा है। जिस करि सब चेष्टा करते हैं सो देव एक ही है, और अनंत है और सत्ता मात्र स्वरूप है। सब जगज्जाल जिसका निवृत्त है और काल जिसका द्वारपाली है। पर्वतादिक ब्राह्माण्ड जगत तिसके देह विषे किसी कोण में स्थित है तिस देव का चिन्तर करो, बहुरि कैसा देव है? सहस्त्र जिसके चरण हैं और सहस्त्र नेत्र सहस्त्र जिसके शीश हैं। और सहस्त्र भुजा हैं और सहस्त्र भुजा विषे भूषण हैं। सर्वत्र जिसकी नासिका इन्द्रिय है। सर्वत्र जिसकी रसना इन्द्रिय है, सर्वत्र श्रवण इन्द्रिय है। सर्व और जिसका मन है और सर्व मन कला से अतीत है। सर्व ओर वही शिव रूप है। सर्वदा सर्वका कर्ता है। सर्व संकल्प के अर्थ का फलदायक है। सर्वभूत के अन्तर स्थित है। और सर्व साधन का सिद्धकर्ता है। ऐसा जो देव है सो सर्वविषे सर्व प्रकार सर्वदा सर्वकाल स्थित है। उस देव की चिन्तवना करो। ऐसे देव के ध्यान विषे सावधान रहो। सदा उनही का आकार रटना। यह उस देव का पूजन है। अब अन्तर का पूजन भी श्रवण करो। हे ब्रह्मवेता!

हृदय विषे श्रेष्ठ संवित् मात्र जो देव है सो सदा अनुभव करि प्रकाशता है। जिसका पूजन दीपक करि नहीं होता न धूप करि होता है न पुष्प करि होता है न दान करि न लेप केसरकरि तिसका पूजन होता है। अर्घ्य पाद्यादिक जो पूजा की सामग्री है तिस करि देव का पूजन नहीं होता। तिसका पूजन क्लेश बिना नितही होता है। हे मुनीश्वर! एक अमृत रूपी जो बोध है, तिस देव का सजातीय प्रतीत ध्यान करना सो तिसका परम पूजन है। हे मनीश्वर! शुद्ध चिन्मात्र जो देव है, अनुभव रूप है तिसका जो सर्वदा काल सर्व प्रकार पूजन करो। जो देखता है। स्पर्श करता है, सूंघता है, श्रवण करता है, बोलता है इससे ले करि जो कुछ किया करता है से सब प्रत्यक्ष चेतन साक्षी विषे अर्पण करो। निवृत्ति परायण होहू। इस प्रकार आत्म देव का पूजन करो। हे मुनीश्वर आत्मदेव का जो ध्यान करना यही धूप दीप है और सर्व सामग्री पूजन की यही है ध्यान ही देव को प्रसन्न करता है। तिस करि परमानंद प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर। मूढ़ होवै अरु इस प्रकार ध्यान करि ईश्वर की पूजा करे तब त्रयोदश निमेष जगत् उड्डान फल को पाता है। और शत निमेश के ध्यान करि प्रभु को पूजै तब मनुष्य अवशमेघ यज्ञ के फल को पावे और ध्यान के बल करि आत्मा का घड़ी पर्यंत पूजन करै। तब यह पुरुष राजसूय यज्ञ के फल को पावै जो दो प्रहर पर्यन्त ध्यान करे तो लक्ष राजसूय यज्ञ के फल को पावै जो दिन पर्यंत ध्यान करे सो असंख्य फल को पावे। हे मुनीश्वर! यह परम योग है और यही परम क्रिया है। यही परम प्रयोजन है। हे मुनीश्वर! दोनों पूजा मैंने तुझ को कही हैं। जिसको यह परम पूजा प्राप्त होती है। सो परम पद को प्राप्त होता है सर्व देवता तिसको नमस्कार करते हैं। सर्वकरि वह पुरुष मेरुवत् पूजने योग्य होता है।

।।इति शिवम्।।

''तमेव एवंः जानीथ आत्मानमन्याथ
वाचो विमुंचयं अमृतस्यैष सेतुः

(मु. उपनिषद् २/२/५)

अर्थः- उसी को तू एक आत्मा करके जान। दूसरी बातों का तू त्याग कर यह आत्मा मोक्ष के मार्ग को ले जाने वाला सेतु-पुल है।

''तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः न अनुध्यायात् बहून शब्दान् वाचो विग्ला पनंहि तत्''।।

- (वृ.उ.४.४२१.)

अर्थः- बुद्धिमान ब्राह्मण उसही परमात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर प्रज्ञा संपादन करता है। उसे बहुत शब्दों का अनुचिंतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से वाणी को बहुत

श्रम पड़ता है।

अधिकारी लक्षणः-

पाप छीन तपदान बल, हृदय शांत गत राग।
विषय वासना त्याग करि, भयो मुमुक्षु बड़ भाग।।१।।

सो अधिकारी ज्ञान को, श्रवण ज्ञानमय ग्रंथ
सो तब लगि जब लगि भनै, समझे पंथ अपंथ।।२।।

तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि, इत्यादिक महावाक्य।
गुरु मुख श्रवण करै भले, सारासार ही ताक।।३।।

जग प्राणी विच्छेप चित, तजो दूर तिन संग।
बैठि इकंत स्वतंत्र है, करै मनन सर्वंग।।४।।

नित प्रति करत विचार कै, स्थिरता पावै चित्त।
बोध उदय छिन-छिन करै, जान्यो नित्य अनित्य।।५।।

शुद्ध स्वरूप प्रकाश में, कछु प्रवेशता होई।
साधन पाई प्रौढ़ता, निदिध्यासन कहि सोई।।६।।

कृष्णो भोगी शुक्रस्त्यागी, राजानौ जनक राघवौ।
वशिष्ट कर्म कर्ता च पंचैते ज्ञानिनः समाः।।१।।

अर्थः- श्री कृष्ण भोगी थे, शुकदेव जी त्यागी थे, जनक तथा रामचंद्र राजा थे तथा वशिष्ठजी कर्म कांडी थे (तोभी) पाँचों को शास्त्र ने जीवन मुक्त ही कहा है।

भगवान आतमवान जे, लीलावत करे भोग।
वस्तु बुद्धि कछु ना गहै, धीरजवान अरोग।।१।।

अज्ञानी आसक्त मति, करे सुबन्धन होत।
ज्ञानी के आसक्ति नहिं, तजै न कछु गहि लेत।।२।।

गुरु कृपा और कवित्व स्फूर्ति।

सपने में पाया गुरु उपदेश। नाम में विश्वास दृढ़ धरा।

बड़ी उत्कंठा के साथ तुकाराम जी का अभ्यास चल रहा था। वे सब ये यही कहना चाहते थे कि कब भगवान मेरे पर कृपा करेंगे, क्या भगवान मेरी लाज रक्खेंगे वह यह जानने के लए

अत्यंत अधीर हो उठे थे कि क्या मेरा भी उद्धर होगा? क्या नारायण मेरे पर अनुग्रह करेंगे? वे चाहते थे कि किसी ऐसे महात्मा के दर्शन हो जायँ जिनसे यह आश्वासन मिले हाँ भगवान तुझ पर कृपा करेंगे। उनका चित्त विकल था यह जानने के लिए कि कब मेरी बुद्धि स्थिर होगी, कब भगवान का रहस्य मैं जान लूँगा, कैसे यह शरीर छूटने के पूर्व नारायण से भेंट होगी? कब उनके चरणों पर लोटूंगा, कब उनके लिए गद्‌गद्‌ होकर मैं अपना देह भाव भूलूँगा कब वह मुझे अपनी चारों भुजाओं से गले लगावेंगे; कब ये नेत्र उनका स्वरूप देखकर शांति और तृप्ति लाभ करेंगे? बस यही एक धुन थी। वह अपने ही मन से पूछते कि क्या मुझे ऐस सत्पुरुष मिलेंगे जिन्हों ने भगवान के दर्शन किए हों। जिनके लिए प्रपंच छोड़ा वही खाता इन्द्रायणी में डुबो दिया। धन को गोमांस समान समझने की शपथ की, घर द्वार तक छोड़ दिया, स्वजनों में कुख्याति प्राप्त की, एकान्तवास किया और वायु वेग से ग्रन्थाध्ययन तथा राम कृष्ण हरि का सतत भजन किया। वह विश्वव्यापक पाण्डुरङ्ग कहाँ कैसे मिलेंगे? यह कौन बतलावेगा? वह सतपुरुष कब मिलेंगे जिन्होंने पांडुरङ्ग के दर्शन किए हों। इसी प्रतीक्षा में तुकारामजी के प्राण उथल-पुथल कर रहे थे। भगवान् कल्पवृक्ष हैं, चिंतामणि हैं, चित्त जो जो चिंतन करे उसे पूरा करने वाले हैं यह अनुभव जो सभी भक्तों को प्राप्त होता है, इस समय तुक़ारामजी को भी प्राप्त हुआ। उन्हें महात्मा के दर्शन हुवे और उन्होंने तुकारामजी के मस्तक पर हाथ रक्खा। तुकारामजी को जो मंत्र प्रिय था वही राम कृष्ण मंत्र उन्होंने इनको दिया और तुकारामजी के जो परम प्रिय इष्ट थे पांडुरंग उन्हीं की निष्ठापूर्वक उपासना करने को उन्होंने इनसे कहा। तुकारामजी को यह विश्वास हो गया कि मैं जिस मार्गपर चल रहा था वह ठीक ही था। रामकृष्ण हरि का भजन पहिले ही से हो रहा था पर उसी उपदेश मंत्र का अधिकारी महात्मा के मुख से प्राप्त हुआ। उपासना का रहस्य खुला, निश्चय दृढ़ हुआ चित्त समाहित हो गया। न्यायालय से मामले का क्या फैसला होगा यह तो पक्षकारों को पहिले ही से मालूम रहता है वकील भी बतलाते रहते हैं पर जब तक जज का फैसला नहीं सुना जाता तब तक चित्त स्वस्थ नहीं होता। कुछ वैसी ही बात यह भी है। अधिकारी पुरुष के मुंह से जब मंत्र सुना जाता है, अथवा धीर पुरुष से जब कोई आशीर्वाद मिलता है तब उससे जीव को शान्ति मिलती है। उसे अपना रास्ता सही होने का विश्वास हो जाता है। ग्रंथ पढ़कर भी जो बात समझ में नहीं आती वह एक क्षण में ध्यान में आ जाती है। बुद्धि जहाँ पहुँच नहीं पाती उस पहुंच का साक्षात्कार होता है। स्वानुभव प्राप्त साक्षात्कार संपत्र महात्मा के एक क्षण समागम से सब काम बन जाता है। परमार्थी कृत विद्य महापुरुष के दर्शन मात्र से परमार्थ रोम रोम में भर जाता है। तुकारामजी के पुण्य बल से उन्हें ऐसा अपूर्व शुभ संयोग प्राप्त हुआ।

सद्‌गुरु बिना कृतार्थता नहीं, सद्‌गुरु के प्रसाद के बिना कोई भी अपना परमार्थ सिद्ध नहीं कर सकता है। जो लोग यह समझते हैं कि हमने ग्रन्थों का अध्ययन कर लियाहै परोक्ष ज्ञान

हमें मिल चुका है हमें अपनी बुद्धि से ही ज्ञान का रहस्य अवगत हो चुका है, अब हमें किसी को गुरु बनाने की क्या आवश्यकता है? हम जो कुछ जानते हैं उससे अधिक कोई गुरु भी क्या बतलावेंगे; जो लोग ऐसा समझते हैं वे अंत में अहंकार के जाल में ही फंसे हुए दिखाई देते हैं। गुरु कृपा के बिना रज तम धुल कर निर्मल नहीं होते, ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान में पूर्णऔर दृढ़तम निष्ठा भी नहीं होती। ज्ञान का साक्षात्कार होना तो दूर की बात है। ज्ञानेश्वर महाराज (अ. १०-१७२ में) कहते हैं कि समग्र वेद शास्त्र पढ़ डाले; योगादिकों का भी खूब अभ्यास किया पर इनकी सफलता तभी है जब श्रीगुरु कृपा हो। कमाई तो अपने ही परिश्रम की होती है। तथापि उस पर जब तक श्री गुरु कृपा की मुहर नहीं लगती तब तक भगवान् के दरबार में उसका कोई मूल्य नहीं होता। अत्यंत सूक्ष्म और विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर भी दीपक से पैदा होने वाले काजल के समान ज्ञान से उत्पन्न होने वाला अहंकार सद्गुरु के चरण गहे बिना निःशेष नष्ट नहीं होता। श्रीराम और श्रीकृष्ण को भी श्री गुरु का आश्रय लेना पड़ा तब औरों की तो बात ही क्या है। वेद, शास्त्र, पुराण और संत सब इस विषय में एकमत हैं। श्रुति की यह आज्ञा है कि 'श्रोत्रिय' अर्थात् श्रुति शास्त्र निपुण और 'ब्रह्मनिष्ठ' अर्थात् स्वानुभव प्राप्त गुरु को प्राप्त करोगे 'शब्दे परे च निष्णान्त ब्रह्मपुण्य समाश्रयम्' ऐसे सद्गुरु की शरण लेने को भागवत् कार ने कहा है और गीता में भगवान् ने भी 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' कहा है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' आत्मवेत्ता महापुरुष के चरण गहने को वेदों ने कहा है और श्रीमद् शंकराचार्य भी यही कहते हैः-

षडङ्गादि वेदो मुखे शास्त्र विद्या।

कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।।

गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं।

ततःकिं ततःकिं ततःकिं ततःकिम्।।

महद् भाग्य से सद्गुरु के दर्शन होते हैं। और जब ऐसे दर्शन हों तो अनन्य मन हो उनकी शरण में जाना और 'यथा देव तथा गुरौ' अर्थात् भगवान के समान ही उनका भजन और पूजन करना सनातन रीति है। सद्गुरु सदा तृप्त ही रहते हैं इससे अधिकारी जीवों पर उन्हें करुणा आती है, कहते हैं ''मेरा पेट तो भरा' पर अब ऐसी प्यास लगी है कि अन्य जीवों की आस पूरी करूं नाव का भार आखिर जल पर ही रहता है। वह भार चाहे हलका हो या भारी इससे क्या?

अपरम्पार स्वानंद समुद्र में चलने वाली गुरु रूप नौका के लिए दो चार पथिकों का भार ही क्या? दो चार चढ़ लिए या दो चार उतर गए हो इसका उसपर बोझ ही क्या? सचतो यह है कि सद्गुरु को सत्शिष्य के मिलने का ही आनन्द है। इससे अद्वैतानुभव का आनन्द द्वैत रूप

में वे भोग सकते हैं। गीता-ज्ञानेश्वरी में अर्जुन के प्रश्न करने पर भगवान् यह कहकर अपना आनंद व्यक्त करते हैं कि 'हे अर्जुन! तुम प्रश्न करके मुझे मेरा वह आनंद दिला रहे हो जो अद्वैतानंद के भी परे हैं। (ज्ञानेश्वरी १५-४५०) अबाध, शास्त्र परिपूर्ण स्वानुभव, उत्तम प्रबोध शक्ति, दैवी दयालुता और परमा शांति ये पाँचों गुण भी गुरु में नित्य वास करते हैं। एकनाथी भागवत् (अ.३) में श्री गुरु के लक्षण बतलाते हैं कि वह दीनों पर तन मन और वाणी से बड़े दयालु होते हैं। शिष्य के भव-बन्धन काट डालते हैं। अहंकार की छावनी उठा देते हैं। वह शब्दज्ञान में पारंगत होते हैं। ब्रह्मज्ञान में सदा झूमते रहते हैं। निज भाव से शिष्य को प्रबोध कराने में समर्थ होते हैं।

गुरु प्रसाद के बिना ही कोई संत पदवी को प्राप्त हुआ हो ऐसा एक भी पुरुष नहीं है। सभी संतों ने गुरु प्रसाद का महत्व और माधुर्य बखाना है। गुरु भक्ति के सहस्त्रों अवतरण दिए जा सकते हैं। पर विस्तार भय से संक्षेप में ही कहना पड़ता है। गुरु स्तुति का साहित्य बहुत बड़ा है। वह अनुभव का साहित्य है और अत्यंत हृदयङ्गम है। जिसे गुरु प्रसाद मिला हो, गुरु सेवा का परमानंद जिसने भोग किया हो वही उसकी माधुरी जान सकता है। ज्ञानदेव और एकनाथ दोनों ने ही गुरु भक्ति की अपूर्व और अपार माधुरी पाई थी। इन्होंने सद्‌गुरु समागम और सद्‌गुरु सेवा का आनंद खूब लूटा। दोनों के ग्रन्थों में सब मंगलाचरण भी गुरु स्वतवन परक हैं और ये अत्यंत मधुर हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के १३वें अध्याय के ७वें श्लोक का 'आचार्योपासनम्' पद देखते ही श्री ज्ञानेश्वर महाराज की गुरु भक्ति धारा महाप्रवाह के रूप में जो उमड़ पड़ी है वह सौ ओवियों को पार करके भी उनके रोके नहीं रुकी है। उनकी गुरु भक्ति का आनन्द जिनको लेना हो वे श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में 'उपासना और गुरु भक्ति' अध्याय पूरा पढ़ जायँ। इसी प्रकार एकनाथ महाराज की गुरु भक्ति का जिन्हें दर्शन करना होवे व एकनाथ चरित्र देखें। गुरु-भक्त के लिए गुरु और उपास्य एक होते हैं। ज्ञानेश्वर और एकनाथ ने श्री गुरु मूर्ति में ही भगवान् के दर्शन किये। तुकारामजी ने भगवान को ही श्रीगुरु देखा। गुरु साक्षात परब्रह्म हैं और परब्रह्म परमात्मा ही गुरु के सगुण रूप में साधक को कृतार्थ करते हैं। गुरु प्रसाद के बिना कोई साधक कभी कृतार्थ नहीं हुआ श्री गुरु बोलते चालते ब्रह्म हैं। उनकी चरण धूलि में लोटे बिना कोई भी कृत कृत्य नहीं हुआ।

* * * * * *

स्वामी विवेकानंद का अनुभव

आधुनिक काल के सुविख्यात सत्पुरुष स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द भी श्री गुरु के शरणागत होकर ही कृतार्थ हुवे। स्वामी विवेकानन्द अपने भक्ति योग विषयक प्रबन्ध में कहते हैः-

"गुरु की कृपा से मनुष्य की छिपी हुई अलौलिक शक्तियाँ विकसति होती हैं। उन्हें चैतन्य प्राप्त होता है। और उनकी आध्यात्मिक वृद्धि होती है और अन्त में वह नर से नारायण होता है। आत्म विकास का यह कार्य ग्रंथों के पढ़ने से नहीं होता। जीवनभर हजारों ग्रंथों को उलटते पुलटते रहो उससे अधिक से अधिक तुम्हारा बौद्धिक ज्ञान बढ़ेगा पर अंत में यही जान पड़ेगा कि इससे अध्यात्म-बल कुछ भी नहीं बढ़ा। बौद्धिक-ज्ञान बढ़ा तो उसके साथ अध्यात्म-बल भी बढ़ना ही चाहिए, यह कोई कहे तो वह सच नहीं है; ग्रंथों के अध्ययन से इस प्रकार का भ्रम होता है पर सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करने से यह जान पड़ेगा कि बुद्धि का तो खूब विकास हुआ तो भी अध्यात्म शक्ति जहाँ की तहाँ ही रह गई। अध्यात्म शक्ति का विकास कराने में केवल ग्रन्थ असमर्थ हैं और यही कारण है कि अध्यात्म की बातें करने वाले लोग बहुत मिलते हैं पर कहनी के साथ रहनी का मेल हो ऐसा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है किसी जीव को आध्यात्मिक संस्कार कराने के लिए ऐसे ही महात्मा की आवश्यकता होती है जो जीवकोटि से पार निकल गया हो, यह ताकत ग्रंथों में नहीं है। आध्यात्मिक संस्कार जिसका होता है वह है शिष्य और संस्कार करने वाला है गुरु। भूमि तप कर जोतजात कर तैयार हो और बीज भी शुद्ध हो, ऐसे उभय संयोग से ही अध्यात्म का विकास होता है। अध्यात्म की तीव्र क्षुधा के लगते ही अर्थात् भूमि के तैयार होते ही उसमें ज्ञान-बीज बोया जाता है सृष्टि का यही नियम है। आत्म-प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता सिद्ध होते ही प्रकाश पहुंचाने वाली शक्ति प्रकट होती है। सत्य ज्ञानानन्द-स्वरूप सद्‌गुरु को संसार ईश्वर तुल्य मानता है शिष्य शुद्ध चित्त जिज्ञासु और परिश्रमी होना चाहिए। जब शिष्य अपने को ऐसा बना लेता है तब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, निष्पाप, दयालु और प्रबोध चतुर समर्थ सद्‌गुरु उसे मिलते हैं।

सद्‌गुरु शिष्यों के नेत्रों में ज्ञानाञ्जन लगाकर उसे दृष्टि देते हैं ऐसे सद्गुरु बड़े भाग्य से जब मिलें तब अत्यन्त नम्रता विमल सद्भाव और दृढ़ विश्वास के साथ उनकी शरण लो, अपना सम्पूर्ण हृदय उन्हें अर्पण करो उनके प्रति अपनेचित्त में परम प्रेम धारण करो उन्हें प्रत्यक्ष परमेश्वर समझो इससे भक्ति ज्ञान का अपार समुद्र प्राप्त कर कृत कृत्य होंउगे।........... महात्मा (सिद्ध) पुरुष ईश्वर के अवतार ही होते हैं केवल स्पर्श से एक कृपा कटाक्ष से केवल संकल्प मात्र से भी शिष्य को कृतार्थ करते हैं। पर्वतप्राय पापों का बोझ ढाने वाले भ्रष्ट जीव को भी अपनी दया से क्षणार्ध में पुण्यात्मा बनाते हैं वे गुरुओं के गुरु हैं। मनुष्यरूप में प्रकट होने वाले साक्षात् नारायण हैं मनुष्य इन्हीं के रूप में परमात्मा को देख सक्ता है। भगवान् निर्गुण निराकार है पर हम लोग जब तक मनुष्य है तब तक हमें उन्हें मनुष्य रूप में ही पूजना चाहिए तुम जो चाहो कहो, चाहे जितना प्रयत्न करो पर तुम्हें मनुष्य-रूपी (सगुण) परमेश्वर का ही भजन करना होगा। निर्गुण निराकार का पाण्डित्य चाहे कोई कितना ही वघारे सगुण का तिरस्कार कर अवतारों की

निन्दा करे सूर्य चन्द्र तारा-गणों को दिखाकर बुद्धि-वाद से उन्हीं में देवत्व देखने को कहे परउसमें यथार्थ आत्म-ज्ञान कितना है यह यदि तुम देखो तो वह केवल शून्य है। हम लोग मनुष्य हैं परमात्मा हम से सगुण रूप में 'सद्गुरु रूप'' में ही मिलते हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं (स्वामी) विवेकानंद के समग्र गंथ भाग ३ पृ ५१६-५२१ मूल अंग्रेजी से)

स्वामी आगे और कहते हैंः- भगवान से मिलने की इच्छा करने वाले मुमुक्षू के नेत्र भी सद्गुरु ही खोलते हैं गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पूर्वज और वंशज के संबंध जैसा ही है। श्रद्धा, नम्रता, शरणागति और आदर-भाव से शिष्य गुरु का मन मोह ले तो ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। और विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात यह है कि जहाँ गुरु शिष्य का नाता अत्यन्त प्रेम से युक्त होता है वहीं प्रचण्ड अध्यात्म शक्ति के महात्मा उत्पन्न होते हैं। स्वानुभूतिग्रन्थों से नहीं प्राप्त हो सकती। पृथ्वी पर्यटन कर चाहे आप सारी भूमि पदाकांत कर डालें हिमालय, काकेशश, आल्पस-पर्वत लांघ जाय, समुद्र की गहराई में गोता लगाकर बैठ जायं, तिब्बत देश देख लें या गोवी का जंगल छान डालें, स्वानुभाव का यथार्थ धर्म-रहस्य इन बातों से भीगुरु के प्रसाद के बिना त्रिकाल में भी नहीं ज्ञात होगा। इसलिए भगवान् की कृपा से जब ऐसा भाग्योदय हो कि श्री गुरु दर्शन दें तब सर्वान्तःकरण से श्री गुरु की शरण लो उन्हें ऐसा समझो जैसे यही परब्रह्म है, उनके बालक बनकर अनन्य भाव से उनकी सेवा करो इससे तुम धन्य होंगे। ऐसे परम प्रेम और आदर के साथ जो श्री गुरु के शरणागत हुए उन्हीं को और केवल उन्हीं को सच्चिदानंद प्रभु ने प्रसन्न होकर अपनी परम भक्ति और अध्यात्म के अलौलिक चमत्कार दिखाए हैं। तत्सत्

दोहाः- जीव ईश दो वाच्य हैं, ब्रह्म आत्मा लक्ष्य।
भाग त्याग से वाच्य तजि, एकहि हैं दो लक्ष्य।।
दीपक अग्नि अल्पहै, सूरज बड़ा विशेष।
दाहक उष्ण प्रकाशता, है दोनू में एक।।
व्यष्टि उपाधि जीव है, ईश समष्टि उपाधि।
सत् चित् आनन्द एक है, खंड रहित निरुपाधि।।
सोहम् हंसो एक है, तुम मत जानो दोय।
जाने जिसने दोयकर, तिहि गुरु मिल्यो न कोय।।

- (बालबोधनी)

(ब) श्लोक- वेदात सिद्धान्त निरुक्ति रेषा

ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।

अखण्डरूप स्थितिरेव मोक्षो

ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्।।

भावार्थः- वेदान्त का सिद्धान्त तो यही कहता है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है, और उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखंड रूप से स्थित रहना ही मोक्ष है। इसमें श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं।

श्लोकः- इति गुरु वचनाच्छ्रुति प्रमाणा

त्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्तया।

प्रशमितकरणः समाहितात्मा

क्वचिदचलाकृतिरात्म निष्ठितोऽभूत्।।

भावार्थः- इस प्रकार गुरु के श्रुति-प्रमाणयुक्त वचन और अपनी युक्तियों द्वारा परमात्मतत्व को जान कर चित्त और इन्द्रियों के शान्त हो जाने से शिष्य निश्चल वृत्ति से आत्मस्वरूप में स्थित हो गया।

श्लोकः- कञ्चित् कालं समाधाय परे ब्रह्मणि् मानसम्।
उत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत्।।

भावार्थः- और कुछ देर तक पर ब्रह्म में चित्त के स्थिर रखने के पश्चात् उस परमानन्दमयी स्थिति से उठकर ऐसा कहने लगाः-

श्लोकः- बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति-र्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने किंवा कियद्वा सुख मस्त्यपारम्।।

भावार्थः- ओह! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने पर मेरी बुद्धि तो एकदम नष्ट हो गई, विषयों से मेरी सारी प्रवृत्ति दूर हो गई, मैं इसको भी नहीं जानता और इस से भिन्न को भी नहीं जानता, तथा यह भी नहीं जानता कि यह अपार कैसा और कितना है।

श्लोकः- किं हेयं किमुपादेयं कि मन्यत्किं विलक्षणम्।
अखंडानन्दपीयूष-पूर्णे ब्रह्म-महार्णवे।।
न किंचिदत्र पश्यामि न श्रृणोमि न वदाम्यहम्।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः।।

भावार्थः- इस अखण्ड आनन्दामृत-पूर्णब्रह्म समुद्र में कौन वस्तु त्याज्य है? कौन ग्राह्य है? कौन सामान्य है? और कौन विलक्षण है? अब मुझे यहाँ न कुछ दिखलाई देता है, न सुनाई

देता है और न मैं कुछ जानता हूँ। मैं तो नित्यानन्द स्वरूप विलक्षण आत्मभाव से ही स्थित हूँ।

श्लोकः- नमो नमस्ते गुरवे महात्मने
विमुक्तिसंगाय सदुत्तमाय।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे
भूम्ने-सदाऽपार दयाम्बुधाम्ने।।
यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात्।।

भवार्थः- जो संग रहित, सत्स्वरूप, उत्तम और नित्य, तथा अद्वितीय आनन्द रस स्वरूप हैं। तथा जिनके कृपा कटाक्ष रूप चन्द्र की सुशीतल किरणों से संसार-ताप-जन्य श्रम के दूर होने से मैंने क्षणभर में अखंड ऐश्वर्य और आनन्दमय, अक्षय-आत्मपद को प्राप्त किया है उन भूमा और नित्य अपार दया सागर महात्मा गुरुदेव को बारंबार नमस्कार है।

धन्योऽहं कृत कृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात्।।

भावार्थः- उन श्री गुरुदेव की कृपा से मैं नित्यानन्द स्वरूप और परिपूर्ण हो गया तथा संसार-बन्धन से छूट कर धन्य और कृतकृत्य हो गया।

नारायणोऽहं नरकान्तोऽहं, पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखंड बोधोऽहमशेष साक्षी, निरीश्वरोऽहं निरहं निर्ममः।।

भावार्थः- मैं क्षीरसमुद्र शायीनारायण हूँ, नरकासुर का विघातक हूँ, त्रिपुर दैत्य का नाश करने वाला हूँ, पुराण-पुरुष हूँ और ईश्वर हूँ, मैं सबका साक्षी हूँ, अखंड बोध स्वरूप हूँ, स्वतन्त्र हूँ तथा अहंता और ममता से रहित हूँ।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते माया मारुतविभ्रमात्।।

भावार्थ, मुक्त अखंड आनंद समुद्र में विश्वरूपी नाना तरंगें मायारूपिणी वायु के वेग से उठती और लीन होती रहती हैं।

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं
सर्वाकारं सर्वगं सर्व-शून्यम्।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकारं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि।।

भावार्थः- जो सबका आधार, सब वस्तुओं का प्रकाशक, सर्वरूप, सर्वव्यापी सबसे रहित, नित्यशुद्ध, निश्चल और विकल्प रहित है वह अद्वैत ब्रह्म मैं ही हूँ।

स्वाराज्य साम्राज्य विभूतिरेषा
भवत्कृपा श्री महिमप्रसादात्।
प्राप्तामया, श्रीगुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु॥

भावार्थः- हे गुरो! आपकी कृपा और महिमा के प्रसाद से मुझको यह स्वराज्य-साम्राज्य की विभूमि प्राप्त हुई है। हे महात्मन्! मैं आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ।

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मै चिन्महसे नमः।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते॥

भावार्थः- हे गुरुराज! आपको नमस्कार है, जो आप कोई अति महान् सत्स्वरूप और एक होकर भी विश्वरूप से विराजमान हैं। - (वि.चू)

ॐ

गुरु-गीता महात्म्य।

जगत्-गुरु भगवान् भोलानाथ शंकर बोलेः-

हे पार्वति! यह गुरुगीता आख्यान महान् पुण्यकारक है, इस पुण्य कारक आख्यान को जो कोई पठन और श्रवण करते हैं और ब्राह्मणों को लिखकर दान करते हैं, उनको सर्वदान का फल प्राप्त होता है। संसार रोग नष्ट होकर वे निर्मल होते हैं। यह केवल मंत्रराज है, इसके समान और दूसरा कोई नहीं है।

अन्नदान का अनन्त फल है, सर्वपापों का नाश करता है। राक्षसों का भुवन नाश करने और व्याघ्र चौरदिकों के नाश करने का अनन्त फल है, उससे भी इस गुरु-आख्यान के पाठ श्रवण, और दान का फल अधिक है। सद्‌गुरुदेव सब विघ्नों को दूर कर देते हैं, अष्टसिद्धियों को घर में लाते हैं, ऐसे वह 'सद्‌गुरुदेव' सर्वकाल में स्मरण करने योग्य हैं।

हे पार्वति! यह गुरुगीता शासनासन अथवा-कमलासन पर ध्यान रखके, निष्काम बुद्धि से पठन करे। यह गुरु-भक्ति प्रकाशिका, चिन्तामणि रत्न सरीखी कामना सिद्ध करने वाली है। यह गीता कामादि मोक्ष पर्यन्त चारों पदार्थों को देने वाली है तथा सम्पूर्ण इष्टों को प्राप्त करती है।

यह गुरुगीता संसार मूल का नाश करने वाली-गंगा के समान पवित्र है। इसको जो पढ़ते हैं, उनको ज्ञान उत्पन्न करा देती है-इससे संशय नहीं। ऐसा यह गुरुगीता का माहात्म्य है। जो कोई इसका पाठ करते हैं, अथवा सुनते हैं वे धन्य हैऔर जो गुरु का भक्त है, वह भी धन्य है। गुरु ही माता हैं, गुरु ही पिता हैं, गुरुदेव ही स्वजन हैं, गुरुदेव ही बन्धु हैं। गुरुदेव के सन्तुष्ट होने से करोड़ों पूज्य देवता सन्तुष्ट होते हैं। विद्या और धन से गर्वित होकर जो गुरु को मानते नहीं, वे कर्म दरिद्री यमपुरी के वासी होते हैं। इस वास्ते गुरु ही "साक्षात् परब्रह्म है" यही निश्चय सत्य है। बहुत कहने का काम नहीं।

- (गुरुगीता श्लोक १०५-१४८ का भावार्थ)

ॐ

अथ सप्तश्लोकी गुरु-गीता

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।१।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप अपने शिष्यों की बुद्धि में समाये हुए, अन्यथा ज्ञानरूपी अज्ञान (यानी भ्रम) को दूर करते हैं। इस 'संहाररूपी कार्य'करने के कारण 'रुद्र' हैं। और शिष्य की बुद्धि में यथार्थ ज्ञान की रक्षा करते हैं, इस कारण 'रक्षक' होने से 'विष्णु' हैं। और ज्ञान को नई-नई विद्यायें देकर बढ़ाते हैं। इस नई सृष्टि के करने वाले होने के कारण ब्रह्मा हैं। और अन्त में शिष्य को 'निज रूप' बना लेते हैं। इसलिए 'परब्रह्म' हैं। ऐसे साक्षात् परब्रह्म गुरुदेव! आपको प्रणाम है।।१।।

अखण्ड मण्डलाकारं, व्याप्तं येन चरारम्।
तत्पदं दर्शितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।२।।

भावार्थः- हे परब्रह्म स्वरूप गुरुदेव! आप अखंड मण्डलाकार हैं! और सब स्थावर जंगम में व्यापक हैं! ऐसे आप सर्वव्यापी, तत्पद के लक्ष में लक्षित श्रीगुरुदेव को नमस्कार करता हूँ।।२।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य, ज्ञानाञ्जनशलाकया!
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।३।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप अपने आश्रितों के अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिए ज्ञानाञ्जन रूपी शलाका प्रदान करते हैं, जिस करके चक्षु निर्मल हो जाते हैं। ऐसे आप श्रीगुरुदेव के प्रति मेरा नमस्कार है।।३।।

ब्रह्मानन्दं[1] परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एवं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूत
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि।।४।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप ब्रह्मानन्द नित्यानन्द स्वरूप हैं। परम सुख के दाता हैं। केवल ज्ञान स्वरूप हैं। द्वन्द्वों से अतीत, गगन के समान सर्व में व्याप्त और तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा लक्षित हैं। एक हैं! नित्य हैं! विमल हैं अचल हैं! सर्व में सुबुद्धिरूप हैं! भूतमात्र के साक्षी हैं (अथवा-सर्व की बुद्धियों में साक्षी रूप से स्थिर रहने वाले हैं!) सर्वभावों से अतीत सर्व, रज, तम, गुणों से रहित ऐसे हे गुरुदेव! आपको नमस्कार है।।४।।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरोः पदम्।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।५।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! ध्यान का मूल आपकी मूर्ति ही है, पूजन-अर्चन के मूल आपके चरण-कमल हैं, आपके वचनामृत ही मूल मंत्र हैं और मोक्ष का मूल भी आपकी ही कृपा है।।५।।

नित्यं शुद्धं निराभासं, निराकारं निरञ्जनम्।
नित्यबोधं चिदानन्दं तस्मै श्री गुरवे नमः।।६।।

भावार्थः- हे गुरुदेव! आप सर्वदा शुद्ध स्वरूप हैं, केवल प्रकाश स्वरूप हैं, नराकार हैं, माया मल से निर्लिप्त हैं, सदा ज्ञान स्वरूप हैं, चिदानन्द रूप हैं। ऐसे हे श्री गुरुदेव! आपको नमन है-प्रणाम है।।६।।

ॐ अवधूत सदानन्द परब्रह्मस्वरूपिणे।
विदेहदेहरूपाय, (श्री) नित्यानन्द नमोस्तुते।।७।।

भावार्थः- हे प्रणवरूप श्री सद्गुरुदेव! आप सदा सर्वदा आनन्दित रहने वाले, परम अवधूत (महायोगेश्वर) परमब्रह्मस्वरूप हैं। आप विदेही होते हुए भी देह रूप में भगवान् नित्यानंद हैं-आपको हम प्रणाम करते हैं।।७।।

ॐ तत्सत्

१शुकरहस्य में ''नित्यानन्दं परमसुखदं'' इत्यादि पाठ है ''हे गुरुदेव! आप नित्यानंद स्वरूप हैं परम सुख के दाता हैं....''

ॐ

अष्टक क्या है?

स्वयं ब्रह्म का वर्णन करना बड़ा कठिन कार्य है, वेद भी उसके वर्णन करने में 'नेति नेति' कहकर रह जाते हैं। क्योंकि 'ब्रह्म' मन वाणी से अगोचर है, और बोलना वाणी का धर्म है। इसीलिए वेद कहता है कि ''यातो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' अर्थात्-जहाँ वाणी और मन उसे अप्राप्य समझ लौट आते हैं, ऐसा वह ब्रह्म है। ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि 'यह जो भी वाणी का विषय नहीं है तो भी उसके विषय में लिखा तो है, तो यह क्यों?' यह प्रश्न नया नहीं है, उपनिषदों में भी आया है, और भगवान् रामचन्द्र ने भी अपने गुरु वसिष्ठजी से यही प्रश्न किया था। जिसके उत्तर में मुनि वसिष्ठजी बोलेः-

''तस्मान्नद्वैतमस्तीह, न चैक्यं न च शून्यता।
न चेतनाचेतनत्त्वं, मौनमेव न तच्चवा।।''

अर्थात्ः- उस ब्रह्म में न द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है। परमतत्त्व न चेतन न जड़, चुप ही रहना पड़ता है। लेकिन चुप भी नहीं रहा जा सकता।

नैव चिन्त्यं न चाऽचिन्त्यं न चिन्त्याऽचिन्त्यमेवतत्।
पक्षपातविनिर्मुत्तं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।

- (श्रीधर)

अर्थात्ः- वह चिन्त्य भी नहीं है और अचिन्त्य भी नहीं है- और न चिन्त्य एवं अचिन्त्य दोनों मिलकर ही है। ऐसी धारणा होनेपर पक्षपात रहित परमब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस धारणा को दृढ़ करने के लिए प्रणवादि मंत्र, वेदादि के सूक्त तथा महापुरुषों के अनुभवयुक्त उपदेश वाक्यों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति में ही 'वेदान्त-ग्रन्थ रत्न' तथा 'स्त्रोत्रादि' हैं। जगद्गुरु श्री शंकराचार्य महाराज ने भी इसी प्रकार का एक 'निर्वाणषट्क' निर्माण किया है। उसमें से कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत किए जाते हैंः-

न मे द्वेष रागौ न मे लोभ-मोहौ,

मदो नैव मे नैव मात्सर्य-भावः।

न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष-

श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।१।।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,

न मन्त्रो न तीर्थों न वेदा न यज्ञा।

अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता

चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।२।।

न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः

पिता नैव मे नैव माता न जन्म।

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-

श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।३।।

अहं निर्विकल्पो निराकारा रूपो

विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।

न वा बन्धनं नैव मुक्तिर्न भीति-

श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।४।।

इसी प्रकार की श्री गुरु दत्तात्रेय महाराज कृत अवधूत गीता भी है। परन्तु यह सब संस्कृत में हैं।

प्रस्तुत 'अष्टक' भाषा में है। यह 'अष्टक' परम अवधूत, महान् विरक्त, श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्य, पूज्यपाद-श्री १०८ श्री गुप्तानन्दजी महाराज कृत है। जिन लोगों को चौदह रत्न गुप्तसागर तथा गुप्तज्ञान गुटका पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वे जानते हैं कि अवधूत महाराज का ज्ञान कितना अगाध, तथा समझाने की शैली कितनी सुगम और सुन्दर है। उपर्युक्त अष्टक में अवधूत गीता का सब सार अति सूक्ष्म, किन्तु सरलता से बुद्धि में आ सके इस प्रकार का आ गया है। जिज्ञासुओं को यह बात समझने में सुगमता मिले इस हेतु से अष्टक के प्रत्येक पद पर अङ्क लगाकर नीचे अवधूत गीता के श्लोक संकेत रूप से दिए गए हैं। विचार पूर्वक-मनन की दृष्टि से पढ़ने वालों को यह योजना अवश्य लाभप्रद विदित होगी।

।।ॐ।।

स्तोत्राष्टकम्

मनुष्यो[१] न देवो नहीं दैत्य[२] यक्ष,

पंडित न मूर्खो कवियो न दक्ष[३]

जाता न आता खोया न[४] पाया

शिवः केवऽलोहं निरमैल माया[५]।।१।।

भावार्थः- मैं न मनुष्य हूँ न देव, न दैत्य, न यक्ष, न पण्डित हूँ न मूर्ख, और न कवि हूँ न दक्ष। न मैं कहीं जाता हूँ न ही कहीं से आता हूँ मैं तो माया मल से रहित-केवल शिव स्वरूप हूँ।।१।।

आश्रम[६] न वर्ण न कुल जातिधर्मा[७]

नहीं नाम गोत्रं शर्मा न वर्मा[८]।

---

१. न षण्ढो न पुमान्नस्त्री...अ.गी.१-४६।

२. ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति... अव.गी.३-२४

३. मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं... अव.गी.४-२०

४. संयोगश्च वियोगश्च वर्तते न च ते न मे। अव. गी. १-१५

५. वर्तते केवलः शिवः-अव. गी. १-६१। अहमेव शिवः परमार्थ इति.।

६. वर्णश्रमो नैव कुलं न जातिः१-३४।

७. ननु आश्रम वर्ण विहीन परं ६-१४

८. उल्लेख मात्रमपि ते न च नाम रूपं..३-३३

जाग्रत स्वप्न नहीं प्राण[9] काया
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया।।२।।

भावार्थः- मुझे न आश्रम है न वर्ण न मेरा कुल है न जाति, न नाम है न गोत्र, न मैं शर्मा हूँ न वर्मा, न मैं जाग्रत अवस्था हूँ न स्वप्नावस्था हूँ,न मैं प्राण हूँ, न काया मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ।।२।।

देशो न कालो वृद्धो न बालो[10]
तुरिया वितुरिया नहिं काल जालो[11]।।
जन्म्या न मूया जाता न आया[12]
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया।।३।।

भावार्थः- न मैं देश हूँ न काल न वृद्ध हूँ न बाल, न तुरिया हूँ न वितुरिया, न काल हूँ न जाल, मैं तो माया मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ।।३।।

न मेरा जन्म है न मृत्यु न कहीं जाता हूँ न कहीं आता हूँ

जीवोनाशी को

---

९. ननु स्वप्नसुषुप्ति विहीन-परम् ५-२४

१०. नदेश कालो.......१-५८। इह काल विकाल निराकरणम्

१. स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं........३/२०

अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ४-१७

१२. जन्म मृत्युर्न ते चित्तं......१-१७।

जीवो न शीवो न अज्ञान मूलं[13],
सुखं न दुःखं नहि पाप शूलं[14]।
कर्ता अकर्ता नहीं बिंब छाया[15]
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया।।४।।

भावार्थः- न मैं जीव हूँ, न शिव हूँ न मैं मूल अज्ञान हूँ न सुख हूँ, न दुःख, न पाप हूँ न शूल, न कर्ता हूँ, न अकर्ता, न बिम्ब हूँ, न छाया, मैं तो माया जल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ।।४।।

मौनी न वक्ता बन्धों न मुक्तो[16],
रागं विरागं नहीं लक्ष लखता[17]
सब वाच्य अवाच्य का महल ढाया[18]
शिवः केवलोऽहं निरमेल माया।।५।।

भावार्थः- न मैं मौनी हूँ न वक्ता, न बन्ध हूँ, न मुक्ता न राग हूँ न विराग, लक्ष्य हूँ न लखता हूँ, सब वाच्य और अवाच्य के महल को गिरा दिया है मैं तो ’धा मल से रहित केवल शिवस्वरूप हूँ।।५।।

सादी अनादी न च में समादि[19],
स्वास्ता न शास्त्र नहिं वाद[20] वादी।
नहीं पक्षपातं जन्मी न जाया[21],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया।।६।।

भावार्थः- न मैं आदि सहित हूँ न आदि रहित, और न मुझ में दोनों शमादि है, न मैं पढ़ने वाला हूँ न शास्त्र हूँ, न मैं वाद हूँ और न वादी, न पक्ष हूँ न विपक्ष, न जन्म लेने वाला हूँ न जन्म देने वाला, मैं तो माया मल रहित केवल शिव स्वरूप हूँ।।६।।

---

१३. शिवं न जानामि कथं वदामि......१-२७

१४. सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते१-७

१५. न कर्त्ता न च भोक्ताहं व्याप्य-व्यापक-वर्जित १-५०

१६. मौनं विमौनं न च मे कदाचित् १५०

विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म वन्धोमुक्तिः कथं मम१-५९

१७. रोगादि दोषरहितं त्वहमेव तत्त्वं ३-६७

न मे रोगादि दोषो दुःखं देहादिकं न मे १-६७

१८. विदिता विदितं नहि सत्यमिति......६-७

१९. आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन..१-४४

२०. न वेदकं न मम नैव वेद्यम् ४-११ तर्कं वितर्कंच कथं वदामि ४-२०

२१. न पक्षपातौ न विपक्षपात१-६३

योग वियोगं[२२] न च मे समाधि[२३],
माया अविद्या न च मे उपाधि[२४]।
शुद्धो स्वरूपं निरंजनं राया[२५],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया।।७।।

भावार्थः- न मुझ में योग है न वियोग और न समाधी ही, न मैं माया हूँ न अविद्या, न मुझ में कोई उपाधि ही है, मैं शुद्धस्वरूप निरंजन-ब्रह्मरूप हूँ-मैं माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ।।७।।

गुप्ता न मुक्ता लिपता न छिपता[२६],
लोका न वेदा तपता अतपता[२७]।
एको चिदातम सब में समाया[२८],
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया।।८।।

भावार्थः- न मैं गुप्त हूँ, न लुप्त, न लिपायमान (लिप्त) हूँ न छिपा हुआ, न लोक हूँ न वेद, न तपता हूँ न अतपता, मैं वह आत्मा हूँ जो चैतन्य रूप से सब में समान रूप से समाया हुआ है- मैं माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ।।८।।

पढ़े प्रात काले कटे यमजाले,
तजै आश तृष्णा संतोष पाले।
अष्ट स्तोत्र में मन लगाया,
शिवः केवलोऽहं निरमैल माया[२९] ।।९।।

भावार्थः- प्रातःकाल में इसका पाठ करने से काल पाश कट जाती है। जो आशा तृष्णा त्याग कर संतोष पालन करे और इस अष्टस्तोत्र में मन लगावे तो -'माया मल से रहित केवल शिव स्वरूप हूँ' ऐसा ज्ञान पाकर शिव बन जावेगा।

ॐ तत्सत्

---

२२. ज्ञानं न तर्को न समाधियोग १-५८

२३. योगं वियोगं च कथं वदामि-४-१९

२४. माया विमाया न च मे कदाचित्-४-१८

२५. इति शुद्धनिरंजनसर्वसमं किमुरोदषि मानसि सर्व समम्-५-२

२६. निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं निराश्रयं निर्वपुषं निराशिषम्। निर्द्वन्द्व निर्मोहमलुप्तशक्तिकं तमीशमात्मा नमुपैति शाश्वतम्।।

२७- वेदानलोका न सुरा न यज्ञाः १-३४। वेदो न दीक्षा२-३१

२८-तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरंजनम् १-४३

२९- रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहितेरतः।

दृढ़बोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम् २-२४

ॐ

अथ केशवाष्टकम्

गुरु सत्यं अखिल चित्तं अति आनन्दकन्दनम्।
आदि मध्ये ध्रुवम् अन्तं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।१।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप सत्य स्वरूप, अखिल चैतन्य, महान् आनन्द के सागर आदि मध्य तथा अन्त में ध्रुव अर्थात् अचल हैं। ऐसे हे केशव गुरु नारायण! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ।।१।।

गुरु देव, अजं अचलं, शुद्धबुद्ध निरञ्जनम्।
निराकारं निराभासं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।२।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप अजन्मा, चिरस्थाई, शुद्ध, बोधरूप, निरञ्जन, नराभास हैं, ऐसे हे केशव (क=ब्रह्मा+ईश=रुद्र+व=विष्णु) देव गुरु नारायण! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ।।२।।

गुरु अवयं वासुदेवं, निष्कलो गगनोपमम्।
एक अखिलं गुणातीतं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।३।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप पूर्ण-श्रीकृष्णचन्द्र, निर्दोष, गगन के समान उपमा वाले, एक अखिल, गुणों से अतीत हैं - ऐसे हे केशवदेव गुरु नारायण! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।।

गुरु विमलं अति शान्तं, नित्यानन्दं माधवम्।
द्वन्द्वातीतं मति अतीतं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।४।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप निर्मल है, महा शान्त, नित्य आनन्द के देने वाले माधव हैं! द्वन्द्वों से अतीत, महाबुद्धि सागर, ऐसे हे केशवदेव गुरु नारायण! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ।।४।।

गुरु आतम परंब्रह्म, आदि ईश सनातनम्।
कलातीतं अति अनूपं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।५।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप आत्म स्वरूप, परमब्रह्म, जगत् के आदि भगवान्

और सनातन हैं। कलाओं से अतीत, महान् उपमा रहित हैं, ऐसे हे गुरुदेव केशव नारायण! मैं नित्य आपको प्रणम करता हूँ।।५।।

गुरु गुप्तं कवि मुक्तं भूमानन्दं जनार्दनम्।
विश्वनाथं शान्तरूपं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।६।।

भावार्थ - हे गुरुदेव आप गुप्त हैं, कवि हैं, मुक्त हैं, ब्रह्मा-नन्द-स्वरूप हैं, जनार्दन हैं, विश्वनाथ हैं, शान्त-स्वरूप हैं, ऐसे हे गुरुदेव! जय! केशव! नारायण! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ।।६।।

गुरु तूर्यं ज्ञानदीपम्, महाकालं महीपतिम्।
जगन्निवासं स्वयंप्रकाशं, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।७।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप तुरीयातीत, ज्ञान के दाता महाकाल शंकर हैं, आप ही हे गुरुदेव! पृथ्वी-पति ब्रह्मा हैं! आप ही विष्णुरूप हैं। आप ही निज प्रकाश में प्रकाशित हैं, ऐसे हे गुरुदेव केशव नारायण! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ।।७।।

गुरु नित्यं निजानन्दं, देशकाल प्रच्छेदतम्।
भजं चित्तं सत्यरूपम्, नित्यकेशव नमाम्यहम्।।८।।

भावार्थ - हे गुरुदेव! आप नित्य हैं, निजानन्द-स्वरूप हैं, देश काल वस्तु से रहित हैं, हे सत्यस्वरूप चैतन्यात्मा भजनीय गुरुदेव केशव नारायण! मैं नित्य आपको प्रणाम करता हूँ, बारंबार प्रणाम करता हूँ।।८।।

तत्सत् ॐ

ॐ

सन्ध्या आरती

"सन्ध्या आरती" प्रक्रियात्मक लघु किन्तु अत्यंत महत्त्व पूर्ण सूत्र ग्रन्थ है। इसे एक प्रकार से उपनिषदों और शास्त्रों का सार ही कहना चाहिए। विचारसागर जो कि वेदान्त का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रत्न है, और जिसे साधारण से लेकर उच्च कोटि के सिद्ध महात्मागण तक बराबर मनन किया करते हैं, उसका सार भी इस आरती में है। जिस प्रकार विचार सागर में तत्त्वदृष्टि, अदृष्टि और तर्क दृष्टि को 'तत्त्वमसि' 'अहंग्रह उपासना' तथा शास्त्रैक्यता द्वारा अधिकार भेद से गुरु ने उपदेश किया है, और उसके प्रथम अनुबन्ध, साधन चतुष्टय तथा-गुरुभक्ति की आवश्यकता और विधि बतलाई है, उसी प्रकार आरती में भी प्रक्रिया वर्णन की है।

प्रथम के दो दोहों में अनुबन्ध वर्णन कर, चौपाई नं. १ व २ में आत्मा का महत्त्व वर्णन किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि यद्यपि इस शरीर रूपी मन्दिर में परमात्मारूप आत्मा रहता है। तो भी उसका पता-बिना सद्‌गुरु की कृपा से नहीं लग सकता है। इसलिए सद्‌गुरु की शरण में जाकर उससे उपदेश ग्रहण कर, उसको मन में ठहराना चाहिए।

चौपाई नं. ३ से लेकर ९ तक ब्रह्म तथा माया के स्वरूप का वर्णन है। परन्तु यह स्वरूप बिना उत्तम अधिकार के एक दम रहता नहीं-अत्यंत शुद्धान्तःकरणी पुरुष को ही यह होना सम्भव है- इसलिए इसके ठहराने का उपाय चौपाई नं. १० से १९ तक में ध्यान तथा उसकी विधि बतलाई है।

'सोऽहं' को 'अजपा गायत्री' तथा तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का सूक्ष्म रूप शास्त्रों ने वर्णन किया है और उसकी विधि भी वर्णन की है, हंसोपनिषद्, ब्रह्मविन्दु उपनिषद् तथा अथर्वशीर्षोपनिषद् में इसकी विधि-विशद् रूप से वर्णित है। परन्तु यह विषय गुरुकृपा से ही गम्य हो सकता है, जैसा कि स्वयं इस आरती में लिखा है किः-

"बिन सद्‌गुरु नहीं पावे भेवा"।

इसके पश्चात-चौपाई नं. १९ से २४ तक ब्रह्मानन्द के विविध प्रकार तथा उसकी स्थिति वर्णन हुई है। चौपाई नं. २५ से ३९ तक में अनेक दृष्टान्तों द्वारा आत्मा की निर्लेपता, असंगता, प्रकाशता, नित्यता तथा जगत् की नश्वरता, असत्यता सिद्ध की है। इसके पश्चात के छन्द में फिर उपसंहार रूप से सारी आरती का सारांश वर्णन किया है और अन्त में जिस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए कहा है किः-"अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि" (गी.अ. १८-५८) अर्थात् हे अर्जुन! मेरे कहने पर अहंकार के वश हो, यदि ध्यान न देगा-तो नाश को प्राप्त होवेगा, उसी प्रकार इस आरती में भी अवधूत महाराज ने यही आज्ञा करी है किः-

"यदि अमोलक रत्न (स्वस्वरूप की प्राप्ति) चाहते हो तो इस गुप्त-सागर में बैठो, यह समय बीता जा रहा है, यदि ध्यान नहीं दोगे तो अन्त में रोओगे, पछताओगे!"

सबके अन्त में हजार बात की एक बात कही है कि "ज्ञान के सिवा मुक्ति नहीं। जिस प्रकार अन्धकार का नाश प्रकाश से ही हो सकता है, उसी प्रकार अज्ञान का नाश करने वाला एकमात्र ज्ञान ही है और इसकी प्राप्ति का मार्ग 'अभ्यास' है। जिस प्रकार कीड़ा भ्रमर के शब्दों को सुन ध्यान में रखने से भ्रमररूप हो जाता है, उसी प्रकार इसका भी ध्यान, विचार, अभ्यास करने से जीव, शिव हो जावेगा"।

यद्यपि यह आरती भाषा में है, परन्तु वेदान्त के सारे सिद्धान्तों का अति सूक्ष्मता से समावेश हो जाने से सरल होते हुए भी गूढ़ है। इसके रहस्य का जानना गुरु-मुख द्वारा ही हो सकता है।

* * * * * *

एक समय भगवान् शङ्कर सुरम्य कैलाश पर्वत के शिखर पर भगवती पार्वती के सहित विराजमान थे और दीक्षा विधि के क्रम से प्रणवादि महामन्त्रों को देवीजी से प्रसन्नता पूर्वक वर्णन कर रहे थे, उस समय भगवती पार्वती पति को प्रसन्न देखकर कहने लगी- हे देव! आपने मुझे प्रणव सहित मंत्र का उपदेश दिया है इस कारण में सर्वप्रथम प्रणव स्वरूप को जानना चाहती हूँ। हे शिव! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो इसका अवश्य वर्णन कीजिए! उस प्रार्थना को सुनकर भगवान शङ्कर पार्वती के पति कहने लगेः-

'प्रणवार्थ का परिज्ञान ही मेरे स्वरूप का ज्ञान है। प्रणव रूप मन्त्र सर्वविद्याओं का बीज है, ब्रह्म वट बीज के सदृश अति सूक्ष्म तथा महान् अर्थ वाला है। वह वेदों का आदि तथा सार है, एवं मेरा रूप है। मेरा स्वरूप है तीन गुणों से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वस्रष्टा, सर्व प्रभु, सर्वगत शिव स्वरूप में ही उस ॐकार में स्थित हूँ। तीन गुणों में न्यून प्राधान्य जोग से जगत में जो कुछ वस्तु है वह समष्टि व्यष्टि रूप से प्रणवार्थ ही है। यह प्रणव सर्व अर्थ का साधक है और अक्षर ब्रह्म है। इस कारण इसी प्रणव से सर्वप्रथम शिवजी जगत् का निर्माण करते हैं। जो शिव है वही प्रणव है जो प्रणव है वही शिव है, क्योंकि वाच्य और वाचक में कोई भेद नहीं होता इसलिए ब्रह्मर्षि लोग मुझे एकाक्षर ॐकार रूप ब्रह्म कहते हैं। मुमुक्षु को चाहिए कि वह प्रणव को ही सर्व कारण, निर्विकार, निर्गुण-शिव स्वरूप समझे।"

(महा विष्णुपुराण के सं. ३-१०९)

भगवान् स्वामी कार्तिक ऋषि वामदेव से कहते हैंः- "हे वामदेव! आपके स्नेह से मैं आपके ज्ञान के लिए इस श्रुति का वर्णन (तात्पर्य वर्णन) करता हूँ आप सुनें। शिव शक्ति का योग ही परमात्मा है (और वह परमात्मा ही आकाशादि के रूप में परिणत होता है। जैसे उपादान कारण मृतिका अपने से अभिन्न घटरूप ग्रहण करती है, जैसे दुग्ध दही के आकार में बदल जाता है अथवा जैसे रज्जू रूप उपादान अज्ञान के कारण सर्पादि आकार में परिणत हो जाता है, ऐसे ही ॐकार स्वरूप परब्रह्म पञ्चाकार में परिणत होता है) परमात्मा की पराशक्ति से चिच्छक्ति उत्पन्न होती है और चैतन्य शक्ति से आनंदशक्ति, उससे इच्छाशक्ति उससे ज्ञानशक्ति और ज्ञानशक्ति से पञ्चमी क्रियाशक्ति उत्पन्न हुई है और इन ही शक्तियों

से क्रमशः जगत् की उत्पत्ति हुई है। चिदानन्द शक्ति से नाद और बिन्दु उत्पन्न हुई है इच्छाशक्ति से मकार, ज्ञान शक्ति से ॐकार और क्रिया शक्ति से अकार-स्वर उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार प्रणव की सृष्टि हुई है और इस प्रणव से पञ्चब्रह्म की तत्पश्चात कलादि क्रम से आकाशादि की उत्पत्ति हुई है।" (के.स.अ. १६-५३-५७)। स्वामी कार्तिक ने जिस प्रकार परमात्मा की पञ्चशक्ति से प्रणव के आकारादि पञ्च वर्णों की स्वयं पंचमुख से प्रणव की उत्पति बतायी है उसी प्रकार भगवान शङ्कर ब्रह्मा-विष्णु से कहते हैंः-

ॐकार मेरे मुख से उत्पन्न होने के कारण मेरे ही स्वरूप का बोधक है, यह वाच्य है और मैं वाचक हूँ यह मंत्र मेरी आत्मा है, इसका स्मरण करने से मेरा ही स्मरण होता है, मेरे उत्तर की ओर से मुख से अकार पच्छिम के मुख से उकार दक्षिण के मुख से मकार, पूर्व के मुख से बिन्दु और मध्य के मुख से नाद उत्पन्न हुआ है इस प्रकार पांचों मुख से निर्गत हुए इन सब से 'ॐ' यह एक एकाक्षर बना है। सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत्, स्त्री-पुरुषादि भूत समुदाय एवं चारों वेद सभी इस मंत्र में व्याप्त हैं और यह शिव शक्ति का बोधरूप है।' ....शिव संहिता ८/१६/२०)

इसी प्रसंग में भगवान् शङ्कर ने प्रणव मन्त्रों से 'नमः शिवाय' मंत्र की भी उत्पत्ति बताई है। यथा-

श्लोकः- अस्मात् पञ्चाक्षरं जज्ञै बोधकं सकलस्य तत् अकारादि क्रमेणेव नकारादि यथा क्रमम्।।१।।००

अर्थात् - इसी प्रणव से पञ्चाक्षर मंत्र उत्पन्न हुआ है। अर्थात् आकार से नकार उकारसे मकार, मकार से शि बिन्दु से वा और नाद से य कार उत्पन्न हुआ है,

इसका नाम प्रणव क्यों है?

प्रो हि प्रकृति जातस्य संसारस्य महोदधे।
नवं नामान्तर मिती प्रणवं वै विदुर्बुधा।१०।।

अर्थातः- (प्र) प्रकृति से उत्पन्न हुए संसार-सागर के लिए (नवम्) यह प्रणव नौका रूप है, इस कारण पंडित लोग इसे प्रणव कहते हैं। अथवाः-

प्रः प्रपञ्चो हि नास्ति वो युष्माकं प्रणव बिदुः।
प्रकर्षेण नये हास्यान्मोक्षं वः प्रणवंविदु।।५।।

(प्र) प्रपञ्च (न) नहीं है (व) तुमसे अर्थात् जिसको जपने से संसार नहीं रहता उसका नाम प्रणव है।

अथवाः-

स्वजापकानां योगीनां स्वमंत्र पूजकस्यच
सर्वकर्मक्षयंकृत्वा दिव्यज्ञानंतु नूतनम्।।६।।

अर्थातः- अपना जप करने वाले योगियों और अपना पूजन करने वाले को उसके सर्वकर्म क्षय कर दिव्य ज्ञान देने से यह प्रणव कहलाता है।

अथवाः-

तमेव माया रहितं नूतनं परिचक्ष ते।
प्रकर्षेण महात्मान नवं शुद्ध स्वरूपकम्।।७।।

नूतनं वै करोतीति प्रणवं तं विदुर्बुधाः।।

अर्थात्:- माया रहित होने से प्रणव को 'नूतन' कहते हैं। यह महात्माओं को अत्यन्त नवीन शुद्ध रूप प्रदान करता है नूतन करने वाला होने के कारण पंडित लोग इसे प्रणव कहते हैं।

स्वयं शिवजी कहते हैं:-

ब्रह्मादि स्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु।
प्राण प्रणव एवायं तस्मात् प्रणव ईरितः।।

- (के.स.अ. ३/१४)

अर्थात्:- ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का यह 'प्रणव' ही प्राण है, इससे इसको 'प्रणव' कहते हैं।

हंस मंत्र में प्रणव की प्राप्ति।

प्राणी मात्र श्वास प्रश्वास में हंस मंत्र का उच्चारण करते हैं। इस मंत्र में भी सदा प्रणव का ही जप होता है। इस बात को भगवान कार्तिकेय स्वामी वामदेव के प्रति कहते हैंः-

प्रतिं लोमात्मके हंसे वक्ष्यामि प्रणवोद्भवम्।
तव स्नेहाय वामदेव! सावधान तथा शृणु।।

व्यञ्जनस्य सकारस्य हकारस्य व वर्जनात्।
ओमित्येव भवेत् स्थूलो वाचक परमात्मनः।।

अर्थात्ः- हे वामदेव! हंस मंत्र के प्रतिलोम (विपरीत) सोऽहं मंत्र से प्रणव की प्राप्ति के विषय में मैं तुम से कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। व्यञ्जन (हंल) 'स' कार और 'हं' कार के वर्जन से 'ॐ' इस प्रकार परमात्मा का वचन स्थूल अक्षर होता है।

इस प्रणव मंत्र को 'तारक' मंत्र कहा जाता है क्योंकि इस मंत्र द्वारा प्राणीमात्र भवसमुद्र से तर जाते हैं। भगवान् शङ्कर कहते हैंः-

एन मेवेहि देवेशि सर्वमंत्रशिरोमणिम्।
काश्यामहं प्रदास्यामि जीवानां मुक्ति हेतवे।।

अर्थातः- 'हे देवी मंत्रों के शिरोमणि इस ॐकार को ही मैं, काशी में प्राण त्याग करने वाले जीवों को मुक्ति हेतु देता हूँ'। स्वामी कार्तिकेय भी वामदेव के प्रति कहते हैंः-

एनमेव महामंत्रं जीवानाञ्च तनुत्यजाम्।
काश्यां संश्राव्यामरणे दत्ते मुक्ति पराम शिव।।

अर्थातः- शिवजी काशी में शरीर त्याग करने वाले को मरते समय इसी महामंत्र का उपदेश देकर मुक्त करते हैं।

प्रणव का विषय।

भगवान् शिवजी पार्वती के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं:-

विषयः स्यामहं देवि जीव ब्रह्मैक्य भावनात्।

अर्थात्:- जीव ब्रह्म की एक भावना से मैं (शिव) ही इस का विषय हूँ।

स्वामी कार्तिकेय वामदेव से कै.स.अ.१२ के श्लोक ५-६ में कहते हैं:- मैं दक्षिण भुजा उठाकर शपथ पूर्वक कहता हूँ कि यह सत्य है, सत्य है, प्रणव प्रधान तथा साक्षात् शिवजी का ही वाचक हो गया है। यही बात श्रुति स्मृति, शास्त्रपुराण और आगमों में भी बताई गई है।

इसके अधिकारी।

अधिकारी भवेद्यस्य वैराग्यं जायते दृढ़म्।

अर्थात्:- जिसे दृढ़ वैराग्य हो वही इसका अधिकारी है।

शमादि धर्म निरतो वेदान्त ज्ञान पारगः।
अत्राधिकारी स प्रोक्तो यतिर्विगतमत्सरः।।

अर्थात्:- शम-दमादि धर्म में निरत, वेदान्त ज्ञान के पारगामी मात्सर्य रहित यत्नशील उपासक ही इसके अधिकारी हैं। प्रणव मेरी (शिव) और जीव आत्मा की एकता का वाचक है-अतः इस एकता का प्रणव के साथ वाच्य, वाचक भाव संबंध हैं।

प्रणव का स्थान

आधार, मणिपुर, हृदय, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र, शक्ति और शांति ये काल-क्रम से प्रणव के स्थान हैं। हे देवि! शान्त से जो अतीत है उसको परात्मक कहते हैं।

-(के. सं.३-३४-३५)

उपासना विधि।

उपासक स्वच्छ शोक रहित, उज्ज्वल, अष्टदल कमल के समान मकरन्द युक्त, कर्णिका से शोभायमान, हृदय कमल के मध्य में आधारशक्ति से आरंभ करके त्रि तत्त्वमय उत्तम पद का ध्यान करके दहर व्योम की भावना करे। ॐ इस

एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण कर तुम्हारे साथ मेरा दहराकाश के बीच में सदा उत्कण्ठा से चिन्तर करें।

फल

एवं विधोपासकस्य मल्लोकगतिमेवचः।
मतो विज्ञान मासाद्य मत्सायुज्य फलं प्रिये।।

अर्थातः- हे देवि इस प्रकार का उपासक मेरे लोक की गति और मुझसे विज्ञान प्राप्त करके मेरे साथ सायुज्य मुक्ति रूप फल को प्राप्त होता है।

(ब) मंत्र योग का लक्षण श्री योगबीज में श्री ईश्वर ने नीचे लिखे अनुसार बताया हैः-

''हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मंत्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा।।

गुरुवाक्यान्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जय।
सोऽहं सोऽहं मिति प्राप्तो मंत्र योग स उच्यते।।

अर्थातः- शरीर में वायु हकार से बाहर आता है और सकार से पुनः शरीर में प्रवेश करता है ऐसी क्रिया द्वारा 'हंस' 'हंस' इस रीति का मंत्र यह जीव सर्वदा जपता है श्री गुरु वाक्य से सुषुम्णा में 'हंस' 'हंस' से उलटा 'सोहं' 'सोहं' इस रीति को प्राप्त हुआ जो जप होता है उसे मंत्र योग कहते हैं।

मनुष्यादि जीव आरोग्य स्थिति में एक अहोरात्र में २१६०० हंस मंत्र का स्वाभाविक उच्चार करता हैः-

''एक विंशति सहस्रं षटशताधिकमीश्वरी।
प्रत्यहं जपते प्राणी हंस इत्यक्षर द्वयम्।।

इस सोऽहं मंत्र का शरीरस्थ चक्रों में कहां कितने जप किस भावना को लेकर करना इसके संबंधमें गरुड़ पुराण में लिखा हैः-

आधारंतु चतुर्दला नलसमं वासांत वर्णाश्रयं।
स्वाधिष्ठानमपि प्रभाकर समं बालांत षट् पत्रकम्।।

रक्ताभं मणि पूरकं दशदलं डाद्यं फकारांतकम्।
पत्रैर्द्वादशभिस्त्व नाहत पुरं हैमं कंठात्तावृतम्।।
पत्रे सस्वर षोडशैः शशिधर ज्योतिर्विशुद्धांबुजम्।
हंक्षेत्यक्षर युग्मकं द्वयदलं रक्तामे मात्रांबुजम्।।
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमिदं पद्यं सहस्रच्छदं।
सत्यानंदमयं सदाचित्रमयं ज्योतिर्मयं शाश्ववतम्।।
गणेशं च विधि विष्णुं शिवं जीवं गुरुं ततः।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिंतयेत्।।
षट् शतं गणनाथाय षट् सहस्रंतु वेधसे।।
षट् सहस्रं च हरये षट् सहस्रं हराय च।।
जीवात्मने सहस्रं च सहस्रं गुरवे तथा।
चिदात्मने सहस्रं च जप संख्या निवेदयेत्।।

* * * * * *

"स एव जप कोट्या नाद मनुभवति" - हंसोपनिषद्

नादो दशविधो जायतेः चिणीति प्रथम, चींचिणीति द्वितीय, घंटानादस्तृतीय; शंखनादश्चतुर्थः, पंचमस्तंत्रीनाद, पष्ठस्तालनाद; सप्तमो वेणुनाद, अष्टमो मृदंग नाद; नवमो भेरी नाद; दशमो मेघ नाद; नवमं परित्यज्य दशममेवाध्यसेत्।।

* * * * * *

प्रथमे चिंचिणी गात्रं द्वितीये गात्र भंजमन्।
तृतीये स्वेदनं याति, चतुर्थे कम्पते शिर।।
पंचमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतानिषेवणम्।।
सप्तमे गूढ़ विज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे।
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथा मलम्।।
दशमे परमंब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्म सन्निधो।।

* * * * * *

तस्मिन मनो विलीयते मनसि संकल्प विकल्पे दग्धे पुण्यंपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्र वस्थितः स्वयं..............इति

* * * * * *

ऐसा जप जपो मन लाई, सोऽहं सोऽहं अजपागाई।
आसन दृढ़ करि धरो ध्यान, अह निसी सुमिरौ ब्रह्मज्ञान
नासा अग्र निज ज्यों बाई, इड़ाप्यंगुला मधी समाई।
छसै सहंस इक्कीसौ जाप अन हद उपजै आपै आप।।
बंक नाल में ऊगै सूर, रोम रोम धुनि बाजे तूर।

उलटै कमल सहस्र दल वास,

भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकाश।

घटहीं रहिबा मन न जाई दूर,

अहि निसी पीवै जोगी वारुणी सूर।

स्वाद विस्वाद बाइ कालछीन

तब जाणिबा योगी घटकालछीन।।

* * * * * *

काया गढ़ भीतर देव देहुरा कासी

सहज सुभाई मिले अविनासी।।

श्लोकः- समाधिश्च परं योगं बहु भाग्येन लभ्यते।

गुरोः कृपा प्रसादेन, प्राप्यते गुरु भक्तितः।।१।।

विद्या प्रतीतिः स्वगुरु प्रतीति

रात्म प्रतीतिर्मनस प्रबोध।

दिने दिने यस्य भवेत्स योगी।

सुशोभनाभ्यास मुपैति सद्य।।२।।

घटाद्भिन्नं मनः कृत्या ऐक्यं कृत्वा परात्मानि।
समाधि तद्विजानीयान्मक्त संज्ञो दशादिभिः।।३।।

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोक भाक्।
सच्चिदानंद रूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान्।।४।।

शांभव्या चैव खेचर्य्या भ्रामर्य्या योनि मुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लय सिद्धिश्चतुर्विधा।।५।।

पंचधा भक्ति योगेन मनोमुर्छो च षड्विधा।
षड्विधोयं राजयोगः प्रत्येकमवधारय।।६।।

ध्यानयोग।

शांभवी मुद्रिकां कृत्वा आत्म प्रत्यक्ष मानयेत्।
बिन्दु ब्रह्म सकृदृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजियेत्।।७।।

खमध्ये कुरुचात्मानं आत्म मध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खंमयं दृष्ट्वा न किंचिदपि बाधते
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्तरः।।८।।

नाद योग समाधि विधिः।

साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वं गता सदा।
तदा समाधिः सिद्धिः स्याद्धित्वासाधारण क्रियाम्।।९।।
अंतस्थं भ्रामरी नादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र, आनंदः सोहमित्युतः।।

लय योग।

योनि मुद्रां समासाद्य स्वयं शक्ति मयो भवेत्।
सुश्रृंगार रसेनैव विहरेत्परमात्मनि।।
आनन्दहृदयो संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेतियाऽद्वैत समाधिस्तेन जायते।।

भक्तियोग समाधि विधिः।

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम्।
चितंयेत भक्ति योगेन परम ह्लाद पूर्वकम्।।

आनंदाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजापते।
समाधिः संभवेतेन संभवेच्चा मनोन्मनी।।

राजयोग समाधि विधिः।

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परमात्मनः समायोगात् समाधिं सम वाप्नुयात्।।

जले विष्णु स्थले विष्णु विष्णु पर्वत मस्तके।
ज्वाला माला कुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।

(घेरन्ड संहिता)

काके शौच द्यूतकारे च सत्यं

सर्पेक्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।

क्लीबे धैर्य मद्यपे तत्व चिन्ता

राजा मित्रं केनदृष्टं श्रुतं वा।।१।।

* * * * * *

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञान बल दुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रंजयति।।

सुख कर मूढ़ रिझाइये अति सुख पंडित लोग।
स्वल्प ज्ञान गर्विष्ठ को विधिहुन रिझवन योग।

जो मूरख उपदेश के होते योग जहान।
दुर्जोधन कहं बोध किन आए श्याम सुजान।।
फूले फले न वेत यदपि सुधा बरसइ जलद।
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरंचि सम।।
विगर्‌यो होय कुसंग जिहि कौन सकै समुझाय।
लसन बसाये वसन को कैसे सकै बसाय।।१।।

- (वृन्द)

मूरखता के ढकन को रच्यो विधाता मौन।
ज्ञानि-सभा मँह आभरण अज्ञहिं गुण को भौन।
हम जानते थे इल्म से कुछ जानेंगे।
जाना तो यह जाना कि ना जाना कुछ भी।।
- (जौक)

अभ्यासः-

अभिवायु वीत्यर्षागृणा नो३मिमित्रा वरुणा पूय मानः अभिनरं धी जब नरथेष्टामंमीन्द्रं वृषणं वज्र वाहुम्।।

(ऋग्.वे. ९/९७/४९)

हे विद्वान! कोष्ठगत वायुरूप प्राण को सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिए प्रेरित कर एवं प्राण और अपान दोनों को पावन करता हुआ, उत्तम रूप से गति देता हुआ उनको भी प्रेरित कर इस देह रूप रथ पर सारथी बनकर स्थित ध्यान सङ्कल्प मात्र से वेग से जाने वाले इन्द्रिय गणों के नेता मन को उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और नित चित्त होकर हे सोम! विद्वान तब अज्ञान के नाश करने वाले ज्ञान रूप वज्र को हाथ में ले ऋतम्भरावस्था में प्रज्ञाऽऽलोक के खुल जाने पर सब सुखों के वर्षक उस आत्मा को साक्षात कर।।

अयुक्त सुर एतशं पवमानो मनावधि अन्तरिक्षेण यारवे।।

- (साम९/६/८/२)

आत्मा को पवित्र करने वाले सूर्य के समान ज्ञानी मननशील चित्त में भीतर के हृदयाकाश में परम सुख या मोक्ष मार्ग में जाने के लिए अश्व के समान गमनशील मन को योग समाधि द्वारा ईश्वर से मिल उसके प्रति जोड़े।

युक्तेन मनशा वयम देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्तया।।

(यजु।।११/२।।)

सब मनुष्य की इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्ष सुख के लिए यथा योग्य सामर्थ्य के बल से, परमेश्वर की सृष्टि में उपासना-योग करके अपनी

आत्मा को शुद्ध करे जिससे अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हो।

अथतत्दर्शनाभ्युपायो योगः।

उस परमात्मा के ज्ञान का उपाय योग है।

श्रद्धा भक्ति ध्यान यो गाद वेहि।

- (कैवल्योपनिषद्)

श्रद्धा भक्ति ध्यानयोग द्वारा आत्मा को जानो।
सूक्ष्मतां चान्वनेक्षेतयोगेन परमात्मनः।

- (मनुः) ६.६५

योगाभ्यास के परमात्मा की सूक्ष्मता को देखे।
ध्यानयोगेन सम्यश्येन्दतिमस्यांतरात्मनः।

- (मनुः ६/७३)

ध्यान योग से ही आत्मा जाना जासकता है, इसलिए ध्यान योग परायण होना चाहिए।

श्लोकः- ईज्याचार दमाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्ः।
अयंतु परमोधर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्।।

- (याावल्क्य)

यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय कर्मों के मध्य में यही परम धर्म है जो कि योग से आत्मा का ज्ञान हो।

अपिच संराधने प्रत्यक्षानु मानाभ्याम्।

ध्यानकाल में योगी लोग निरस्त समस्त-प्रपंच परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं क्योंकि श्रुति-स्मृतियों में ऐसे ही प्रतिपादित हैं।

- (वेदव्यास)

श्लोकः- समाधि विशेषाभ्यासात। - (गोतम ४/२/३८)

समाधि विशेष के अभ्यास से तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है।

श्लोकः- योगात सञ्जायते ज्ञानं योगोमय्येक चितता।

योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और योग नाम मेरे (ईश्वर) विषयक चित्त की एकाग्रता का है। -(आदित्य पुराण)

श्लोकः- आत्मज्ञानेन मुक्तिस्यात तच्चयोगादृते नहि।

आत्मज्ञान से मुक्ति होती है और वह ज्ञानयोग के बिना दुर्लभ है।

(स्कन्द पुराण)

श्लोकः- योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेष पाप पञ्जरम्।

प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छतिः।।

योगरूप अग्नि शीघ्र निखिल पाप-पञ्जर पुञ्ज को दग्ध कर देता है। उस पाप के दग्ध होने से प्रतिबन्ध रहित ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से निर्वाण संज्ञक मोक्ष प्राप्त होता है।

- (कूर्म पुराण)

ॐ
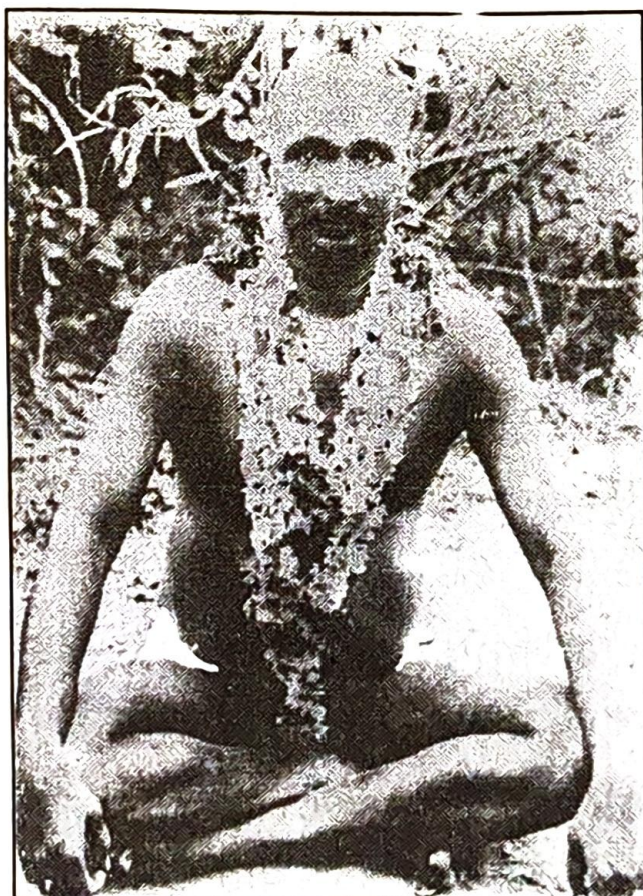
ब्रह्म नामावली स्तोत्रम्।

सकृच्छ्रवण मात्रेण ब्रह्मज्ञानं यतो भवेत।
ब्रह्मनामावलि माला सर्वेषां मोक्ष सिद्धये।।१।।

असंगोऽहमसंगोऽहमसंगोऽहं पुनः पुनः।
सच्चिदानन्द रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।२।।

नित्य शुद्ध विमुक्तोऽहं निराकारोऽहमव्ययः।
भूमानंद स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।३।।

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निराकारोऽहमच्युतः।
परमानंद स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।४।।

शुद्ध चैतन्य रूपोऽहं आत्मा रामोऽहमेवचः।
अखंडानंद रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।५।।

शाश्वतानंद रूपोऽहं शांतोऽहं प्रकृतेः परः।
प्रत्यक् चैतन्य रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।६।।

तत्त्वातीतः परमात्मा मध्यातीतः परः शिवाः।
मायातीतः परंज्योतिरहमेवाहमव्ययः।।७।

नामरूपव्यातीतोऽहं चिदाकरोऽहमच्युतः।
सुखरूप स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।८।।

माया तत्कार्य देहादि मम नास्त्येव सर्वदा।।
स्वप्रकाशैक रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।९।।

गुणत्रय व्यतीतोऽहं ब्रह्मादिनां च साक्ष्यहम्।
अनंतानंत रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।१०।।

अन्तर्यामी स्वरूपोऽहं कूटस्थः सर्वगोऽस्म्यहम्।
परमात्म स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।११।।

निष्कालोऽहं निष्क्रियोऽहं सर्वात्मा च सनातनः।
अपरोक्ष स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।१२।।

द्वंद्वाहिसाक्षिरूपोऽहमचलोऽहं सदोदितः।
सर्वसाक्षि स्व रूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।१३।।

प्रज्ञानघन एवाहं विज्ञानघन एव च।
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमहमेवाहमव्ययः।।१४।।

निराधार स्वरूपोऽहं सर्वाधारोऽहमेवच।
आप्तकाम स्वरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः।।१५।।

तापत्रय विमुक्तोऽहं देहत्रय विलक्षणः।
अवस्थात्रय साक्ष्यस्मिह्यहमेवाहमव्ययः।।१६।।

दृग दृश्यौ द्वौ पदार्थोस्तः परस्पर विलक्षणैः।
दृग ब्रह्म दृश्य मयोति सर्ववेदान्त डिंडिमः।।१७।।

घटा कुड्यादिकं सर्वं मृत्ति मात्रमेव च।
तद्वद् ब्रह्म जगत्सर्वमिति वेदान्त डिंडिम।।१८।।

अहं साक्षीतियोविद्या द्विविच्यैनं पुनः पुनः।
स एवमुक्तोऽसौ विद्वानिति वेदान्त-डिंडिम।।१९।।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
अनने वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्त डिंडिम।।२०।।

अंतर्ज्योतिर्बहिर्ज्योतिः प्रत्यग् ज्योतिः परात्परः।
ज्योति ज्योतिः स्वयं ज्योतिरात्म ज्योतिः
शिवोऽस्म्यहम्।।२१।।

तत्सत्

||ॐ||

सन्ध्या आरती

जेती सन्ध्या आरती, लिखते सबका सार।
सांझ समझ याकों पढ़े, समुझे सार असार।।१।।

भावार्थः- जितनी सन्ध्या-आरती हैं, उन सबका सार (सारांश) लिखते हैं, जो कोई इसे सायंकाल के समय पढ़ेगा, उसकी समझ में सब बात आजावेगी कि संसार में सार वस्तु क्या है और असार क्या है।

पढ़े सुने अति प्रीतियुत, अरु पुनि करै विचार।
ज्ञान भानु छिन-छिन उदय है आतम दीदार।।२।।

भावार्थः- जो कोई इसे बड़े प्रेम के साथ पढ़ेगा अथवा सुनेगा और फिर उस पर विचार करेगा, उसके लिए ज्ञान रूपी सूर्य का क्षण क्षण उदय होकर आत्मा का दीदार स्वरूप की प्राप्ति होगी।

(श्री गुरुदेव अपने शिष्य के प्रति कहते हैं)

चौपाई

ऐसी आरती तोहि सुनाऊँ। जन्म मरण को धोय बहाऊँ।
ऐसी आरति कीजे हंसा। छूटे जाति वरण कुल वन्सा।।१।।

भावार्थः- हे हंस (जीव) शिष्य! ऐसी तुझे आरती सुनाता हूँ- जिससे तेरा जन्म मरण मिट जाय, हे जीव रूपी हंस! आरती ऐसी करना चाहिए कि जिससे जाति-वर्ण-कुल-वंश सब साफ हो जाएं।।१।।

काया मांहि देव है ऐसा। दूजा और नहीं कोई तैसा।
काया देवल आतम देवा। बिन सत्‌गुरु नहिं पावे भेवा।।

भावार्थः- इस शरीर में एक ऐसा देव है कि जिसके समान दूसरा कोई नहीं है। इस काया रूपी मंदिर में आत्मा रूपी देव है, परन्तु सद्‌गुरु की कृपा के बिना उसका रहस्य नहीं मिलता।

(जिसे इस प्रकार के रहस्य को जानने को आकांक्षा को उसे चाहिए कि)-

पहिले गुरु-सेवा चित लावे। तासे सकल विधी को पावे।
जो युक्ती गुरुदेव बतावे। तामें अपना मन ठहरावे।३।।

भावार्थः- सबसे प्रथम गुरु-सेवा में चित्त लगाकर उनसे सब विधि प्राप्त करे, गुरुदेव जो युक्ति बतावें उसमें अपने मन को स्थिर करे।

माया का सब झूठ पसारा। सत् है चेतन रूप तुम्हारा।।
पाँच अंश सब ही में जानो। अस्ति भांति प्रिय सत्य बखानो।।४।।

भावार्थः- हे शिष्य! यह संसार रूपी पसारा सब माया का है, जो झूठा है, केवल तुम्हारा रूप जो चैतन्य है वही सत्य है। सबमें पाँच अंश- नाम, रूप, अस्ति, भांति, प्रिय होते हैं। इनमें अस्ति, भांति, प्रिय-सत्य कहे जाते हैं।

नामरूप झूठे व्यभिचारी। तिनसे भूलि न कीजै यारी।
तीन सच्चिदानन्द पिछानों। तिनको ब्रह्म-रूप करि मानों।।५।।

भावार्थः- शेष जो 'नाम' तथा 'रूप' हैं ये मिथ्या तथा व्यभिचारी हैं इनसे भूलकर भी स्नेह नहीं करना। पिछले तीन (अस्ति, भांति, प्रिय) को सच्चिदानन्द जानो-समझो और इन्हीं को ब्रह्मरूप करके मानो।।५।।

सो है ब्रह्म आपना रूपा। ऐसे वेद कहते मुनिभूपा।।
दो झूठे मायाकृत देखे। तिनको सत्य कबहु नहिं पेखे।।६।।

भावार्थः- यही ब्रह्म अपना स्वरूप है ऐसा वेद और मुनियों के भूप अर्थात्-मुनिराजों ने कहा है। प्रथम दो अर्थात् नाम और रूप झूठे तथा माया के बने हुए हैं ऐसा देखो। इनको कभी ऐसा मत समझो कि यह सत्य हैं।।६।।

माया नाम कहत मुनि उसका। परमारथ से रूप न जिसका।।

अचिन्त्य शक्ति कर ताहि बतावे। युक्ति आगे रहन न पावे।।७।।

भावार्थः- मुनि लोग कहते हैं- जिसका परमार्थ से कोई रूप नहीं है, उसका नाम 'माया' है। यह युक्ति के आगे ठहर नहीं सकती, इस माया को अचिन्त्य शक्ति बतलाते हैं।।७।।

सो युक्ति अब कहौं बताई। जाते माया रहन न पाई।।
सत्य असत्य नहीं कछु भाई। नहिं दोनों पद मिल कर गाई।।८।।

भावार्थः- हे भाई! वह युक्ति अब कहकर बतलाता हूँ, जिससे माया रहने न पावे। यह माया न तो (१) सत्य है, न (२) असत्य और न (३) दोनों पद मिल कर कही गई है।

नहिं वह कहिये भिन्न अभिन्ना। नहिं दोनों पद मिलि उत्पन्ना।।।
नहिं सावेव नहीं निरवेवा। दोनों मिलि नहिं होय अवेवा।।९।।

भावार्थः- न वह (४) भिन्न है, न (५) अभिन्न और न (६) दोनों पद मिल कर उत्पन्न ही है। न वह (७) सावयव है न (८) निरवयव और न ही (९) दोनों पद मिलकर अवयव वाली ही है।।९।।

यह नवयुक्ति जिसने जानी। तिसके माया भरती पानी।
यह सब युक्ति गुरु से जाने। फिर कीजे निज आतम ध्याने।।१०।।

आतम पूजा बहु विधि कीजे। जाते सकल अविद्या छीजे।।
सोऽहं थाल बहुत विधि साजे। स्वास स्वास पर घंटी बाजे।।११।।

ये नौ युक्तियाँ जिसने समझ ली उसके सामने माया पानी भरती है। ये सब युक्तियाँ गुरु से जानो और फिर निज आत्मा में ध्यान लगाओ।।१०।।

भावार्थः- आत्मपूजा बहुत प्रकार से करो, जिससे सब प्रकार की अविद्या का नाश हो। सोऽहं की थाल बहुत पकार से साजो-सजाओ और स्वास स्वास पर घंटी बजे।।११।।

संयम ओट करे दिन राती। ज्ञान दीप बाले बिन बाती।।
जस दीपक का होय उजाला। अन्धकार नशिजा ततकाला।।१२।।

भावार्थः- फिर दिन रात संयम की ओट करो और बिना बत्ती के ज्ञान रूपी दीपक जलाओ। यह प्रत्यक्ष ही है कि जैसे ही दीपक का प्रकाश होता है कि अन्धकार तत्काल नाश को प्राप्त हो जाता है।।१२।।

आगे श्रीगुरुदेव कहते हैंः- हे शिष्य!

झांझ झनक चेतन की झनकी। मूल अविद्या सारी छिनकी।
मन मिरदंग तान कर कूटा। धृक धृक कहन लगा मैं झूठा।।१३।।

भावार्थः- चैतन्य झांझ की झनकार के झनकते ही सारी मूल अविद्या छिटक जाती है। मनरूपी मृंदग को ज्यों ही तानकर (एक तार बाँधकर) कूटा (बजाया) तो कहने लगता है कि- धिक्कार है धिक्कार है, मैं झूठा हूँ-मैं झूठा हूँ।।१३।।

चित का चंदन घसि कर लाया। तब ही देव निरञ्जन पाया।
बुद्धि ताल बजावन लागी। क्रोड़ जन्म की सूती जागी।।१४।।

भावार्थः- जब चितरूपी चन्दन को घिसकर लगाया तब ही निरञ्जन देव प्राप्त हुआ ऐसी स्थिति में बुद्धि ताली ठोकने लगी कि मेरी-ब्रह्माकार वृत्ति जो करोड़ों जन्म से सोई हुई थी अब जागी।।१४।।

अहंकार का बाजा घंटा। बहुत काल का टूटा टंटा।।
चिदाभास ने शंख बजाया। अपना रूप हमें अब पाया।।१५।।

भावार्थः- तब अहंकार का घंटा बजा, अर्थात् बोला कि मैं शून्य हुआ और बहुत समय का टंटा जो फंसा हुआ था वह टूट गया-झगड़ा पाक हुआ। ऐसी स्थिति में चिदाभास ने शंख बजाया अर्थात् कहा कि अब हमें अपने स्वरूप की प्राप्ति हो गई।।१५।।

चिदाभास का कीना त्याग। कूटस्थ रूप में कीना राग।।
आभास रूप को त्यागा जब ही। रूप अक्रिय पाया तबही।।१६।।

भावार्थः- परन्तु यह स्थिति स्थायी नहीं इस लिए चिदाभास अर्थात् जीवभाव का त्याग करके कूटस्थ (शुद्ध चैतन्य) स्वरूप में प्रेम किया और ज्यों ही आभास रूप का त्याग किया तब ही से अपना अक्रिय स्वरूप प्राप्त किया।।१६।।

ता साक्षी कर सदा अभेदा। ब्रह्मरूप यह गावत वेदा।
जिमि जलाकाश अरु घटाकाशा। महाकाश में सबका बासा।।१७।।

भावार्थः हे शिष्य! यह जो अक्रिय स्वरूप अर्थात् चैतन्य साक्षी है, उसका तेरे से सदा अभेद है वेद का यह कथन है कि-यही ब्रह्म स्वरूप है। जैसे कि जलाकाश घटाकाश आदि सबका महाकाश में वास है।।१७।।

यह दृष्टान्त विचारे मन में। ब्रह्मरूप पावे या तन में।।
ऐसी कीजे आतम संध्या। जाते जीव छुटे यह बन्ध्या।।१८।।

भावार्थः- जो इस दृष्टान्त को मन में विचारता है वह अपने शरीर में ही ब्रह्मरूप को पा लेता है। इस प्रकार से आत्मसंध्या करो जिससे जीव इस बन्धन से मुक्त होवे।।१८।।

ऐसी सन्ध्या आरती कीजे। जाते देव निरञ्जन रीझे।।
इन्द्रिय अरु तिनके सब देवा। करन लगे हैं आतम सेवा।।१९।।

भावार्थः- हे शिष्य! ऐसी आरती करो, जिससे निरंजन परमात्मा प्रसन्न होवे। पूर्व में जिन्होंने ऐसे निरंजन देव को रिझा लिया है, उनकी इन्द्रियाँ और उनके सब अधिदेव आत्म-सेवा करते रहे हैं-अर्थात् सबकी प्रवृत्ति आत्मा की ओर होने लगी है।।१९।।

भये मुदित सब करें विचारा। आतम अपना रूप निहारा।।
कोई नाचै कोई गावे। कोई मौन गहे रहि जावे।।२०।।

भावार्थः- अपना आत्मरूप अनुभव कर अर्थात् अपरोक्षानुभव कर सभी प्रसन्न और विचार करने लगे। ऐसी स्थिति में कोई अनुभवी नाचते हैं, कोई गाते हैं और कोई मौन धारण कर रह जाते हैं।।२०।।

कोई ताल बजावन लागे। आतम मांहि हुए अनुरागे।
प्रीति पुष्प चढ़ावन लागे। ध्यान धूप को लावन लागे।।२१।।

भावार्थः- कोई तालियाँ बजाने लगे, कोई आत्मनुरागी हुए प्रीति-पुष्प-चढ़ाने लगे हैं और कोई ध्यानरूपी धूप लगाने लगे हैं।।२१।।

वृत्ति करे ब्रह्म का गाना। और नहिं कछु भाखत आना।।
ऐसे कहि के ब्रह्म समाई। भेद भरम सब दिया उड़ाई।।२२।।

भावार्थः- उनकी वृत्ति ब्रह्म का गान करने लगी है और कहती है कि मुझे और कुछ बोलना शेष नहीं है। ऐसा कह कर ब्रह्म में समागयी-लीन हो गई। इस प्रकार उनका भेदभ्रम उड़ा दिया।।२२।।

लौन पूतरी जावे नीरा। उलट बात कुछ कहे न वीरा।
आप रूप सब दिया गंवाई। होय उदक दक मांहि समाई।।२३।।

भावार्थः- (हे शिष्य! उन आत्मानुभवियों की कैसी स्थिति होती है सो सुन) जिस प्रकार नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने को जाती है और फिर लौट कर समाचार कहने को (पता बताने की) नहीं आ सकती। क्योंकि-उसने अपना सब रूप खो दिया। जल होकर जल में लीन हो गई।।२३।।

जो कुछ सूक्षम या स्थूला। औ कारण था तिनका मूला।।
सब ही चेतन है परकाशा। द्वैत अद्वैत सभी जहं नाशा।।२४।।

भावार्थः- जो कुछ स्थूल सूक्ष्म था और जो कुछ इनका मूलकारण अज्ञान था सब चैतन्य होकर प्रकाशमान हो गया, जहाँ द्वैत अद्वैत सभी का लय हो गया।।२४।।

सन्ध्या आरती करो विचारा। छूटे भरम करम संसारा।।
लोक वेद की छाँड़ो आशा। तब देखोगे ब्रह्म तमाशा।।२५।!

भावार्थः- इस प्रकार संध्या आरती का विचार करोगे तो संसार के भ्रमरूपी सब कर्म छूट जावेंगे। जब लोक वेद की आशा छोड़ोगे, तब तुम्हें ब्रह्म की लीला देखने में आवेगी।।२५।।

(अब गुरुदेव इस सन्ध्या आरती का माहात्म्य कथन करते हैं किः-)

ऐसी सन्ध्या आरती गावे। बहुरि वो जगत् जन्म नहिं पावे।
टूटे बंधन होय खलासा। जन्म मरण का मिटिजा सासा।।२६

भावार्थः- जो इस प्रकार संध्या आरती गाता है- वह इस संसार में फिर जन्म नहीं लेता है, उसके सब बन्धन छूटकर खलास हो जाते हैं-जन्म मरण का संशय मिट जाता है।।२६।।

बन्ध मुक्त याते सब जाने। आतम शुद्ध रूप पहिचाने।
बन्ध विहीन एक नहिं दोई। ताकी मुक्ति कौन विधि होई।।२७

भावार्थः- इसी से सब बन्धन और मुक्ति जानो-दोनों भ्रम करके हैं, इसलिए मिथ्या जानो। बन्धन से रहित मुक्ति दो नहीं एक ही है, उसकी मुक्ति किस प्रकार

होवे? अर्थात् जो मुक्त है उसकी मुक्ति ही क्या?।।२७।।

बन्ध मुक्त माया कृत जाने। आतम शुद्ध रूप पहिचाने।
ध्यान अरु ज्ञान नहीं कोई जामें। साधन साध्य नहीं कोई तामे।।२८।।

भावार्थः- बन्धन और मुक्ति, माया, कृत जानो, आत्मा, को शुद्ध रूप पहिचानो, न उसमें ध्यान है-न ज्ञान, न कोई साधन है न कोई साध्य है।।२८।।

द्वैत अद्वैत नहीं कछु झगड़ा। न कछु बन्या नहीं कछु बिगड़ा।
अजर अमर आतम अविनाशी। चेतन शुद्ध रूप परकाशी।।२९।।

भावार्थः- न उसमें द्वैत अद्वैत का झगड़ा है, न कुछ बना है, न कुछ बिगड़ा है। आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है, चैतत्य स्वरूप प्रकाशमान हैं।।२८।।

सजाती विजाती न तामें कोई। स्वगत भेद फिर कैसे होई।।
नहि वह वृद्ध नहि वह बाला। स्वेत पीत हरता नहि काला।।३०।।

भावार्थः- उसमें सजाति-विजाति कोई भेद नहीं है, तो फिर स्वगत भेद कैसे हो सकता है? न वह वृद्ध है-न बालक न वह स्वेत है-न पीला है न हरा है न काला है।।३०।।

नहिं वह पुरुष नहीं वह नारी। नहिं सन्यासी नहिं ब्रह्मचारी।।
लक्ष अलक्ष नहीं कछु तामें। वाच्य अवाच्य बनै जहिं जामें।।३१।।

भावार्थः- न वह पुरुष है न वह नारी, न सन्यासी है-न ब्रह्मचारी है। उसमें लक्ष्य-अलक्ष्य कुछ भी नहीं है न उसमें वाच्य अवाच्य ही बन सकता है।।३१।।

सब कछु है अरु कुछ भी नाहीं। तन बिकार कछु परसत नाहीं।
नहि वह हलका नहि वह भारी। ना कुछ मधुर नहीं कछु खारी।।३२।।

भावार्थः- सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। तन विकार उसे स्पर्श नहीं कर सकता। न वह हलका है-न भारी, न वह खारी है न कुछ मीठा।।३२।।

रूप रंग जामें कुछ नाहीं। ऐसा आतम सब के मांहीं।।
सम रस रहे गगन की नाईं। काल कर्म की पड़े न छाईं।।३३

भावार्थः- उसमें रूप रंग कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का आत्मा सब के अंदर

है, आकाश सरीखा एक रस रहता है। जिस पर काल और कर्म की कुछ भी छाया नहीं पड़ती है।।३३।।

सदा-अक्रिय निरभय देवा। कहा करै को तिसकी सेवा।
ना कछु मौन नहीं कुछ बोले। ना कहिं स्थिर ना कहिं डोले।।३४।।

भावार्थः- वह देवता सदा अक्रिय और निर्भय है, उसकी सेवा किस प्रकार बन सकती है। न वह मौन है-न वह बोलता है। न वह कहीं स्थिर है- न वह कहीं फिरता है।।३४।।

निश्चल सदा अक्रिय देवा। बिन सत्गुरु नहिं पावे भेवा।
नहिं परिच्छेद तासु में कोई। देश काल वस्तु नहिं होई।।३५।।

भावार्थः- वह अक्रिय देव सदा निश्चल है। उसका रहस्य बिना सद्गुरु के नहीं मिलता। उसमें कोई परिच्छेद-भिन्नता नहीं है। न उसमें देश, काल, वस्तु ही ' सकती है।।३५।।

सन्ध्या आरती की लिखी चौपाई। जग को मिथ्या कहे जनाई।
आतम ब्रह्मरूप करि भासे। सत्चित आनन्द एक परकाशे।।३६।।

भावार्थ - इस सन्ध्या आरती की चौपाइयाँ लिखकर जगत् को मिथ्या जताया है। ऐसा अनुभव सिद्ध होने पर आत्म ब्रह्मरूप भासता है, वह सत्, चित्, आनन्द एक और प्रकाशनमान् है।।३६।।

और

जैसे गुन में भासत भोगी। त्यों आतम में जग प्रति योगी।
शुक्ती में रूपा भ्रम होई। त्यों आतम में जग है सोई।।३७।।

भावार्थ - (किस प्रकार भासता है सो गुरुदेव शिष्य के प्रति कहते है - हे शिष्य!) जैसे गुणों में भोग भासमान होता है। उसी प्रकार आत्मा में योगियों को जगत् मिथ्या भासता है। जैसे सीपी में चाँदी इसी प्रकार आत्मा में मिथ्या जगत् भासता है - (इस दृष्टांत के अतिरिक्त और दृष्टांत भी देते हैं) ।।३७।।

स्थाणु महि पुरुष कहें जैसे। रवि किरनन में नीर कहे तैसे।
आकाश मांहि ज्यों गंधर्व गामा। यों आतम में जग अभिरामा।।

भावार्थ - जिस प्रकार रवि किरणों में जल रहता है, उसी प्रकार स्थाणु-प्रकृति में पुरुष रहता है। जिस प्रकार आकाश में गन्धर्व नगर दीखता हैं वैसे ही आत्मा में जगत् भासमान होता है।।३८।।

मिरची में तीक्षणता जैसे। जल के माहिं क्षारता तैसे।।
फूलन माहिं गंध जिमि होई। आतम में ऐसे जग सोई।।३९।।

भावार्थ - जिस प्रकार मिर्ची में तीक्ष्णता है, जल में खारीपन है, पुष्पों में गंध है, उसी प्रकार आत्मा में जगत् दिखाई देता है।।३९।।

हे शिष्य! कहां तक कहा जावे, सार यही है कि -

दोहा - सभी भरम कर भासता, करता किरिया कर्म।
आत्मा सदा असंग है, कोई जानत बिरला मर्म।।

भावार्थ - कर्ता, क्रिया, कर्म-सब भ्रम से दिखाई देते हैं वास्तव में आत्मा सदा असंग है। परन्तु इस मर्म को कोई बिरला ही जानता है।

छन्द - सत्गुरु बिना नहिं भेद पावे, कहत वेद पुकार के।
लाचार नहिंचारा चला, हम चारों बैठे हारि के।।१।।

भावार्थ - साधारण प्राणी की तो क्या गति, स्वयं वेद पुकार-पुकार कर कहते है कि - सद्गुरु के बिना कोई भेद पा नहीं सकता। हम चारों (वेद) हार कर बैठ गये-लाचार हैं, कोई वश नहीं चलता ।

छन्द - षट मान जेती सिमरती, वस्तु अनातम को कहे।
कौन शक्ती तासु की, जो आत्मा को वह लहे।।२।।

भावार्थ - वेद के अतिरिक्त षट् शास्त्र और जितनी भी स्मृतियाँ हैं वह सब अनात्म वस्तुओं का ही वर्णन करती हैं। परन्तु-यह किसकी शक्ति-ताकत-जो उस आत्मा को प्राप्त कर सके।।२।।

छन्द - निरवेव-चेतन शुद्ध निरमल। एक दो की गम नहीं।।
ऐसे शब्द करके वेद कहता। और कछु जाने नहीं।।३।।

भावार्थ - आत्मा निरवयव है, चैतन्यस्वरूप, शुद्ध, निर्मल है। उसमें अद्वैत, द्वैत की गम-गुजर नहीं। वेद भी इन्हीं शब्दों में कहता है कि - इससे ज्यादा हम कुछ नहीं जानते।।३।।

छन्द - दैशिक कही यह शिष्य को। तुहि ब्रह्म व्यापक रूप है।।
जो समझता इस रमज को। पड़ता नहीं भव कूप है।।४।।

भावार्थ - सद्‌गुरु शिष्य को कहते हैं कि हे शिष्य! "वह व्यापक ब्रह्म तू है" जिसका कि वर्णन ऊपर हुआ है। जो इस रहस्य को समझता है, वह फिर इस ंमार रूपी कुवे में नहीं पड़ता।।४।।

छन्द - मत खाय भटका भरम में। तुही आप चेतन है सही।।
टुक समझ अपने जेहन में। यह बात हम तोसों कही।।५।।

भावार्थ - हे शिष्य! भ्रम में पड़ के भटके मत खा सच-मुच तू स्वयं चेतन है। जो बात हमने तुझसे कही है, इसको जरा अपने जहन में जमा।।५।।

छन्द - तत्त्वमसि आदि महावाक्य। कीजे ताहि विचार को।।
मत फंसे किरिया कीच में। सब छांड़ि जग आचार को।।३६।।

भावार्थ - "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य है, उनका विचारकर, क्रिया कर्म के कीच में मत फँस, (अन्तःकरण से) जगत के रूढ़ाचारों का त्याग कर!।।६।।

छन्द - यह पढ़े संध्या आरती। चारो पदारथ जो लहै।।

जो धारे इसके अर्थ को। फिर बात उसकी को कहे।।७।।

भावार्थ - इस सन्ध्या आरती को जो पढ़ता है वह चारों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पदार्थ प्राप्त कर सकता है। जो इसके अर्थ को धारण करता है, फिर उसकी तो बात ही कौन कह सकता है।।७।।

छन्द - चाहे अमोलक रतन को। बैठे गुप्त दरियाव में।।
यह वक्त बीता जात है। फिर रोउगे इस दाव में।।७

भावार्थ - जो अमूल्य रत्न को चाहता है वह इस गुप्त सागर में बैठे। यह समय बीता जा रहा है, इस अवसर (मनुष्य जन्म) को चूकोगे तो फिर रोवोगे।।८।।

दोहा - तम नाशत परकाश तें। कहों तोहिं समुझाय।।
और न काहू से नशे। चहें लाखों करो उपाय।।

भावार्थ - हे शिष्य ! तुझे समझा दिया कि "अंधकार प्रकाश से ही दूर होता है, और किसी से नहीं, भले ही लाखों उपाय करो"।

दोहा - अज्ञान विरोधी ज्ञान है। लीजे बात विचार।
नाश न होवे और ते। चाहें धारो वृत्त हजार।।

भावार्थ - इस बात को विचार लो कि अज्ञान का विरोधी केवल ज्ञान ही है, उसी का (अर्थात अज्ञान का) नाश अन्य किसी से नहीं हो सकता है, चाहे हजारों प्रकार के व्रत क्यों न किये जाँय।

दोहा - कीट भिरंगी होत है, पुनः पुनः अभ्यास।
सुनि भ्रंगा के शब्द को, भ्रंग होय उड़ जात।।

भावार्थ - सतत अभ्यास के कारण कीड़ा भी भ्रमर रूप हो जाता है, और अन्त में भ्रमर के शब्द सुन भ्रमर बन उड़ जाता है।

ॐ तत्सत्

।। शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

ॐतत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।

(गीता १७-२३)

भावार्थ - "ओम् तत् सत्" यह तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश है। जिसमें कोई वस्तु बतलाई जाय उसका नाम निर्देश है। अतः यह ब्रह्म का तीन प्रकार का नाम है, ऐसा वेदान्त में ब्रह्मज्ञानियों द्वारा माना गया है। पूर्वकाल में इस तीन प्रकार के नाम से ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञ सब रचे गये हैं। यह ब्रह्म के नाम की स्तुति करने के लिए कहा जाता है।

"तस्मादोमित्युदाहृत्य, यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।

(गीता १७-२४)

अर्थात् - इस लिए वेद प्रवचन पाठ करने वाले ब्राह्मणों की शास्त्र विधि से कही हुई यज्ञदान और तपरूप क्रियायें "ओम" ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके ही सर्वदा आरंभ की जाती है।

"तदित्यनभिसंधाय, फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधा, क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।"

(गीता १७-२५)

अर्थात् - 'तत्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके और कर्मों के फलों को न चाह कर, नाना प्रकार के यज्ञ, तप और दानरूप क्रियायें अर्थात् - भूमि, सोना आदि का दान करना रूप क्रियायें मोक्ष को चाहने वाले मुमुक्षु पुरुषों द्वारा की जाती है।

''सद्भावे साधुभावे च सदित्ये तत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थयुज्यते''।।

(गीता)

अर्थात् - अविद्यमान वस्तु के सद्भाव में यानी जैसे सविद्यमान पुत्रादि के उत्पन्न होने में, तथा साधुभाव में अर्थात् बुरे आचरणों वाले असाधु पुरुष का जो सदाचार युक्त हो जाना है उसमें, 'सत्' ऐसे इस ब्रह्म के नाम का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् वहाँ 'सत्' शब्द कहा जाता है। तथा हे पार्थ! विवाह आदि मांगलिक कर्मों में 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है, अर्थात् उनमें भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

''यज्ञे तपसि दानेच स्थितिः सदितिचोच्यते।
कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते''।।

(गीता १७-२७)

अर्थात् - जो यज्ञकर्म में स्थिति है, जो तप में स्थिति है और जो दान में स्थिति है - वह भी 'सत्' है, ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता है, तथा उन यज्ञादि के लिये जो कर्म है, अथवा जिसके तीन नामों का प्रकरण चल रहा है, उस ईश्वर के लिये जो कर्म है, वह भी 'सत्' है यही कहा जाता है। इस प्रकार किये हुए यज्ञ और तप आदि कर्म, यदि असात्विक और विगुण भी हो तो भी श्रद्धापूर्वक परमात्मा के तीनों नामों के प्रयोग से सगुण और सात्त्विक बना लिये जाते है।।

(श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भावार्थ - हे प्रणवरूप परमात्मा!

व्यक्ति में शान्तिकर, जनता में शान्तिकर, संपूर्ण जगत् में शान्तिकर। हे प्रभो! आधिभौतिक दुःखों की शान्ति! अध्यात्मिक दुःखों की शान्ति कर। आधि दैविक दुःखों की शान्ति कर!........ ॐ तत्सत्

गुरु पूर्णिमा ९३
शुक्रवार २३-७-३७

ॐ

धार्मिक - सूचना

१. हे गृहस्थो! साधू सन्यासियों की तन-मन-धन से सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है।

२. संत वृद्ध हो, रोगी हो अथवा कारण विशेष होने पर, प्रेम से स्नान कराना, वस्त्रादि धोना, पादचंपी करना भार उठाना, 'शारीरिक' सेवा है।

३. सन्त के प्रति कुभाव न करना, उनके दिये उपदेश को धारण करना, ग्लानि न लाना, 'मन' की सेवा है।

४. घर पर आये हुये किसी भी सन्त को भूखा प्यासा न जाने देना। आप भूखा प्यासा रह जावे पर सन्त को विमुख न जाने देवे। यदि सन्त को व्याधि हो, अथवा न आ सकते हों, तो उनके स्थान पर भोजनादि पहुंचाना, औषधि उपचार में खर्च करना, आवश्यक वस्त्र पुस्तकादि लोकर देना, तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जो निकट हो स्ववाहन द्वारा अथवा किराया भी देकर पहुँचवा देना यह 'धन की सेवा' है।

५. यदि धर्म लाभ न कर सको तो न सही पर कम से कम अधर्म तो मत कमाना। अधर्म यह है -

(अ) किसी आत्मा को शारीरिक कष्ट पहुँचाना, स्थान को नष्ट भ्रष्ट करना, 'शारीरिक अधर्म' है।

(ब) कुचेष्टा करना, निन्दा करना, कुभाव फैलाना 'मन का अधर्म' है।

(स) सूाध सन्यासियों को 'कनक कान्ता का त्याग' धर्म-शास्त्रो में लिखा है। अतः उन्हें इन दो बातों से बचाना अपना कर्तव्य है। कदाचित् अपनी परीक्षा लेने के निमित्त अथवा प्रमादवश कोई ऐसी याचना करे भी तो हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर दो कि महात्मा! इसके लिये क्षमा चाहते हैं।

(द) महापुरुषों के पास जाकर तुम भी उनसे वही वस्तु लेने की इच्छा करना जिसमें तुम्हारा श्रेय होवे, वास्तविक कल्याण होवे, क्योंकि यदि तुम उनसे 'हेय' वस्तु मांगने जाओगे तो वे तुम्हे अनधिकारी (क्षुद्र ग्राहक) जानकर कहीं विचर जावेंगे, और तुम हाथ मलते ही रह जाओगे। फिर कौन जाने मौका हाथ लगे या न लगे। सत्य ही कहा है किः-

सन्त-समागम हरि कथा, तुलसी दुर्लभ दोय।
सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।।१।।

(और भी सुनो)

तुलसी जग में आयके, कर लीजै द्वै काम।
देवे को टुकड़ा भला, लेवे को हरि नाम।।२।।

KNOW THYSELF

(अर्थात्)

"स्व स्वरूप को जान"

तत्सत्

ॐ

श्रीनित्यानन्दाय नमः

जीवन सिद्धान्त

दोहा

महादेव सति दत्त-गुरु, महावीर गण-राय।
कच्छप नन्दीगण निगुण, रुच रुच मंगल गाय।।१।।

लेख अलेख लखे नहीं, लखता लेख अलेख।
लेख अंध है अफुर है, कर विवेक तूं देख।।२।।

स्वयं विवेकी पुरुषतूं, देखे तुझको कौन?
आप आप को देख तूं, अनायास होय मौन।।३।।

जीव नहीं तूं ब्रह्म है, ब्रह्म नहीं तूं जीव।
जीव ब्रह्म दोनों नहीं, साक्षी तूं निज शिव।।४।।

कल्पित लेख अलेख दोउ, श्री गुरु दीन दयाल।
बोध कियो सुन कर भलो, नाश्यो तम तत्काल।।५।।

शिष्य-शंका

बहुरि भयो भ्रम मोर मति, दीनबन्धु भगवान्।
गुरु-गम, गम पड़ना कठिन, कहते सन्त सुजान।।६।।

लेख अलेख अनित्य नित, भाखे श्री मुख बैन।
याते भ्रम मति में भयो, क्लेश रहत दिन रैन।।७।।

शीघ्रहि कीजै शान्ति अब, शिष्य आपको जान।
क्लेश चित-चिन्ता हरो, दो निज ज्ञान विज्ञान।।८।।

गुरु-उत्तर

तीन लोक के नाथ को, करा सके को ज्ञान।
हम-तुम दफ्तर गुम्म है, तुम हम हम-तुम जान।।९।।

लेख प्रत्यक्ष दिखावते, सम्मुख पुरुष अलेख।
पुतरो नहिं तू मांस की, कर विवेक फिर देख।।१०।।

जड़ चैतन हैं विषम सम, करें विपश्चित बोध।
सम्यक् ज्ञान-विज्ञान से, होय निरन्तर मोद।।११।।

गुरु का प्रेमी भक्त बन, हो मन से निरमेल।
हँस हँस के फिर कीजिये, गुर घर की गुरु-सेल।।

ॐ तत्सत्

(२२.७.३७ गुरुवार)

समाधि मंदिर पू. श्री जयनारायणजी बापजी श्री, धौंसवास